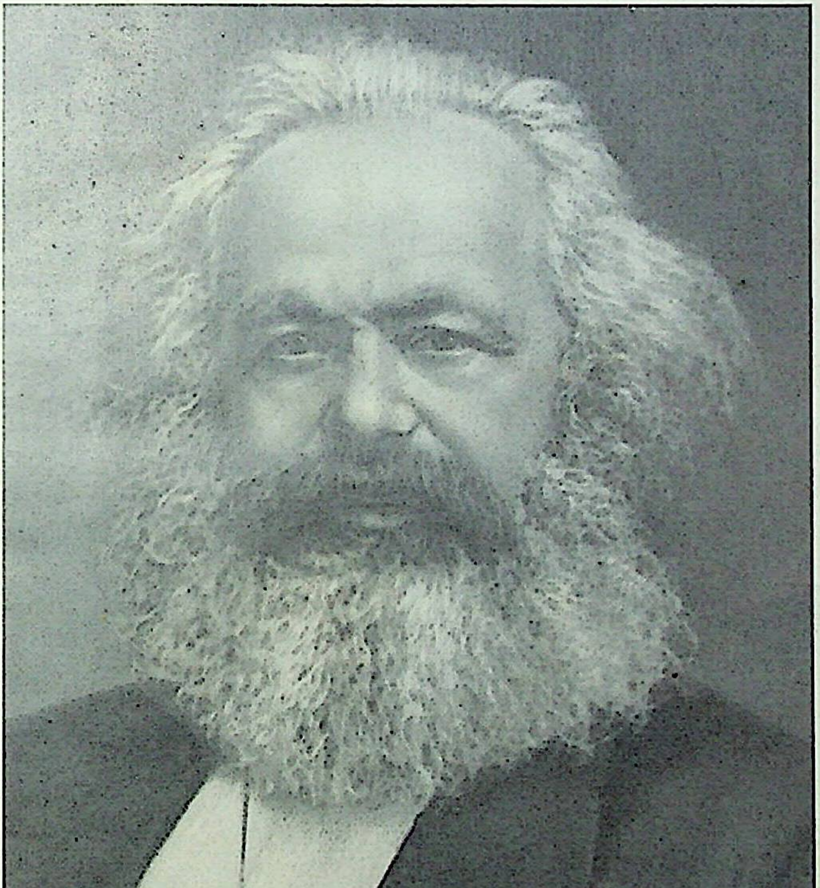
मार्क्स
एंगेल्स





कार्ल मार्क्स
फ़्रेडरिक एंगेल्स

संकलित रचनाएं

(चार भागों में)

भाग १

प्रगति प्रकाशन • मास्को

К. Маркс и Ф. Энгельс

ИЗБРАННЫЕ ПРОИЗВЕДЕНИЯ

Часть 1

На языке хинди

विषय-सूची

प्रकाशकों की ओर से

कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स की शिक्षा मानव प्रतिभा की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। मार्क्सवाद सर्वहारा वर्ग की विचारधारा है, उसके हितों की वैज्ञानिक अवधारणा और राष्ट्रीय मुक्ति, शांति तथा समाजवाद के लिये मेहनतकश जनता के संघर्ष में उसका एक बौद्धिक अस्त्र है।

वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के महान् संस्थापकों ने विज्ञान में, समाजवादी सिद्धांत में सच्ची क्रांति संपन्न की। उन्होंने सामाजिक विकास के वस्तुनिष्ठ नियमों का पता लगाया और यह प्रमाणित कर दिया कि अंततः पूंजीवाद का पतन तथा समाजवादी व्यवस्था की विजय अवश्यंभावी है। पूंजीवादी समाज का उन्मूलन तथा समाज व्यवस्था का दूरव्यापी क्रांतिकारी पुनर्निर्माण, स्वतंत्रता, समता, भाईचारे, शान्ति और श्रम के सिद्धांतों पर आधारित एक नये समाज का निर्माण – इन महान् लक्ष्यों की सिद्धि ही सर्वहारा वर्ग का ऐतिहासिक मिशन है, जिसे वह मेहनतकश जनता, किसानों और समाज की सभी प्रगतिशील श्रेणियों के समर्थन से तथा उनके हित में पूरा करेगा।

समाजवादी क्रांति उपनिवेशी तथा नस्ली उत्पीड़न के सभी रूपों को हमेशा के लिये मिटा देगी। मार्क्स और एंगेल्स की शिक्षा के अनुसार राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन विश्व क्रांतिकारी प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है।

मार्क्सवाद के संस्थापकों ने इस बात का पूर्वानुमान किया था कि पिछड़े हुए देशों के लिये अधिक विकसित देशों में विजयी मज़दूर वर्ग की सहायता से ग़ैर-पूंजीवादी रास्ते से विकास करना संभव होगा।

मार्क्स और एंगेल्स ने सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी संघर्ष की रणनीति और कार्यनीति का विकास किया और यह सिद्धान्त स्थापित किया कि मज़दूर वर्ग की स्वतंत्र राजनीतिक पार्टी ज़रूरी है, क्योंकि उसके बिना पूंजीवाद का तख़्ता उलटा नहीं जा सकता।

मार्क्स और एंगेल्स की शिक्षा नये ऐतिहासिक अनुभव के सामान्यीकरण द्वारा निरंतर समृद्ध की जाती रही है। मार्क्स और एंगेल्स के प्रतिभावान्

शिष्य और उनके ध्येय को उत्तराधिकार स्वरूप ग्रहण करनेवाले व्ला० इ० लेनिन ने मार्क्सवादी सिद्धान्त को अपने प्रबल योगदान द्वारा और भी समृद्ध किया।

इतिहास के सभी युगों ने मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन के सदा प्राणवान् तथा सतत् विकासशील सिद्धान्त की पुष्टि में नये प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

जैसा कि सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के उदाहरण से, समूचे संसार में मेहनतकश जनता के स्वातंत्र्य-संघर्ष के उदाहरण से तथा उपनिवेशी ग़ुलामी का जुआ उतार फेंकनेवाले जनों के अनुभव से प्रत्यक्ष हो गया है, सामाजिक प्रगति के लिये तथा नये और न्यायपूर्ण रूप में संसार के पुनर्निर्माण के लिये संघर्ष में मार्क्सवाद एक अमोघ अस्त्र है।

प्रस्तुत संकलन में मार्क्स और एंगेल्स की सबसे महत्त्वपूर्ण कृतियां और उनकी चिट्ठी-पत्री दी गयी हैं, जिनमें उनकी महान् क्रांतिकारी शिक्षा के संघटक अंगों – मार्क्सवादी दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र, वैज्ञानिक कम्युनिज़्म का सिद्धान्त तथा सर्वहारा वर्ग-संघर्ष की रणनीति और कार्यनीति – का निरूपण किया गया है।

कुछ आधारभूत कृतियों ('पूंजी', 'प्रकृति की द्वंद्वात्मक गति' आदि) के उद्धरण किये गये हैं।

भूमिका के स्थान पर प्रकाशकों ने व्ला० इ० लेनिन के लेख 'कार्ल मार्क्स' का एक भाग तथा उनके लेख 'फ़्रेडरिक एंगेल्स' और 'मार्क्सवाद के तीन स्रोत तथा तीन संघटक अंग' देने का निश्चय किया है।

इन लेखों में व्ला० इ० लेनिन ने समग्र रूप में मार्क्सवाद का तथा मार्क्सवाद के संघटक अंगों का भी क्लासिकीय वर्णन किया है, और मार्क्स और एंगेल्स के विचारों के विकासक्रम को भी प्रत्यक्ष किया है। लेनिन ने मज़दूर वर्ग के महान् शिक्षकों की जीवनियों का भी एक ख़ाका दिया और मार्क्सवाद के सृजन तथा विकास और विश्व सर्वहारा के मुक्ति-संघर्ष के पथ-प्रदर्शन में प्रत्येक के योगदान का भी चित्र दिया।

संकलन की सामग्री मूलतः कालक्रम के अनुसार दी गयी है, परन्तु लेखकों के प्राक्कथन संबंधित रचनाओं के साथ ही दिये गये हैं, चाहे उनका लेखन-काल कुछ भी रहा हो। मार्क्स और एंगेल्स के पत्र संकलन का एक विशेष भाग हैं।

संकलन के साथ संदर्भ-सामग्री – टिप्पणियां और नाम तथा विषय निर्देशिकायें – भी दी गयी हैं।

व्ला० इ० लेनिन

कार्ल मार्क्स

संक्षिप्त जीवनी, मार्क्सवाद के प्रतिपादन सहित
(उद्धरण)

कार्ल मार्क्स का जन्म ५ मई, १८१८ को त्रियेर नगर (प्रशा के राइन प्रान्त) में हुआ था। उनके पिता एक वकील, यहूदी, थे जिन्होंने १८२४ में प्रोटेस्टेंट मत अंगीकार किया था। यह परिवार समृद्ध और सुसंस्कृत था, परंतु क्रांतिकारी नहीं था। त्रीर के हाई स्कूल में शिक्षा पाने के बाद, मार्क्स पहले बोन, फिर बर्लिन विश्वविद्यालय में भर्ती हुए। वहां उन्होंने क़ानून पढ़ा और विशेष रूप से इतिहास और दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। १८४१ में एपीक्यूरस के दर्शनशास्त्र पर अपनी थीसिस प्रस्तुत करके उन्होंने विश्वविद्यालय की शिक्षा पूर्ण की। इस समय तक मार्क्स हेगेल के भाववाद को माननेवालों में से थे। बर्लिन में वह ब्रूनो बावेर आदि "वामपंथी हेगेलवादियों" में से थे, जो हेगेल के दर्शन से अनीश्वरवादी और क्रान्तिकारी निष्कर्ष निकालना चाहते थे।

विश्वविद्यालय से डिग्री लेने के बाद मार्क्स प्रोफ़ेसर बनने की आशा से बोन चले गये। परन्तु सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति ने, जिसके फलस्वरूप १८३२ में लुडविग फ़ायरबाख़ को प्रोफ़ेसरी से अलग किया गया था, १८३६ में उनके विश्वविद्यालय में वापस आ जाने पर रोक लगायी गयी थी, और १८४१ में नवयुवक प्रोफ़ेसर ब्रूनो बावेर को बोन में अध्यापन-कार्य करने से रोका गया था, मार्क्स को शैक्षिक वृत्ति का विचार तजने के लिये बाध्य किया। इस समय जर्मनी में वामपंथी हेगेलवाद के विचार और पकड़ रहे

थे। लुडविग फ़ायरवाख़ विशेष रूप से १८३६ के वाद धर्मदर्शन की ग्रालोचना करने लगे थे ग्रौर भौतिकवाद की ग्रोर रुख़ कर रहे थे। १८४१ तक उनके दार्शनिक विचारों में भौतिकवाद की प्रधानता हो गयी थी ('ईसाई धर्म का सार')। १८४३ में उनकी पुस्तक 'भावी दर्शन के सिद्धान्त' प्रकाशित हुई। फ़ायरबाख़ की इन कृतियों के बारे में एंगेल्स ने वाद में लिखा था– इन पुस्तकों ने जिस "स्वाधीन चेतना को जन्म दिया था, वह एक ग्रनुभव करने की वस्तु थी"। "हम" (मार्क्स समेत वामपंथी हेगेलवादी) "तुरन्त फ़ायरवाख़ के ग्रनुयायी हो गये"*। उस समय राइन प्रान्त के कुछ उग्रवादी पूंजीपतियों ने, जिनका वामपंथी हेगेलवादियों से सम्पर्क था, कोलोन में एक विरोधी पत्र *«Rheinische Zeitung»* ('राइनी समाचारपत्र') निकाला (पहला ग्रंक १ जनवरी १८४२ को निकला था)। मार्क्स ग्रौर ब्रूनो बावेर को इसके प्रमुख मज़मून-निगार वन जाने की दावत दी गयी। ग्रक्तूबर १८४२ में मार्क्स उसके प्रधान सम्पादक हो गये ग्रौर बोन से कोलोन चले ग्राये। मार्क्स के सम्पादन-काल में पत्र का रुझान ग्रधिकाधिक क्रान्तिकारी-जनवादी होता गया, इसलिये सरकार ने पहले-पहल पत्र पर दोहरी ग्रौर तेहरी सेन्सरी बिठायी; फिर १ जनवरी १८४३ से उसे एकदम वन्द ही कर देने का निश्चय कर लिया। मार्क्स को उस तिथि से पहले ही ग्रपना सम्पादन छोड़ना पड़ा। परन्तु उनके ग्रलग होने से भी पत्र वच नहीं सका। मार्च १८४३ में वह ठप हो गया। *«Rheinische Zeitung»* में प्रकाशित मार्क्स के ग्रधिक महत्त्वपूर्ण लेखों में से एंगेल्स ने–उन लेखों के ग्रतिरिक्त जिनका उल्लेख नीचे किया गया है (देखिये संदर्भ ग्रंथ-सूची **)–एक ग्रौर लेख की चर्चा की है जो मार्क्स ने मोज़ेल घाटी के शराव बनानेवाले किसानों की स्थिति के बारे में लिखा था***। मार्क्स ने पत्रकारिता के ग्रपने ग्रनुभव से जान लिया कि ग्रभी वह राजनीतिक ग्रर्थशास्त्र से भली भांति परिचित नहीं हैं, इसलिये वह उसका ग्रध्ययन करने में जुट गये।

---

*फ़्रे० एंगेल्स, 'लुडविग फ़ायरबाख़ ग्रौर क्लासिकीय जर्मन दर्शन का ग्रंत'।–सं०

**यह संदर्भ ग्रंथ-सूची लेनिन ने इस लेख के साथ दी थी।–सं०

***यहां मार्क्स के जिस लेख की ग्रोर इशारा है उसका शीर्षक है 'मोज़ेल के संवाददाता का छुटकारा'।–सं०

सन् १८४३ में मार्क्स ने क्रेयत्स्नाख़ में जेनी फ़ॉन वेस्टफ़ालेन से विवाह किया। जेनी उनकी बचपन की मित्र थीं, और मार्क्स जब विद्यार्थी थे, तभी जेनी के साथ उनका वाग्दान हो गया था। जेनी का जन्म प्रशा के अभिजातों के एक प्रतिक्रियावादी परिवार में हुआ था। १८५०–१८५८ के अत्यन्त प्रतिक्रियावादी काल में उनका बड़ा भाई प्रशा का गृहमंत्री रहा था। १८४३ की शरद् में मार्क्स एक उग्रवादी पत्रिका निकालने के उद्देश्य से पेरिस आये। उनके साथ आर्नोल्ड रूगे भी थे (जीवन-काल १८०२–१८८०; वामपंथी हेगेलवादी, १८२५ से १८३० तक जेल में; १८४८ के बाद राजनीतिक उत्प्रवासी; १८६६–१८७० के बाद बिस्मार्क के अनुयायी)। इस पत्रिका का, जिसका नाम *«Deutsch-Französische Jahrbücher»* ('जर्मन-फ़्रांसीसी वार्षिक पत्रिका') था, केवल एक ही अंक प्रकाशित हुआ। जर्मनी में गुप्त वितरण की कठिनाइयों और रूगे से मतभेद होने के कारण उसे बन्द कर देना पड़ा। इस पत्रिका में प्रकाशित अपने लेखों में मार्क्स अभी से क्रांतिकारी दिखायी देते हैं। वह "समस्त वर्तमान वास्तविकता की निर्मम आलोचना", विशेषकर "शस्त्रों द्वारा 'आलोचना'", की घोषणा करते हैं और जनता और सर्वहारा वर्ग से अपील करते हैं।

सितम्बर १८४४ में फ़्रेडरिक एंगेल्स कुछ दिनों के लिये पेरिस आये और तब से मार्क्स के घनिष्ठतम मित्र हो गये। पेरिस के क्रांतिकारी दलों के उबलते जीवन में दोनों ने सक्रिय भाग लिया (उस समय प्रूदों के मत का विशेष महत्त्व था जिसकी मार्क्स ने १८४७ में 'दर्शनशास्त्र की दरिद्रता' नाम की अपनी पुस्तक में बखिया उधेड़ दी)। निम्न-पूंजीवादी समाजवाद के विभिन्न सिद्धान्तों से डटकर संघर्ष करते हुए उन्होंने क्रांतिकारी सर्वहारा समाजवाद या कम्युनिज़्म (मार्क्सवाद) के सिद्धान्त और कार्यनीति की रूपरेखा निश्चित की। १८४५ में प्रशा की सरकार के प्रबल आग्रह पर मार्क्स को एक ख़तरनाक क्रान्तिकारी क़रार देकर पेरिस से निर्वासित कर दिया गया। पेरिस से वह ब्रसेल्स आ गये। १८४७ के वसन्त में मार्क्स और एंगेल्स एक गुप्त प्रचार-सभा 'कम्युनिस्ट लीग' के सदस्य हो गये। उसकी दूसरी कांग्रेस (लन्दन, नवम्बर १८४७) में उन्होंने प्रमुख भाग लिया, और कांग्रेस के निर्देश पर उन्होंने अपना प्रसिद्ध 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' तैयार किया, जो फ़रवरी १८४८ में प्रकाशित हुआ। इस रचना में प्रतिभाशाली स्पष्टता और भव्यता के साथ एक नया विश्व-दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है:

सुसंगत भौतिकवाद जिसके दायरे में सामाजिक जीवन का क्षेत्र भी आ जाता है; विकास के सर्वांगीण और गहनतम सिद्धान्त के रूप में द्वंद्ववाद; वर्ग-संघर्ष का और एक नये, कम्युनिस्ट समाज के सृजनकर्त्ता, सर्वहारा वर्ग की विश्व-ऐतिहासिक क्रांतिकारी भूमिका का सिद्धान्त।

जब फ़रवरी १८४८ की क्रान्ति भड़क उठी, तब मार्क्स बेलजियम से निर्वासित कर दिये गये। वह पेरिस लौट आये और मार्च की क्रान्ति के बाद वहां से कोलोन, जर्मनी, चले गये। १ जून १८४८ से १९ मई १८४९ तक कोलोन में, «*Neue Rheinische Zeitung*» ('नया राइनी समाचारपत्र') निकलता रहा जिसके प्रधान सम्पादक मार्क्स थे। १८४८—१८४९ के क्रांतिकारी घटनाक्रम से नये सिद्धान्त की जोरदार पुष्टि हुई जैसे कि बाद में भी संसार के सभी देशों के सर्वहारा और जनवादी आंदोलनों से उसकी पुष्टि हुई है। विजयी प्रतिक्रान्तिकारियों के उकसावे पर मार्क्स पर पहले मुक़दमा चलाया गया (९ फ़रवरी १८४९ को वह बरी कर दिये गये) और फिर १६ मई १८४९ को उन्हें जर्मनी से देशनिकाला दे दिया गया। वह पहले पेरिस गये, जहां से १३ जून १८४९ के जुलूस के बाद वह फिर निर्वासित कर दिये गये। इसके बाद वह लन्दन चले गये और वहीं उन्होंने जीवन के शेष दिन विताये।

जैसा कि मार्क्स और एंगेल्स के पत्र-व्यवहार (१९१३ में प्रकाशित) से साफ़ पता चलता है, मार्क्स का प्रवासी जीवन अत्यन्त कठोर था। मार्क्स और उनके परिवार को दुःसह निर्धनता का सामना करना पड़ा। एंगेल्स ने सदा निःस्वार्थ भाव से मार्क्स की आर्थिक सहायता न की होती, तो न केवल मार्क्स 'पूंजी' को ही पूरा न कर पाते, वरन् अभावग्रस्त होकर वह निश्चय ही मर मिटते। इसके अलावा निम्न-पूंजीवादी समाजवाद और सामान्यतः ग़ैर-सर्वहारा समाजवाद के प्रचलित सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों ने मार्क्स को निरन्तर ही निर्ममता से लड़ते रहने के लिये बाध्य किया। कभी-कभी उन्हें बर्बर और वीभत्स व्यक्तिगत आक्षेपों का उत्तर देना पड़ता था («*Herr Vogt*»)। प्रवासी राजनीतिक हलक़ों से दूर रहते हुए, मार्क्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्ययन को अपना अधिकांश समय देते हुए, कई ऐतिहासिक कृतियों में अपने भौतिकवादी सिद्धान्त को विकसित किया। 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास' (१८५९) और 'पूंजी' (खंड १, १८६७) में मार्क्स ने इस विज्ञान को क्रान्तिकारी रूप प्रदान किया।

छठे दशक के अन्तिम वर्षों तथा सातवें दशक में जनवादी आन्दोलनों की लहर फिर उठने लगी, इससे मार्क्स फिर राजनीतिक कार्यक्षेत्र में उतर पड़े। २८ सितम्बर १८६४ को 'अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ'—प्रसिद्ध पहले इंटरनेशनल—की लन्दन में नींव डाली गयी। मार्क्स इस संगठन के प्राण थे। वह ही उसकी पहली 'चिट्ठी'* के और ढेरों प्रस्तावों, वक्तव्यों तथा घोषणापत्रों के लेखक थे। विभिन्न देशों के मज़दूर आंदोलनों को एकताबद्ध करते हुए, ग़ैर-सर्वहारा, मार्क्सवाद से पहले के समाजवाद के विभिन्न रूपों को (माज़्ज़िनी, प्रूदों, बकूनिन, इंगलैंड में उदारतावादी ट्रेड-यूनियन आंदोलन, जर्मनी में लासाल का दक्षिणपंथी ढुलमुलपन) एक संयुक्त मोर्चे में लाने की कोशिश करते हुए, इन सभी मतों और शाखाओं के सिद्धान्तों से संघर्ष करते हुए मार्क्स ने विभिन्न देशों में मज़दूर वर्ग के सर्वहारा संघर्ष की एक ही कार्यनीति निश्चित की। पेरिस कम्यून के पतन (१८७१) के—जिसका विश्लेषण मार्क्स ने ('फ़्रांस में गृह-युद्ध', १८७१) मर्मभेदी दृष्टि से, बड़ी स्पष्टता और अद्‌भुत सूझबूझ के साथ और अत्यन्त प्रभावशाली और क्रांतिकारी ढंग से किया था—और बकूनिनवादियों द्वारा इंटरनेशनल में फूट डाल दिये जाने के बाद इस संगठन का यूरोप में अस्तित्व असम्भव हो गया। इंटरनेशनल की हेग कांग्रेस (१८७२) के बाद मार्क्स के आग्रह पर उसकी जनरल कौंसिल को न्यूयार्क ले जाया गया। पहले इंटरनेशनल ने अपना ऐतिहासिक कार्य पूरा कर दिया। उसके बाद एक ऐसा युग आया जिसमें संसार के सभी देशों में मज़दूर आन्दोलन का पहले से कहीं ज्यादा विकास हुआ, जिसमें आंदोलन का प्रसार हुआ, उसकी परिधि विस्तृत हुई और अलग-अलग जातीय राज्यों में आम समाजवादी मज़दूर पार्टियां बनीं।

इंटरनेशनल के लिये घोर परिश्रम करने से और उससे भी ज्यादा अपने कठिन सैद्धान्तिक कार्यों में परिश्रम करने के कारण मार्क्स का स्वास्थ्य गिर गया था। वह राजनीतिक अर्थशास्त्र को नया रूप देने और 'पूंजी' को समाप्त करने के अपने काम में लगे रहे; इसके लिये उन्होंने बहुत सी नयी सामग्री एकत्रित की और कई भाषाएं (उदाहरण के लिये रूसी) सीखीं, परन्तु अस्वस्थ रहने के कारण वह 'पूंजी' को पूरा न कर सके।

---

* कार्ल मार्क्स, 'अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ की नियमावली की घोषणा'।—सं०

२ दिसम्बर १८८१ को उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। १४ मार्च १८८३ को आरामकुर्सी पर बैठे-बैठे मार्क्स ने भी सदा के लिये आंखें मूंद लीं। वह लन्दन की हाइगेट सेमेट्री में अपनी पत्नी की क़ब्र की बग़ल में दफ़नाये गये। मार्क्स के बच्चों में से कुछ उनकी भयानक ग़रीबी की हालत में बचपन में ही लन्दन में मर गये। उनकी तीन बेटियों ने अंग्रेज़ी और फ़्रांसीसी समाजवादियों से शादी की। इन बेटियों के नाम हैं: एल्योनोरा एवेलिंग, लौरा लफ़ार्ग, जेनी लॉन्गे। जेनी लॉन्गे का बेटा फ़्रांसीसी समाजवादी पार्टी का सदस्य हैं।

जुलाई-नवम्बर, १९१४

व्ला० इ० लेनिन

फ़्रेडरिक एंगेल्स

कैसा अद्‌भुत बुद्धिदीप जो निर्वापित है!
कैसा अद्‌भुत हृदय, नहीं जो अब स्पन्दित है!

५ अगस्त, १८९५ को लन्दन में फ़्रेडरिक एंगेल्स का देहांत हुआ। अपने मित्र कार्ल मार्क्स (जिनका देहांत १८८३ में हुआ था) के बाद एंगेल्स ही समूचे सभ्य संसार के आधुनिक सर्वहारा के सबसे विख्यात पंडित और शिक्षक थे। जब से भाग्य ने कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स को एक सूत्र में बांध दिया तब से ही इन दोनों मित्रों का जीवन-कार्य एक ही समान ध्येय को अर्पित हो गया। अतः फ़्रेडरिक एंगेल्स ने सर्वहारा के लिए क्या किया यह समझने के लिए समकालीन मज़दूर आंदोलन के विकास के विषय में मार्क्स की शिक्षा और कार्य के महत्त्व की स्पष्ट धारणा आवश्यक है। सबसे पहले मार्क्स और एंगेल्स ने ही दिखाया कि मज़दूर वर्ग और मज़दूर वर्ग की मांगें वर्तमान अर्थ-व्यवस्था का एक अनिवार्य परिणाम हैं जो पूंजीपति वर्ग के साथ-साथ अनिवार्य रूप से सर्वहारा को जन्म देती है और उसे संगठित करती है। उन्होंने दिखा दिया कि आज मानव-जाति को उसे उत्पीड़ित करनेवाली बुराइयों के चंगुल से मुक्त करने का कार्य कुछ उदारचित्त व्यक्तियों के सदाशयतापूर्ण प्रयत्नों से नहीं, बल्कि संगठित सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष से संपन्न होगा। अपनी वैज्ञानिक रचनाओं में सबसे पहले मार्क्स और एंगेल्स ने ही स्पष्ट किया कि समाजवाद कोई स्वप्नदर्शियों की कल्पना नहीं है, बल्कि आधुनिक समाज की उत्पादक शक्तियों के विकास का चरम लक्ष्य और अनिवार्य परिणाम है। आज तक का समूचा लिखित इतिहास वर्ग-संघर्ष का, किन्हीं सामाजिक वर्गों द्वारा दूसरे वर्गों पर प्रभुत्व और विजय के सिलसिले का इतिहास रहा है। और यह तब तक जारी रहेगा जब तक वर्ग-संघर्ष और

वर्ग-प्रभुत्व की बुनियादों—निजी संपत्ति और सामाजिक उत्पादन की अराजकता—का लोप नहीं हो जायेगा। सर्वहारा के हितों की दृष्टि से इन बुनियादों का नाश होना आवश्यक है और इसलिए संगठित मज़दूरों के सचेतन वर्ग-संघर्ष का रुख़ इनके विरुद्ध मोड़ देना चाहिए। और हर वर्ग-संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष होता है।

मार्क्स और एंगेल्स के ये विचार अब अपनी मुक्ति के लिए संघर्षरत सभी सर्वहाराओं ने अंगीकार कर लिये हैं। पर जब १६ वीं शताब्दी के ५ वें दशक में इन दोनों मित्रों ने अपने समय के समाजवादी साहित्य-सृजन और सामाजिक आंदोलनों में भाग लिया उस समय ये मत पूर्णतया नवीन थे। उस समय बहुत-से ऐसे लोग थे जो राजनीतिक स्वतंत्रता के संघर्ष में, राजा-महाराजाओं, पुलिस और पादरियों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध संघर्ष में इस तरह लीन थे कि वे पूंजीपति वर्ग के हितों और सर्वहारा के हितों के वैपरीत्य को न देख पाये। इनमें प्रतिभाशाली लोग थे और प्रतिभाहीन भी, ईमानदार लोग थे और बेईमान भी। ये लोग इस विचार को ग्रहण करने के लिए तैयार न थे कि मज़दूर एक स्वतंत्र सामाजिक शक्ति के रूप में काम करें। दूसरी ओर, कितने ही ऐसे स्वप्नदर्शी थे, और इनमें से कुछ प्रतिभाशाली भी थे, जो मानते थे कि बस, शासकों और प्रभुत्वसम्पन्न वर्गों को समकालीन समाज-व्यवस्था के अन्यायपूर्ण होने के बारे में विश्वास दिलाने भर की ज़रूरत है, फिर धरती पर शांति और आम ख़ुशहाली की स्थापना करना बायें हाथ का खेल हो जायेगा। वे बिना संघर्ष के समाजवाद के स्वप्न देखा करते थे। अंततः, उस समय के लगभग सभी समाजवादी और मज़दूर वर्ग के मित्र सर्वहारा को समाज का व्रण मानते थे और भयग्रस्त होकर देखते थे कि उद्योग की वृद्धि के साथ-साथ यह व्रण भी कैसे बढ़ता जा रहा था। अतः, वे सब इस बात पर विचार कर रहे थे कि उद्योग का और सर्वहारा का विकास कैसे रोका जाये, "इतिहास का चक्र" कैसे रोका जाये। सर्वहारा के विकास के आम भय में अंशभागी होना तो दूर रहा, उल्टे मार्क्स और एंगेल्स सर्वहारा की अप्रतिहत वृद्धि पर अपनी सारी आस लगाये हुए थे। सर्वहाराओं की संख्या जितनी अधिक होगी, क्रांतिकारी वर्ग के रूप में उनकी शक्ति उतनी ही अधिक होगी और समाजवाद उतना ही समीपतर और संभवतर होगा। मार्क्स और एंगेल्स द्वारा की गयी मज़दूर वर्ग की सेवाओं का वर्णन संक्षेप में इन शब्दों में किया जा सकता है: उन्होंने मज़दूर वर्ग को स्वयं अपने को पहचान

लेने और अपने प्रति सचेत होने की शिक्षा दी, और स्वप्न-दर्शन के स्थान पर विज्ञान की स्थापना की।

इसी लिए हर मज़दूर को एंगेल्स के नाम और जीवन से परिचित होना चाहिए। यही कारण है कि इस लेख-संग्रह में जिसका उद्देश्य हमारे अन्य सभी प्रकाशनों की ही तरह रूसी मज़दूरों के बीच वर्ग-चेतना को जागृत करना है, हम आधुनिक सर्वहारा के दो महान शिक्षकों में से एक, फ़्रेडरिक एंगेल्स के जीवन और कार्य की रूपरेखा प्रस्तुत करना आवश्यक मानते हैं।

एंगेल्स का जन्म १८२० में प्रशा राज्य के राइन प्रान्त में स्थित बार्मेन नगर में हुआ था। उनके पिता कारख़ानेदार थे। पारिवारिक परिस्थितियों के कारण १८३८ में एंगेल्स को स्कूली शिक्षा पूरी किये बिना ही ब्रेमेन की एक व्यापारिक कोठी में क्लर्क की नौकरी करनी पड़ी। पर एंगेल्स की वैज्ञानिक और राजनीतिक शिक्षा जारी ही रही, उसमें व्यापारिक मामले कोई बाधा न डाल सके। जब वह स्कूल में पढ़ रहे थे उसी समय से वह निरंकुश शासन और अधिकारियों के अत्याचारों से घृणा करने लगे थे। दर्शन का अध्ययन उन्हें और आगे ले गया। उन दिनों जर्मन दर्शन पर हेगेल का मत छाया हुआ था और एंगेल्स उनके अनुयायी बन गये। यद्यपि स्वयं हेगेल निरंकुश प्रशियाई राज्य के प्रशंसक थे और बर्लिन विश्वविद्यालय के एक प्रोफ़ेसर के नाते उसकी सेवा कर रहे थे, फिर भी उनका सिद्धांत क्रांतिकारी था। बर्लिन के इस दार्शनिक के जो शिष्य वर्तमान परिस्थिति को स्वीकार करने से इनकार करते थे, उन्हें मनुष्य की तर्कबुद्धि और उसके अधिकारों में हेगेल का विश्वास और हेगेलवादी दर्शन का यह आधारभूत सिद्धान्त कि विश्व परिवर्तन और विकास की एक सतत प्रक्रिया के अधीन है, इस विचार की ओर अग्रसर कर रहा था कि इस परिस्थिति के विरुद्ध संघर्ष की, वर्तमान अन्याय और फैली हुई बुराई के विरुद्ध संघर्ष की जड़ भी अनंत विकास के इस सर्वव्यापी नियम में है। यदि संसार की प्रत्येक वस्तु विकास करती है, यदि एक प्रकार की संस्था की जगह दूसरे प्रकार की संस्था ले लेती है, तो क्या कारण है कि प्रशियाई राजा या रूसी ज़ार की निरंकुशता, विशाल बहुमत को हानि पहुंचाकर नगण्य अल्पमत की समृद्धि या जनता पर पूंजीपति वर्ग का प्रभुत्व सदैव बना रहे? हेगेल के दर्शन ने मन और विचारों के विकास की बात की; यह भाववादी दर्शन था। मन के विकास के परिणाम के रूप में उसने प्रकृति, मनुष्य और मानवीय, सामाजिक संबंधों के विकास को ग्रहण किया।

हेगेल का विकास की अनंत प्रक्रिया* विषयक विचार वनाये रखते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने पूर्वचिंतित भाववादी दृष्टिकोण अस्वीकार किया ; जीवन के तथ्यों की ओर मुड़ते हुए उन्होंने अवलोकन किया कि मन के विकास से प्रकृति का विकास समझा नहीं जा सकता, वल्कि इसके विपरीत मन को प्रकृति द्वारा, भूतद्रव्य द्वारा ही समझा जा सकता है... हेगेल और अन्य हेगेलवादियों के विपरीत मार्क्स और एंगेल्स भौतिकवादी थे। संसार और मानव-जाति को भौतिकवादी दृष्टिकोण से देखते हुए उन्होंने अनुभव किया कि जिस प्रकार प्रकृति के सभी व्यापारों के मूल में भौतिक कारण रहते हैं, उसी प्रकार मानव-समाज का विकास भी भौतिक शक्तियों, उत्पादक शक्तियों के विकास द्वारा निर्धारित होता है। मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपेक्षित वस्तुओं के उत्पादन में मनुष्य मनुष्य के वीच जो परस्पर संवंध स्थापित होते हैं वे उत्पादक शक्तियों के विकास पर ही निर्भर करते हैं। और इन संवंधों में ही सामाजिक जीवन के सभी व्यापारों, मानवीय आकांक्षाओं, विचारों और नियमों की व्याख्या निहित होती है। उत्पादक शक्तियों का विकास निजी संपत्ति पर आधारित सामाजिक संवंधों को जन्म देता है, पर अव हम जानते हैं कि उत्पादक शक्तियों का यही विकास वहुमत को उसकी संपत्ति से वंचित कर देता है और उसे नगण्य अल्पमत के हाथों में केंद्रित कर देता है। वह संपत्ति को, अर्थात् आधुनिक सामाजिक व्यवस्था के आधार को नष्ट कर देता है, वह स्वयं ही उसी लक्ष्य की ओर वढ़ता है जिसे समाजवादी अपने सामने रखे हुए हैं। समाजवादियों को वस यही करना रह जाता है कि वे यह समझें कि कौनसी सामाजिक शक्ति वर्तमान समाज में अपनी स्थिति के कारण समाजवाद की स्थापना में दिलचस्पी रखती है, और यह समझकर इस शक्ति को अपने हितों और अपने ऐतिहासिक मिशन की चेतना प्रदान करें। यह शक्ति है सर्वहारा। सर्वहारा से एंगेल्स का परिचय इंगलैंड में, व्रिटिश उद्योग के केंद्र मैंचेस्टर में हुआ जहां वह एक व्यापारिक कम्पनी की नौकरी शुरू करके १८४२ में वस गये थे। उनके पिता इस कम्पनी के एक हिस्सेदार थे। यहां एंगेल्स केवल फ़ैक्टरी के दफ़्तर में नहीं बैठे रहे, उन्होंने

*मार्क्स और एंगेल्स अक्सर कहा करते थे कि अपने बौद्धिक विकास के लिए वे महान जर्मन दार्शनिकों और विशेषकर हेगेल के ऋणी हैं। एंगेल्स कहते हैं: "जर्मन दर्शन के विना वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म ही न होता।"

उन गंदी वस्तियों के चक्कर भी लगाये जहां मज़दूर दरवों की सी जगहों में रहते थे। उन्होंने अपनी आंखों से उनकी दरिद्रता और दयनीय दशा देखी। पर वह केवल वैयक्तिक निरीक्षण करके ही नहीं रहे। ब्रिटिश मज़दूर वर्ग की स्थिति के संबंध में जो भी सामग्री प्रकाश में आयी थी, उन्होंने वह सारी की सारी पढ़ डाली और जो भी सरकारी काग़ज़ात उपलब्ध हो सके, उन्होंने उन सब का ध्यान से अध्ययन किया। इन अध्ययनों और निरीक्षणों का फल १८४५ में प्रकाशित 'इंगलैंड के मज़दूर वर्ग की स्थिति' नामक पुस्तक के रूप में प्रगट हुआ। 'इंगलैंड के मज़दूर वर्ग की स्थिति' के लेखक के नाते एंगेल्स ने जो मुख्य सेवा की उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। एंगेल्स के पहले भी कितने ही लोगों ने सर्वहारा के कष्टों का वर्णन और उसकी सहायता की आवश्यकता के प्रति संकेत किया था। पर एंगेल्स ही वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कहा कि सर्वहारा न केवल कष्टग्रस्त वर्ग है, पर यह कि वस्तुतः सर्वहारा की लज्जाजनक आर्थिक स्थिति ही वह चीज़ है जो उसे अप्रतिहत रूप से आगे वढ़ा रही है और उसे अपनी पूर्ण मुक्ति के लिए लड़ने को विवश कर रही है। और संघर्षरत सर्वहारा **स्वयं अपनी सहायता कर लेगा।** मज़दूर वर्ग का राजनीतिक आंदोलन अनिवार्य रूप से मज़दूरों को यह अनुभव करायेगा कि उनकी मुक्ति एकमात्र समाजवाद में निहित है। दूसरी ओर, समाजवाद तभी एक शक्ति बनेगा जब वह मज़दूर **वर्ग के राजनीतिक** संघर्ष का उद्देश्य वन जायेगा। ये हैं इंगलैंड के मज़दूर वर्ग की स्थिति से संबंधित एंगेल्स की पुस्तक के मुख्य विचार। ये विचार अव सभी विचारशील और संघर्षरत सर्वहाराओं ने अंगीकार कर लिये हैं, पर उस समय वे पूर्णतया नवीन थे। इन विचारों का प्रकाशन एक ऐसी पुस्तक में हुआ जो हृदयग्राही शैली में लिखी हुई है और ब्रिटिश सर्वहारा की दयनीय दशा के अत्यंत प्रामाणिक और स्तंभित कर देनेवाले चित्रों से भरपूर है। इस पुस्तक ने पूंजीवाद और पूंजीपति वर्ग को भयानक अपराधी क़रार दिया और लोगों पर गहरा असर डाला। आधुनिक सर्वहारा की स्थिति का सर्वोत्तम चित्र प्रस्तुत करनेवाली पुस्तक के रूप में एंगेल्स की इस रचना का सर्वत्र हवाला दिया जाने लगा। और वस्तुतः न १८४५ के पहले और न उसके बाद ही मज़दूर वर्ग की दयनीय दशा का इतना प्रभावोत्पादक और सत्यदर्शी चित्र और कहीं प्रस्तुत हो पाया है।

इंगलैंड में आ वसने के बाद ही एंगेल्स समाजवादी बने। मैंचेस्टर में

उन्होंने उस समय के ब्रिटिश मज़दूर आंदोलन में सक्रिय भाग लेनेवाले लोगों से संपर्क स्थापित किया और अंग्रेज़ी समाजवादी प्रकाशनों के लिए लेख लिखना आरंभ किया। १८४४ में जर्मनी लौटते समय पेरिस में मार्क्स से उनका परिचय हुआ। मार्क्स के साथ उनका पत्र-व्यवहार इससे पहले ही शुरू हो गया था। पेरिस में फ़्रांसीसी समाजवादियों और फ़्रांसीसी जीवन के प्रभाव से मार्क्स भी समाजवादी बन गये थे। यहां दोनों मित्रों ने मिलकर एक पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक है 'पवित्र परिवार या आलोचनात्मक आलोचना की आलोचना'। यह पुस्तक 'इंगलैंड के मज़दूर वर्ग की स्थिति' के एक वर्ष पहले प्रकाशित हुई और इसका अधिकांश मार्क्स ने लिखा। ऊपर जिस क्रांतिकारी-भौतिकवादी समाजवाद के मुख्य विचारों की व्याख्या हम कर चुके हैं उसके आधारभूत सिद्धान्त इस पुस्तक में प्रस्तुत किये गये हैं। 'पवित्र परिवार' दार्शनिक बावेर बंधुओं और उनके अनुयायियों को दिया गया मज़ाक़िया लक़ब है। इन सज्जनों ने ऐसी आलोचना का ढिंढोरा पीटा जो समूची वास्तविकता के परे है, जो पार्टियों और राजनीति के परे है, जो सारे व्यावहारिक क्रियाकलाप को ठुकरा देती है और जो केवल "आलोचनात्मक ढंग से" चारों ओर के संसार का और उसमें घट रही घटनाओं का चिंतन करती है। इन सज्जनों ने, अर्थात् बावेर बंधुओं ने सर्वहारा को नीची नज़र से देखते हुए उसे एक आलोचना-शून्य समूह माना। मार्क्स और एंगेल्स ने इस बेतुकी और हानिकारक प्रवृत्ति का ज़ोरदार विरोध किया। एक वास्तविक मानव व्यक्ति—अर्थात् शासक वर्गों और राज्य द्वारा पददलित मज़दूर—के नाम पर उन्होंने चिंतन की नहीं, बल्कि बेहतर समाज-व्यवस्था के लिए संघर्ष की मांग की। कहने की ज़रूरत नहीं कि उन्होंने सर्वहारा को इस संघर्ष को चलाने में समर्थ और उसमें दिलचस्पी रखनेवाली शक्ति माना। 'पवित्र परिवार' के प्रकाशित होने से पहले ही एंगेल्स ने मार्क्स और रूगे की 'जर्मन-फ़्रांसीसी पत्रिका' में 'राजनीतिक अर्थशास्त्र विषयक आलोचनात्मक निबंध' प्रकाशित किये थे जिनमें उन्होंने समाजवादी दृष्टिकोण से समकालीन आर्थिक व्यवस्था के प्रधान व्यापारों का परीक्षण किया था और यह निष्कर्ष निकाला था कि वे निजी संपत्ति के प्रभुत्व के अनिवार्य परिणाम थे। मार्क्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र का अध्ययन करने का जो निश्चय किया उसमें निःसंशय एंगेल्स के साथ उनका संपर्क एक कारक तत्त्व था। इस विज्ञान के क्षेत्र में मार्क्स की रचनाओं ने वस्तुतः क्रांति कर दी।

१८४५ से १८४७ तक एंगेल्स ब्रसेल्स और पेरिस में रहे और वैज्ञानिक कार्य के साथ-साथ उन्होंने ब्रसेल्स और पेरिस के जर्मन मज़दूरों के बीच अमली कार्रवाइयां भी कीं। यहां मार्क्स और एंगेल्स ने गुप्त जर्मन 'कम्युनिस्ट लीग' के साथ संपर्क स्थापित किया और लीग ने उन्हें उनके द्वारा रचित समाजवाद के मुख्य सिद्धांतों की व्याख्या करने का कार्य सौंप दिया। इस प्रकार मार्क्स और एंगेल्स के सुप्रसिद्ध 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' का जन्म हुआ। यह १८४८ में प्रकाशित हुआ। यह छोटी-सी पुस्तिका अनेकानेक ग्रंथों का मूल्य रखती है: आज भी उसकी जीवन्त भाव-धारा समूचे सभ्य संसार के संगठित और संघर्षरत सर्वहारा को स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करती है।

१८४८ की क्रान्ति ने, जो पहले फ़्रांस में भड़की और फिर पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों में फैल गयी, मार्क्स और एंगेल्स को फिर से उनकी मातृभूमि के दर्शन कराये। यहां, राइनी प्रशा में उन्होंने कोलोन से प्रकाशित होनेवाले जनवादी *«Neue Rheinische Zeitung»* की बागडोर अपने हाथों में ली। ये दोनों मित्र राइनी प्रशा की सारी क्रान्तिकारी-जनवादी आकांक्षाओं के केन्द्र और उत्स थे। जनता के हितों और स्वतंत्रता की रक्षा में उन्होंने आख़िरी दम तक प्रतिक्रियावादी शक्तियों से लोहा लिया। जैसा कि हम जानते हैं, प्रतिक्रियावादी शक्तियों का पलड़ा भारी पड़ा। *«Neue Rheinische Zeitung»* का गला घोंट दिया गया। मार्क्स को, जो पिछले उत्प्रवासन-काल में अपनी प्रशियाई नागरिकता खो चुके थे, फिर निर्वासित कर दिया गया; एंगेल्स ने सशस्त्र जन-विद्रोह में भाग लिया, स्वतंत्रता के लिए तीन लड़ाइयों में हिस्सा लिया और विद्रोहियों की पराजय के बाद वह स्विट्ज़रलैंड से होकर लन्दन भाग गये।

मार्क्स भी लन्दन में ही बस गये। एंगेल्स फिर एक बार मैंचेस्टर की उसी कम्पनी में क्लर्क बन गये जहां वह उन्नीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक में काम करते थे। बाद में वह उस कम्पनी के हिस्सेदार बने। १८७० तक वह मैंचेस्टर में रहे जब कि मार्क्स लन्दन में रहते थे। फिर भी इससे उनके अत्यंत स्फूर्तिप्रद विचार-विनिमय के जारी रहने में कोई बाधा न आयी: लगभग हर रोज़ उनकी चिट्ठी-पत्री चलती थी। इस पत्र-व्यवहार द्वारा मित्र-द्वय ने विचारों एवं खोजों का आदान-प्रदान किया और वैज्ञानिक समाजवाद की रचना में सहयोग जारी रखा। १८७० में एंगेल्स लन्दन चले गये और

वहां उनका संयुक्त बौद्धिक जीवन—कठिन साधना का जीवन—१८८३ तक, अर्थात् मार्क्स के देहांत तक चलता रहा। इस साधना का फल मार्क्स की ओर से 'पूंजी' रहा, जो राजनीतिक अर्थशास्त्र पर हमारे युग की सबसे महान रचना है, और एंगेल्स की ओर से कितनी ही छोटी और बड़ी रचनाएं। मार्क्स ने पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के जटिल व्यापारों के विश्लेषण पर काम किया। एंगेल्स ने सीधी-सादी और अक्सर खंडन-मंडनात्मक प्रकार की अपनी रचनाओं में अधिक सामान्य वैज्ञानिक समस्याओं और अतीत तथा वर्तमान के विविध व्यापारों का विवेचन इतिहास की भौतिकवादी धारणा और मार्क्स के आर्थिक सिद्धांत के प्रकाश में किया। एंगेल्स की इन रचनाओं में से हम निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख करेंगे: ड्यूहरिंग के विरुद्ध की खंडन-मंडनात्मक रचना (जिसमें दर्शन, प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र की अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्याओं का विश्लेषण किया गया है)*, 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' (रूसी में अनूदित, सेंट-पीटर्सबर्ग में प्रकाशित, तृतीय संस्करण, १८९५), 'लुडविग फ़ायरबाख़' (टिप्पणियों सहित रूसी अनुवाद गे० प्लेख़ानोव द्वारा, जेनेवा, १८९२), रूसी सरकार की विदेश नीति के संबंध में एक लेख (जेनेवा के 'सोत्सिअल-देमोक्रात' के पहले और दूसरे अंकों में रूसी में अनूदित), आवास की समस्या पर उत्कृष्ट लेख, और अंत में, रूस के आर्थिक विकास के संबंध में दो छोटे पर अतिमूल्यवान लेख ('रूस के संबंध में फ़ेडरिक एंगेल्स के विचार', वेरा ज़ासुलिच द्वारा रूसी में अनूदित, जेनेवा, १८९४)। पूंजी से संबंधित विशाल काम पूरा होने से पहले ही मार्क्स का देहांत हो गया। फिर भी पुस्तक अपने मूल रूप में तैयार हो चुकी थी। अपने मित्र की मृत्यु के बाद एंगेल्स ने 'पूंजी' के द्वितीय और तृतीय खंडों की प्रकाशनार्थ तैयारी और प्रकाशन का भारी काम अपने कंधों पर लिया। उन्होंने द्वितीय खंड १८८५ में और तृतीय खंड १८९४ में प्रकाशित किया (उनकी मृत्यु के कारण चतुर्थ खंड की

---

*यह बहुत सारगर्भित और शिक्षाप्रद पुस्तक है। दुर्भाग्य से उसका एक छोटा-सा हिस्सा ही रूसी भाषा में अनूदित किया गया है। इस हिस्से में समाजवाद के विकास की ऐतिहासिक रूपरेखा दी गयी है ('वैज्ञानिक समाजवाद का विकास', द्वितीय संस्करण, जेनेवा, १८९२)।

तैयारी में वाधा पड़ी)। उक्त दो खंडों के प्रकाशन की तैयारी का काम वहुत ही परिश्रमपूर्ण था। ग्रास्ट्रियाई समाजवादी-जनवादी एडलर ने ठीक ही कहा है कि 'पूंजी' के द्वितीय ग्रौर तृतीय खंडों के प्रकाशन द्वारा एंगेल्स ने ग्रपने प्रतिभाशाली मित्र का भव्य स्मारक खड़ा किया, एक ऐसा स्मारक जिसपर न चाहते हुए भी उन्होंने ग्रपना नाम ग्रमिट रूप से ग्रंकित कर दिया। वस्तुतः 'पूंजी' के ये दो खंड दो व्यक्तियों—मार्क्स ग्रौर एंगेल्स—की कृति हैं। प्राचीन गाथाग्रों में मैत्री के कितने ही हृदयस्पर्शी उदाहरण मिलते हैं। यूरोपीय सर्वहारा कह सकता है कि उसके विज्ञान की रचना दो ऐसे विद्वानों ग्रौर योद्धाग्रों ने की, जिनके पारस्परिक संवंधों ने मानवीय मैत्री की ग्रत्यंत हृदयस्पर्शी पुराण-कथाग्रों को पीछे छोड़ दिया है। एंगेल्स सदा ही—ग्रौर ग्राम तौर पर न्यायसंगत रूप से—ग्रपने को मार्क्स के वाद रखते थे। "मार्क्स के जीवन-काल में," उन्होंने ग्रपने एक पुराने मित्र को लिखा था, "मैंने गौण भूमिका ग्रदा की।" जीवित मार्क्स के प्रति उनका प्रेम ग्रौर मृत मार्क्स की स्मृति के प्रति उनका ग्रादर ग्रसीम था। इस दृढ़ योद्धा ग्रौर कठोर विचारक का हृदय गहरे प्रेम से परिपूर्ण था।

१८४८–१८४९ के ग्रांदोलन के वाद निर्वासन-काल में मार्क्स ग्रौर एंगेल्स केवल वैज्ञानिक शोधकार्य में ही नहीं व्यस्त रहे। १८६४ में मार्क्स ने 'ग्रन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ' की स्थापना की ग्रौर पूरे दशक भर इस संस्था का नेतृत्व किया। एंगेल्स ने भी इस संस्था के कार्य में सक्रिय भाग लिया। 'ग्रंतर्राष्ट्रीय संघ' का कार्य, जिसने मार्क्स के विचारानुसार सभी देशों के सर्वहारा को एकजुट किया, मज़दूर ग्रांदोलन के विकास के लिए ग्रत्यंत महत्त्वपूर्ण था। पर १९ वीं शताब्दी के ग्राठवें दशक में उक्त संघ के बन्द होने के वाद भी मार्क्स ग्रौर एंगेल्स की एकीकरण विषयक भूमिका नहीं समाप्त हुई। इसके विपरीत, कहा जा सकता है कि मज़दूर ग्रांदोलन के ग्राध्यात्मिक नेताग्रों के रूप में उनका महत्त्व सतत वढ़ता रहा, क्योंकि यह ग्रांदोलन स्वयं भी ग्रप्रतिहत रूप से प्रगति करता रहा। मार्क्स की मृत्यु के वाद ग्रकेले एंगेल्स यूरोपीय समाजवादियों के परामर्शदाता ग्रौर नेता वने रहे। उनका परामर्श ग्रौर मार्गदर्शन जर्मन समाजवादी, जिनकी शक्ति सरकारी यंत्रणाग्रों के वावजूद, शीघ्रता से ग्रौर सतत बढ़ रही थी, ग्रौर स्पेन, रूमानिया, रूस ग्रादि जैसे पिछड़े देशों के प्रतिनिधि, जो ग्रपने पहले क़दम बहुत सोच-विचार कर ग्रौर संभल कर रखने को विवश थे, दोनों ही

समान रूप से चाहते थे। वे सब वृद्ध एंगेल्स के ज्ञान और अनुभव के समृद्ध भंडार से लाभ उठाते थे।

मार्क्स और एंगेल्स दोनों रूसी भाषा जानते थे और रूसी पुस्तकें पढ़ा करते थे। रूस में उनकी गहरी दिलचस्पी थी, वे रूसी क्रांतिकारी आंदोलन की गतिविधि को सहानुभूति की दृष्टि से देखते थे और रूसी क्रांतिकारियों से संपर्क बनाये हुए थे। समाजवादी बनने से पहले वे दोनों जनवादी थे और राजनीतिक निरंकुशता के प्रति घृणा की जनवादी भावना उनमें बहुत ही बलवती थी। इस प्रत्यक्ष राजनीतिक भावना ने, और उसके साथ-साथ राजनीतिक निरंकुशता और आर्थिक उत्पीड़न के बीच के संबंधों की गंभीर सैद्धांतिक समझ और जीवन के उनके समृद्ध अनुभव ने मार्क्स और एंगेल्स को यथार्थतः राजनीतिक दृष्टि से असाधारण रूप में संवेदनशील बना दिया था। यही कारण है कि शक्तिशाली ज़ारशाही सरकार के विरुद्ध मुट्ठी-भर रूसी क्रांतिकारियों के वीरत्वपूर्ण संघर्ष ने इन तपे हुए क्रांतिकारियों के हृदयों में गहरी सहानुभूतिपूर्ण प्रतिक्रिया उत्पन्न की। दूसरी ओर, काल्पनिक आर्थिक सुविधाओं की प्राप्ति के लिए रूसी समाजवादियों के सबसे फ़ौरी और सबसे महत्त्वपूर्ण काम की ओर से, यानी राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने की ओर से मुंह मोड़ लेने की प्रवृत्ति को उन्होंने संशय की दृष्टि से देखा, और इतना ही नहीं, उन्होंने उसे सामाजिक क्रांति के महान् ध्येय के प्रति सीधे-सीधे विश्वासघात माना। "सर्वहारा की मुक्ति स्वयं सर्वहारा के हाथों संपन्न हो सकती है," – मार्क्स और एंगेल्स बराबर यही सीख देते रहे। पर अपनी आर्थिक मुक्ति के लिए संघर्ष करने के लिए यह ज़रूरी है कि सर्वहारा कुछ राजनीतिक अधिकार प्राप्त कर ले। इसके अलावा मार्क्स और एंगेल्स ने स्पष्ट रूप से देखा कि रूस में राजनीतिक क्रांति पश्चिमी यूरोपीय मज़दूर आंदोलन के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। स्वेच्छाचारी रूस सदा से ही यूरोपीय प्रतिक्रिया का स्तम्भ रहा था। एक लंबे समय तक जर्मनी और फ़्रांस के बीच अनबन के बीज बोनेवाले १८७० के युद्ध के परिणामस्वरूप रूस को प्राप्त हुई अत्यधिक अनुकूल अंतर्राष्ट्रीय स्थिति ने अवश्य ही प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप में स्वेच्छाचारी रूस का महत्त्व बढ़ा दिया। केवल स्वतंत्र रूस, यानी वह रूस, जिसे न पोलैंडवासियों, फ़िनलैंडवासियों, जर्मनों, आर्मीनियाइयों या अन्य छोटी-मोटी जातियों को उत्पीड़ित करने की और न ही फ़्रांस और जर्मनी को बराबर एक दूसरे के विरुद्ध उभाड़ने की

आवश्यकता होगी, वही आधुनिक यूरोप को युद्ध के भार से मुक्त होकर आराम की सांस लेने देगा, यूरोप के सभी प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को निर्बल कर देगा और यूरोपीय मज़दूर वर्ग की शक्ति बढ़ा देगा। इसलिए एंगेल्स की उत्कट इच्छा थी कि पश्चिम के मज़दूर आंदोलन की प्रगति के हित में भी रूस में राजनीतिक स्वतंत्रता की स्थापना हो। एंगेल्स की मृत्यु से रूसी क्रांतिकारियों का बेहतरीन दोस्त खो गया।

सर्वहारा के महान् योद्धा और शिक्षक फ़्रेडरिक एंगेल्स की स्मृति को हमें सर्वदा सम्मान देना चाहिए।

शरद् १८९५

व्ला० इ० लेनिन

मार्क्सवाद के तीन स्रोत तथा तीन संघटक अंग

पूरे सभ्य जगत् में मार्क्स की शिक्षा की समस्त पूंजीवादी विज्ञान (सरकारी भी और उदारतावादी भी) में अत्यंत द्वेषपूर्ण और घृणापूर्ण प्रतिक्रिया हुई है; इस विज्ञान की दृष्टि में मार्क्सवाद एक प्रकार का "अपकारी संकीर्ण पंथ" है। इसके अतिरिक्त और किसी रवैये की आशा भी नहीं की जा सकती क्योंकि वर्ग-संघर्ष पर आधारित समाज में "निष्पक्ष" सामाजिक विज्ञान हो ही नहीं सकता। समस्त सरकारी तथा उदारतावादी विज्ञान किसी न किसी ढंग से उजरती ग़ुलामी की रक्षा करता है जबकि मार्क्सवाद ने इस ग़ुलामी के ख़िलाफ़ निर्मम युद्ध की घोषणा दी है। उजरती ग़ुलामी वाले समाज में विज्ञान से निष्पक्ष होने की आशा करना उतनी ही बड़ी मूर्खता है जितनी कि उद्योगपतियों से इस प्रश्न पर निष्पक्षता की आशा करना कि क्यों न पूंजी के मुनाफ़े में कमी करके मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ा दी जाये।

परंतु बात इतनी ही नहीं है। दर्शनशास्त्र का इतिहास और सामाजिक विज्ञान का इतिहास पूर्ण स्पष्टता से दिखाते हैं कि मार्क्सवाद में "संकीर्णतावाद" जैसी कोई चीज़ नहीं है, इस अर्थ में कि वह कोई रूढ़िबद्ध, जड़ मत हो, ऐसा मत जो विश्व सभ्यता के विकास के प्रशस्त मार्ग से हटकर कहीं अलग से उत्पन्न हुआ हो। इसके विपरीत, मार्क्स की प्रतिभा इसी बात में तो निहित है कि उन्होंने उन प्रश्नों के उत्तर उपलब्ध किये जिन्हें मानव-जाति के प्रमुखतम विचारक पहले ही उठा चुके थे। दर्शनशास्त्र, राजनीतिक

अर्थशास्त्र तथा समाजवाद के महानतम प्रतिनिधियों की शिक्षाओं के प्रत्यक्ष तथा सन्निकट क्रम के रूप में ही उनके मत का जन्म हुआ।

मार्क्स का सिद्धांत सर्वशक्तिमान् है क्योंकि वह सत्य है। वह व्यापक तथा सुसंगत है और मनुष्य को एक ऐसा पूर्ण विश्व-दृष्टिकोण प्रदान करता है जिसका किसी भी प्रकार के अंधविश्वास, प्रतिक्रिया या पूंजीवादी उत्पीड़न की रक्षा से कोई भी समझौता असंभव है। उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मन दर्शनशास्त्र, अंग्रेज़ी राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा फ़्रांसीसी समाजवाद के रूप में मानव-जाति की जो भी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियां रही हैं, मार्क्सवाद उसी का वैध उत्तराधिकारी है।

मार्क्सवाद के इन्हीं तीन स्रोतों पर, जो साथ ही उसके संघटक अंग भी हैं, हम संक्षेप में विचार करेंगे।

१

मार्क्सवाद का दार्शनिक सिद्धान्त **भौतिकवाद** है। यूरोप के आधुनिक काल के पूरे इतिहास में, और विशेष रूप से अठारहवीं शताब्दी के अंत में फ़्रांस में, जहां हर प्रकार के मध्ययुगीन कचरे के विरुद्ध, संस्थाओं तथा विचारों में भू-दासता के ख़िलाफ़ निर्णायक संघर्ष चलाया गया, भौतिकवाद एकमात्र ऐसा दर्शन सिद्ध हुआ है जो सुसंगत है, प्राकृतिक विज्ञान की समस्त शिक्षाओं की कसौटी पर पूरा उतरता है और अंधविश्वास, पाखंड, आदि का विरोधी है। इसलिए जनवाद के शत्रुओं ने भौतिकवाद का "खंडन करने", उसकी जड़ खोदने और उसे कलंकित करने की पूरी चेष्टा की है और भाववादी दर्शन के विविध रूपों का प्रचार किया है, जिसका अर्थ हमेशा, किसी न किसी रूप में, धर्म का पक्ष लेना या उसका समर्थन करना होता है।

मार्क्स तथा एंगेल्स ने अत्यंत दृढ़तापूर्वक भौतिकवादी दर्शन की हिमायत की और बार-बार इस बात को समझाया कि इस आधार से किसी भी प्रकार का विचलन कितनी भारी भूल है। उनके विचारों की अत्यन्त सुस्पष्ट तथा पूर्ण व्याख्या एंगेल्स की 'लुडविग फ़ायरबाख़' तथा 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' नामक रचनाओं में की गयी है जो 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की तरह ही हर वर्ग-चेतन मज़दूर के लिए मार्क्सवाद के गुटके हैं।

परंतु मार्क्स अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवाद पर आकर रुक नहीं गये,

उन्होंने दर्शन को आगे बढ़ाया। उन्होंने उसे जर्मन क्लासिकीय दर्शन की, विशेषतः हेगेल की उस दर्शन-पद्धति की उपलब्धियों से समृद्ध किया जिसका परिणाम फ़ायरबाख़ का भौतिकवाद था। इन उपलब्धियों में सबसे मुख्य **द्वंद्ववाद का सिद्धान्त** है, अर्थात् अपने पूर्णतम, गहनतम तथा व्यापकतम रूप में विकास का सिद्धांत—मानव-ज्ञान की आपेक्षिकता का सिद्धांत जिसमें हमें सतत विकासवान् भूतद्रव्य का प्रतिबिंब मिलता है। पूंजीवादी दार्शनिकों की शिक्षाओं के बावजूद, जो "नये सिरे से" फिर पुराने सड़े हुए भाववाद की ओर लौट रहे हैं, प्राकृतिक विज्ञान की नवीनतम खोजों—रेडियम, इलेक्ट्रोन, मूल तत्त्वों के रूपांतरण—ने मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की अद्‌भुत रूप से पुष्टि की है।

मार्क्स ने भौतिकवादी दर्शन को पूरी गहराई दी तथा पूर्णतः विकसित किया और प्रकृति के संज्ञान को इतना विस्तृत किया कि उसकी परिधि में **मानव-समाज** का संज्ञान आ जाये। मार्क्स का **ऐतिहासिक भौतिकवाद** वैज्ञानिक विचारणा की महान् सिद्धि था। पहले इतिहास तथा राजनीति से संबंधित विचारों के क्षेत्र में जो गड़बड़ी और स्वेच्छाचारिता फैली हुई थीं, उनके स्थान पर एक ऐसे ज्वलंत रूप से पूर्ण तथा सामंजस्यपूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्त की स्थापना हुई, जो बताता है कि किस प्रकार उत्पादक शक्तियों के विकास के फलस्वरूप सामाजिक जीवन की एक व्यवस्था में से एक दूसरी और उच्चतर व्यवस्था का विकास होता है—उदाहरण के लिए, भू-दास व्यवस्था में से किस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था विकसित होती है।

जिस प्रकार मनुष्य का संज्ञान प्रकृति (अर्थात् विकासवान् भूतद्रव्य) को, जिसका अस्तित्व मनुष्य से स्वतंत्र रूप में है, प्रतिबिंबित करता है, उसी प्रकार मनुष्य का **सामाजिक संज्ञान** (अर्थात् उसके विविध विचार तथा मत—दार्शनिक, धार्मिक, राजनीतिक, आदि) समाज की **आर्थिक व्यवस्था** को प्रतिबिंबित करता है। राजनीतिक संस्थाएं आर्थिक नींव पर खड़ा ऊपरी ढांचा होती हैं। उदाहरण के लिए, हम देखते हैं कि आधुनिक यूरोपीय राज्यों के विभिन्न राजनीतिक रूप सर्वहारा वर्ग पर पूंजीपति वर्ग के प्रभुत्व को दृढ़ बनाने के काम आते हैं।

मार्क्स का दर्शन भौतिकवादी दर्शन का पूरा निखरा हुआ रूप है, जिसने मानव-जाति को, विशेष रूप से मजदूर वर्ग को, संज्ञान के शक्तिशाली साधन प्रदान किये हैं।

२

इस वात को मान लेने के वाद कि आर्थिक व्यवस्था ही वह नींव होती है जिसपर राजनीति का ऊपरी ढांचा खड़ा किया जाता है, मार्क्स ने सबसे अधिक ध्यान इसी आर्थिक व्यवस्था के अध्ययन में लगाया। मार्क्स की प्रमुख रचना 'पूंजी' आधुनिक, अर्थात् पूंजीवादी समाज की आर्थिक व्यवस्था के ही अध्ययन को अर्पित है।

मार्क्स से पहले क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र की उत्पत्ति इंगलैंड में हुई थी, जो पूंजीवादी देशों में सबसे उन्नत देश है। ऐडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो ने आर्थिक व्यवस्था के विषय में अपनी गवेषणाओं द्वारा **मूल्य के श्रम-सिद्धांत** की नींव डाली। मार्क्स ने उनके काम को और आगे बढ़ाया। उन्होंने इस सिद्धान्त को प्रमाणित किया और उसे सुसंगत रूप से विकसित किया। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि हर माल का मूल्य इस वात से निर्धारित होता है कि उसके उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-समय कितना लगाया गया है।

पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों ने जहां वस्तुओं के पारस्परिक संबंध (एक माल के वदले में दूसरे माल के विनिमय) को देखा था, वहां मार्क्स ने **मनुष्यों के पारस्परिक संबंध** का रहस्योद्घाटन किया। मालों का विनिमय मंडी के माध्यम से अलग-अलग उत्पादकों के पारस्परिक संबंध को व्यक्त करता है। **मुद्रा** इस वात की द्योतक है कि यह संबंध निरंतर घनिष्ठतर होता जा रहा है और अलग-अलग उत्पादकों के समूचे आर्थिक जीवन को एक समष्टि के रूप में अभिन्न रूप से वांधे दे रहा है। **पूंजी** इसी वंधन के विकास की अगली मंज़िल है: मनुष्य की श्रम-शक्ति एक माल बन जाती है। उजरती मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति को भूमि, कारख़ाने तथा श्रम के साधनों के मालिक के हाथ बेच देता है। मज़दूर श्रम-दिन का एक भाग स्वयं अपने और अपने परिवार के भरण-पोषण के ख़र्च (मज़दूरी) की पूर्त्ति के लिए व्यय करता है, और दिन के शेष भाग में मज़दूर विना पारिश्रमिक के श्रम करता है, और इस प्रकार पूंजीपति के लिए **अतिरिक्त मूल्य** का सृजन करता है, जो मुनाफ़े का स्रोत है, पूंजीपति वर्ग की सम्पदा का स्रोत है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत मार्क्स के आर्थिक सिद्धांत की आधारशिला है। मज़दूर के श्रम द्वारा उत्पन्न की गयी पूंजी मज़दूर को तो कुचलती ही

हैं, वह छोटे-छोटे मालिकों को भी तबाह करके बेरोज़गारों की एक पलटन खड़ी कर देती है। उद्योग-धंधों में बड़े पैमाने के उत्पादन की विजय तुरंत स्पष्ट हो जाती है परंतु कृषि में भी हम यही क्रिया देखते हैं: बड़े पैमाने की पूंजीवादी कृषि की श्रेष्ठता बढ़ती जाती है, मशीनों का उपयोग बढ़ता जाता है, कृषक अर्थ-व्यवस्था के गले में मुद्रा-पूंजी का फंदा पड़ जाता है, उसका ह्रास होने लगता है और अपनी पिछड़ी हुई प्रविधि के बोझ के नीचे दबकर वह तबाह हो जाता है। कृषि में छोटे पैमाने के उत्पादन का ह्रास विभिन्न रूप धारण करता है, परंतु यह बात कि ह्रास होता है एक निर्विवाद सत्य है।

छोटे पैमाने के उत्पादन को तबाह करके पूंजी श्रम की उत्पादिता में वृद्धि करती है और बड़े पूंजीपतियों के संघों के लिए इजारेदारी की स्थिति उत्पन्न करती है। उत्पादन स्वयं अधिकाधिक सामाजिक रूप धारण करता जाता है—लाखों-करोड़ों मज़दूर एक सुव्यवस्थित आर्थिक संगठन में एक दूसरे से बंध जाते हैं—परंतु इस सामूहिक श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं को मुट्ठी भर पूंजीपति हड़प लेते हैं। उत्पादन की अराजकता और इसके साथ ही संकट, मंडियों के लिए बेतहाशा भागदौड़ और जन-साधारण के जीवन में अनिश्चितता बढ़ती जाती है।

पूंजी पर मज़दूरों की निर्भरता को बढ़ाने के साथ ही पूंजीवादी व्यवस्था समूहबद्ध श्रम की महान् शक्ति को जन्म देती है।

मार्क्स ने माल-उत्पादन पर आधारित अर्थ-व्यवस्था के प्रथम अंकुरों से लेकर, साधारण विनिमय से लेकर, उसके उच्चतम रूप, अर्थात् बड़े पैमाने के उत्पादन तक पूंजीवाद के विकासक्रम का पता लगाया।

और पुराने तथा नये सभी पूंजीवादी देशों का अनुभव वर्ष प्रति वर्ष अधिकाधिक मज़दूरों के सामने मार्क्स के इस सिद्धांत के सत्य को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता जा रहा है।

पूंजीवाद ने सारे संसार में विजय प्राप्त कर ली है, परंतु यह विजय पूंजी पर श्रम की विजय की भूमिका मात्र है।

३

जब भू-दासता का तख़्ता उलट दिया गया और पृथ्वी पर "स्वतंत्र" पूंजीवादी समाज का उदय हुआ, तब यह बात तुरंत स्पष्ट हो गयी कि इस

स्वतंत्रता का अर्थ श्रमिकों के उत्पीड़न तथा शोषण की एक नयी व्यवस्था है। इस उत्पीड़न के प्रतिबिंब के रूप में और इसके विरोध में फ़ौरन विविध प्रकार के समाजवादी मत जन्म लेने लगे। परंतु प्रारंभिक समाजवाद काल्पनिक समाजवाद था। वह पूंजीवादी समाज की आलोचना करता था, उसकी निंदा करता था और उसे कोसता था, वह उसके विनाश के स्वप्न देखता था, वह एक बेहतर व्यवस्था की सुखद कल्पना करता था और धनवान् लोगों को शोषण की अनैतिकता का क़ायल करने का प्रयास करता था।

परंतु काल्पनिक समाजवाद वास्तविक समाधान का निर्देश नहीं कर सका। वह न तो पूंजीवाद के अंतर्गत उजरती ग़ुलामी के असली स्वरूप की व्याख्या कर सका, न उसके विकास के नियमों का पता लगा सका और न ही उस सामाजिक शक्ति की ओर संकेत कर सका जो एक नये समाज की रचना करने की क्षमता रखती है।

इसी दौरान सामंतवाद और भू-दासता के पतन के साथ यूरोप भर में, और विशेष रूप से फ़्रांस में, जो तूफ़ानी क्रांतियां हुईं उनसे यह वात अधिकाधिक स्पष्ट होती गयी कि समस्त विकास का आधार और उसकी प्रेरक शक्ति **वर्गों का संघर्ष** है।

सामंती वर्ग के विरुद्ध राजनीतिक स्वतंत्रता की एक भी विजय ऐसी नहीं थी जो घोर प्रतिरोध का सामना किये विना प्राप्त की गयी हो। एक भी पूंजीवादी देश ऐसा नहीं है जो पूंजीवादी समाज के विभिन्न वर्गों के बीच ज़िन्दगी और मौत की लड़ाई के विना न्यूनाधिक रूप में स्वतंत्र तथा जनवादी आधार पर विकसित हुआ हो।

मार्क्स की प्रतिभा इस वात में निहित है कि वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इससे वह निष्कर्ष निकाला जो विश्व इतिहास हमें सिखाता है और सुसंगत रूप से इस निष्कर्ष को लागू किया। यह निष्कर्ष **वर्ग-संघर्ष** का सिद्धांत है।

लोग राजनीति में सदा छल और आत्म-छलना के नादान शिकार हुए हैं और तब तक होते रहेंगे जब तक वे हर नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक कथन, घोषणा और वचन के पीछे किसी न किसी वर्ग के हितों का पता लगाना नहीं सीखेंगे। सुधारों और छोटे-मोटे हेर-फेर के समर्थक जब तक यह नहीं समझ लेंगे कि हर पुरानी संस्था, वह कितनी ही बर्बरतापूर्ण और सड़ी हुई क्यों न प्रतीत होती हो, किन्हीं शासक वर्गों के बल-बूते पर

ही क़ायम रहती है, तब तक पुरानी व्यवस्था के संरक्षक उन्हें बेवक़ूफ़ बनाते रहेंगे। और इन वर्गों के प्रतिरोध को चकनाचूर करने का केवल एक तरीक़ा है और वह यह कि जिस समाज में हम रह रहे हैं उसी में उन शक्तियों का पता लगायें और उन्हें संघर्ष के लिए जागृत तथा संगठित करें, जो पुरातन को ढहाकर नूतन का सृजन कर सकने में समर्थ हो सकती हैं—और अपनी सामाजिक स्थिति के कारण समर्थ होकर ही रहेंगी।

केवल मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन ने ही सर्वहारा वर्ग को उस आत्मिक दासता से मुक्ति का मार्ग दिखाया है जिसमें सभी उत्पीड़ित वर्ग अब तक जकड़े हुए दम तोड़ रहे थे। केवल मार्क्स के आर्थिक सिद्धांत ने ही पूंजीवाद की सामान्य व्यवस्था में सर्वहारा वर्ग की वास्तविक स्थिति की व्याख्या की है।

अमरीका से लेकर जापान तक और स्वीडेन से लेकर दक्षिणी अफ़्रीका तक सारे संसार में सर्वहारा वर्ग के स्वतंत्र संगठनों की संख्या बढ़ती जा रही है। अपना वर्ग-संघर्ष चलाकर सर्वहारा वर्ग जागृत और शिक्षित हो रहा है, वह पूंजीवादी समाज के पूर्वाग्रहों से मुक्त होता जा रहा है, वह अपनी पांतों को और भी घनिष्ठ रूप से संगठित कर रहा है और अपनी सफलताओं को आंकना सीखता जा रहा है, वह अपनी शक्तियों को फ़ौलादी बना रहा है और अदम्य रूप से विकसित हो रहा है।

मार्च, १९१३

कार्ल मार्क्स

फ़ायरबाख़ पर निबन्ध[1]

१

अब तक के सारे भौतिकवाद की — जिसमें फ़ायरबाख़ का भौतिकवाद भी शामिल है — मुख्य त्रुटि यह है कि वस्तु (Gegenstand), वास्तविकता और ऐन्द्रीयता को केवल **विषय** (Objekt) या **अनुध्यान** (Anschauung) के रूप में कल्पित किया जाता है, न कि **मानव की ऐन्द्रिय क्रिया, व्यवहार** के रूप में, न कि आत्मनिष्ठ रूप में। इसलिए फल यह हुआ कि **क्रियाशील** पक्ष, भौतिकवाद के विपरीत, भाववाद द्वारा विकसित किया गया — लेकिन केवल अमूर्त्त रूप में, क्योंकि भाववाद वास्तविक ऐन्द्रिय क्रिया से सर्वथा अपरिचित है। फ़ायरबाख़ ऐन्द्रिय वस्तुओं को विचार-वस्तुओं से वास्तव में विभेदित रूप में चाहते हैं, पर वह स्वयं मानव क्रिया को **वस्तुनिष्ठ** (gegenständliche) क्रिया के रूप में नहीं देखते। इसलिए अपनी पुस्तक 'ईसाई धर्म का सार' में वह सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को ही एकमात्र सच्चा मानवीय दृष्टिकोण मानते हैं, और व्यवहार को प्रतीति के निकृष्ट प्रवंचक रूप में ही विचारा और ठहराया जाता है। इसी लिए वह "क्रान्तिकारी" और "व्यावहारिक-आलोचनात्मक" कार्यशीलता का महत्त्व नहीं समझ पाते।

२

क्या मानव-चिन्तन के लिए कहा जा सकता है कि वह वस्तुनिष्ठ (gegenständliche) सत्य का अवबोध कर सकता है, यह प्रश्न सैद्धान्तिक नहीं, बल्कि व्यावहारिक है। व्यवहार में मनुष्य को अपने चिंतन की सत्यता, अर्थात् यथार्थता और

शक्ति, उसकी इह-पक्षता (Diesseitigkeit) को प्रमाणित करना पड़ता है। व्यवहार से पृथक् रूप में चिन्तन की यथार्थता या अयथार्थता सम्बन्धी विवाद कोरा वितंडावादी प्रश्न है।

३

यह भौतिकवादी सिद्धान्त कि मनुष्य परिस्थितियों एवं शिक्षा-दीक्षा की उपज हैं, और इसलिए परिवर्तित मनुष्य भिन्न परिस्थितियों एवं भिन्न शिक्षा-दीक्षा की उपज हैं इस बात को भुला देता है कि परिस्थितियों को मनुष्य ही बदलते हैं और शिक्षक को स्वयं शिक्षा की आवश्यकता होती है। अतः यह सिद्धान्त अनिवार्यतः समाज को दो भागों में विभक्त कर देने के निष्कर्ष पर पहुंचता है, जिनमें से एक भाग समाज से ऊपर होता है (रॉबर्ट ओवेन में, उदाहरणार्थ, हम ऐसा पाते हैं)।

परिस्थितियों के परिवर्तन तथा मानव क्रियाकलाप का संपतन केवल क्रान्तिकारी व्यवहार के रूप में विचारा तथा तर्कबुद्धि द्वारा समझा जा सकता है।

४

फ़ायरबाख़ धार्मिक आत्मवियोजन—अर्थात् जगत् के दो दुनियाओं, एक ख़्याली, धार्मिक दुनिया और दूसरी वास्तविक दुनिया, में विभाजन—के तथ्य से आरम्भ करते हैं। उन्होंने काम यह किया कि इस धार्मिक जगत् को उसके भौतिक आधार में विलयित कर दिया। वह इस तथ्य को नज़रअन्दाज़ कर देते हैं कि उपरोक्त कार्य की पूर्त्ति के बाद मुख्य कार्य फिर भी अधूरा रह जाता है। क्योंकि यह बात कि भौतिक आधार अपने को अपने से पृथक् कर लेता है और जाकर आसमान में अपने को एक स्वतन्त्र क्षेत्र के रूप में स्थापित करता है, केवल इस भौतिक आधार के आत्म-विभाजन और आत्म-विरोध द्वारा ही समझा जा सकता है। अतः भौतिक आधार पहले अपने अन्तर्विरोध की अवस्था में समझा जाना चाहिए और तब अन्तर्विरोध को हटाकर उसे व्यवहार में क्रान्तिकारी रूप देना चाहिए। मिसाल के तौर पर, एक बार यह सिद्ध हो जाने पर कि पावन परिवार की जड़ वास्तव में पार्थिव परिवार है, पार्थिव परिवार का सिद्धान्ततः खंडन होना चाहिए और व्यवहारतः क्रान्तिकारीकरण।

५

फ़ायरबाख़ अमूर्त्त चिन्तन से सन्तोष न प्राप्त कर ऐन्द्रिय मनन की शरण लेते हैं, पर वह ऐन्द्रीयता को व्यावहारिक, मानवीय, ऐन्द्रिय क्रिया के रूप में नहीं विचारते।

६

फ़ायरबाख़ धार्मिक सारतत्त्व को विश्लेषित कर उसे मानवीय सारतत्त्व में विसर्जित कर देते हैं। पर मानवीय सारतत्त्व कोई अपकर्षित तत्त्व नहीं है जो प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित हो। अपनी यथार्थता में वह सामाजिक सम्बन्धों का साकल्य है।

फ़ायरबाख़ जो इस यथार्थ सारतत्त्व की समीक्षा नहीं करते, परिणामस्वरूप इस बात के लिए बाध्य होते हैं:

१. ऐतिहासिक प्रक्रिया से अपकर्षित करके धार्मिक भावना (Gemüt) को स्वयंस्थित वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित करना और एक अमूर्त्त – पृथक्कृत – मानव व्यक्ति की पूर्वधारणा करना।

२. उनकी दृष्टि में मानवीय सारतत्त्व केवल गोत्र (genus) की शक्ल में समझा जा सकता है, अर्थात् मूक अंतर्निहित सामान्यता के रूप में जो केवल प्रकृत्या बहुत-से व्यक्तियों को ऐक्यबद्ध कर देती है।

७

फलतः फ़ायरबाख़ यह नहीं देखते कि "धार्मिक भावना" स्वयं ही एक सामाजिक उपज है और जिस अमूर्त्त व्यक्ति का उन्होंने विश्लेषण किया है, वह वस्तुतः समाज की एक विशेष व्यवस्था का प्राणी है।

८

सामाजिक जीवन मूलतः व्यावहारिक है। सारे रहस्य जो सिद्धान्त को रहस्यवाद के ग़लत रास्ते पर भटका देते हैं, मानव व्यवहार में और इस व्यवहार के संज्ञान में अपना बुद्धिसम्मत समाधान पाते हैं।

९

अनुध्यानवादी भौतिकवाद की—अर्थात् उस भौतिकवाद की जो ऐन्द्रीयता को व्यावहारिक क्रिया नहीं मानता—चरम उपलब्धि "नागरिक समाज" में पृथक् व्यक्तियों का अनुध्यान है।

१०

पुराने भौतिकवाद का दृष्टि-विन्दु "नागरिक" समाज है, नये भौतिकवाद का दृष्टि-विन्दु **मानव** समाज, या समाजीकृत मानव-जाति है।

११

दार्शनिकों ने, विभिन्न विधियों से, विश्व की केवल **व्याख्या** ही की है, लेकिन प्रश्न विश्व को **बदलने** का है।

मार्क्स द्वारा १८४५ की वसन्त
ऋतु में लिखित।
सर्वप्रथम एंगेल्स द्वारा
१८८८ में उनके 'लुडविग
फ़ायरबाख़' के पृथक्
संस्करण में परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित।

१८८८ के पृथक्
संस्करण के अनुसार
मुद्रित तथा
कार्ल मार्क्स की
पांडुलिपि के साथ
मिलाकर परीक्षित।
मूल जर्मन।

कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र[2]

१८७२ के जर्मन संस्करण की भूमिका

'कम्युनिस्ट लीग'[3] नामक मजदूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संघ ने, जो उस जमाने की हालतों में एक गुप्त संघ ही हो सकता था, सन् १८४७ के नवम्बर में लन्दन में हुई अपनी कांग्रेस में हम दोनों को यह काम सौंपा कि हम पार्टी का एक विस्तृत सैद्धांतिक और व्यावहारिक कार्यक्रम प्रकाशनार्थ तैयार करें। यही निम्नलिखित 'घोषणापत्र' के जन्म की कहानी है, जिसकी पाण्डुलिपि फ़रवरी क्रान्ति[4] से कुछ ही सप्ताह पहले छपने के लिए लन्दन भेजी गयी थी। वह सबसे पहले जर्मन भाषा में छपी, और उसके बाद इसके कम से कम बारह भिन्न-भिन्न जर्मन संस्करण जर्मनी, इंगलैंड और अमरीका में प्रकाशित हुए। अंग्रेज़ी में सबसे पहले यह सन् १८५० में *«Red Republican»*[5] पत्रिका में लन्दन में प्रकाशित हुआ, अनुवाद कुमारी हेलेन मैकफ़र्लेन ने किया था और सन् १८७१ में इसके कम से कम तीन भिन्न-भिन्न अंग्रेज़ी अनुवाद अमरीका में प्रकाशित हुए। इसका फ़्रांसीसी अनुवाद पेरिस में सन् १८४८ के जून विद्रोह[6] के कुछ ही पहले निकला था और हाल में वह न्यूयार्क के *«Le Socialiste»*[7] नामक पत्र में फिर प्रकाशित हुआ है। आजकल एक नया अनुवाद भी तैयार हो रहा है। जर्मन भाषा में पहली बार निकलने के कुछ ही समय बाद इसका एक पोलिश अनुवाद भी लन्दन में प्रकाशित हुआ। इस शताब्दी के सातवें दशक में जेनेवा में एक रूसी अनुवाद निकला। प्रथम प्रकाशन के थोड़े ही समय बाद डेनिश भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ था।

पिछले पचीस वर्षों में परिस्थिति चाहे कितनी भी वदल गयी हो, इस 'घोषणापत्र' में निरूपित आम सिद्धांत समग्र रूप में आज भी उतने ही सही हैं, जितने कि पहले थे। एकाध जगह उसमें छोटा-मोटा सुधार किया जा सकता है। सिद्धांतों का क्रियान्वयन, जैसा कि ख़ुद 'घोषणापत्र' में कहा गया है, हर जगह और हमेशा विद्यमान ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करेगा और इसी कारण अध्याय २ के अन्त में प्रस्तावित क्रान्तिकारी कार्रवाइयों पर कोई विशेष ज़ोर नहीं दिया गया। आज यह भाग बहुत अंशों में अत्यंत भिन्न रूप में लिखा जाता। आधुनिक उद्योग की पिछले पचीस वर्षों की ज़वर्दस्त तरक़्क़ी और उसके साथ होनेवाली मज़दूर वर्ग के पार्टी-संगठन की उन्नति और विस्तार को देखते हुए, फ़रवरी क्रान्ति में और उसके बाद उससे भी ज़्यादा पेरिस कम्यून[8] में, जिसमें पहली बार सर्वहारा के हाथ में पूरे दो महीने तक राजनीतिक सत्ता रही, प्राप्त व्यावहारिक अनुभव को देखते हुए इस कार्यक्रम की कुछ तफ़सीलें पुरानी पड़ गयी हैं। कम्यून ने एक वात तो ख़ास तौर से साबित कर दी, वह यह कि "मज़दूर वर्ग राज्य की वनी-वनायी मशीन पर क़ब्ज़ा करके उसका उपयोग अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए नहीं कर सकता।" (देखिए–'फ़्रांस में गृह-युद्ध'। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ की जनरल कौंसिल की चिट्ठी, जर्मन संस्करण, पृष्ठ १९, जहां इस बात की और विस्तृत विवेचना की गयी है*।) फिर यह स्वतःस्पष्ट है कि इसमें दी हुई समाजवादी साहित्य की आलोचना भी आज की दृष्टि से अपूर्ण है, क्योंकि उसमें १८४७ तक का ही ज़िक्र है। इसके अलावा विभिन्न विरोधी पार्टियों के साथ कम्युनिस्टों के संबंध के बारे में जो टिप्पणियां की गयी हैं (चौथा अध्याय), वे यद्यपि सैद्धांतिक रूप से अब भी सही हैं, तथापि व्यवहार में पुरानी पड़ गयी हैं, क्योंकि तब से राजनीतिक परिस्थिति बिलकुल ही वदल गयी है, और जिन राजनीतिक पार्टियों को वहां गिनाया गया है, उनमें से अधिकांश इतिहास की धारा में विलीन हो चुकी हैं।

लेकिन 'घोषणापत्र' तो एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ बन गया है जिसमें परिवर्तन करने का अब हमें कोई अधिकार नहीं रह गया है। हो सकता है कि आगे एक संस्करण निकले जिसमें भूमिका द्वारा १८४७ से आज तक

* प्रस्तुत संकलन, भाग २।– सं०

के समय के व्यवधान को दूर किया जा सके। यह संस्करण तो इतना अप्रत्याशित था कि हमें उस तरह की भूमिका लिखने का समय ही नहीं मिला।

कार्ल मार्क्स। फ़्रेडरिक एंगेल्स।

लन्दन, २४ जून, १८७२

१८९० के जर्मन संस्करण की फ़्रे० एंगेल्स की भूमिका से

'घोषणापत्र' का अपना एक अलग इतिहास रहा है। प्रकाशन के साथ ही उसका वैज्ञानिक समाजवाद के हरावलों द्वारा, जिनकी संख्या अभी बिलकुल ही अधिक न थी, उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ (जैसा कि पहली भूमिका में गिनाये गये अनुवादों द्वारा स्पष्ट है); किन्तु थोड़े ही दिनों बाद, जून १८४८ में पेरिस के मज़दूरों की पराजय से शुरू होनेवाली प्रतिक्रिया के साथ वह पृष्ठभूमि में ढकेल दिया गया, और अन्त में जब नवम्बर १८५२ में कोलोन के कम्युनिस्टों को सज़ा दी गयी[1] तो वह "क़ानूनी तौर पर" बहिष्कृत कर दिया गया। फ़रवरी क्रांति के साथ जिस मज़दूर आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था, उसके सार्वजनिक रंगमंच से ओझल हो जाने के बाद 'घोषणापत्र' भी पृष्ठभूमि में चला गया।

जब यूरोप के मज़दूर वर्ग ने शासक वर्गों की सत्ता के ख़िलाफ़ नया हमला बोलने के लिए दुबारा काफ़ी ताक़त बटोर ली, तो अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ का आविर्भाव हुआ। उसका उद्देश्य यूरोप और अमरीका के तमाम जुझारू मज़दूर वर्ग को एक विशाल सेना के रूप में एकजुट करना था। इसलिए, संघ 'घोषणापत्र' में स्थापित सिद्धांतों को प्रस्थान-बिन्दु मानकर नहीं चल सकता था। उसका ऐसा कार्यक्रम होना लाज़िमी था जिससे इंगलैंड की ट्रेड-यूनियनों, फ़्रांस, बेल्जियम, इटली और स्पेन के प्रूदोंपंथियों तथा जर्मनी के लासालपंथियों* के लिए दरवाज़ा बन्द न हो जाये। इस कार्यक्रम

---

*व्यक्तिगत तौर पर लासाल हमसे हमेशा यही कहते थे कि वह मार्क्स के "शिष्य" हैं और ऐसा होने के नाते वह निस्संदेह 'घोषणापत्र' को आधार के रूप में ग्रहण करते थे। मगर उनके उन अनुयायियों की बात

को—इन्टरनेशनल की नियमावली के प्राक्कथन को—मार्क्स ने बड़ी ख़ूबी के साथ तैयार किया जिसे वकूनिन और अराजकतावादियों तक ने माना। जहां तक 'घोषणापत्र' में निरूपित सिद्धांतों की अन्तिम विजय का प्रश्न है, मार्क्स ने मज़दूर वर्ग के बौद्धिक विकास पर पूर्ण और एकमात्र रूप से भरोसा किया जो सम्मिलित कार्य तथा आपसी वाद-विवाद के फलस्वरूप अवश्यंभावी है। पूंजी के ख़िलाफ़ संघर्ष की घटनाओं और संघर्ष के बराबर उलट-फेर ने, जीत से अधिक हार ने, लड़ाकों के सामने उनकी सर्वव्याधिहर महौषधियों की अपर्याप्तता प्रत्यक्ष कर दी जिन पर वे अभी तक टिके हुए थे और उनके दिमाग़ों को मज़दूरों के उद्धार की वास्तविक परिस्थितियों को पूरी तरह समझने के लिए अधिक ग्रहणशील वना दिया। और मार्क्स का विचार सही था। १८७४ में जव इन्टरनेशनल भंग कर दिया गया तो उस समय का मज़दूर वर्ग, १८६४ की तुलना में, जव उसकी स्थापना हुई थी, एकदम भिन्न था। लैटिन देशों में प्रूदोंवाद और जर्मनी का विशिष्ट लासालवाद मरणासन्न थे, और इंगलैंड की घोर दक़ियानूसी ट्रेड-यूनियनें तक धीरे-धीरे उस विंदु पर पहुंच रही थीं जहां १८८७ में स्वानज़ी कांग्रेस में उनके अध्यक्ष* उनकी ओर से यह एलान कर सके कि "यूरोपीय महाद्वीप का समाजवाद हमारे लिए भय की वस्तु नहीं रह गया है"। फिर भी १८८७ तक महाद्वीपीय समाजवाद लगभग पूर्णतः वही सिद्धांत था जिसकी 'घोषणापत्र' ने घोषणा की थी। चुनांचे 'घोषणापत्र' का इतिहास १८४८ के बाद से आधुनिक मज़दूर आन्दोलन के इतिहास को एक हद तक प्रतिविम्बित करता है। आज तो निस्संदेह 'घोषणापत्र' समस्त समाजवादी साहित्य की सबसे अधिक प्रचलित, सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय कृति है और वह, साइबेरिया से लेकर कैलिफ़ोर्निया तक, सभी देशों के करोड़ों मज़दूरों का समान कार्यक्रम है।

तो भी उसके प्रकाशन के समय हम इसे **समाजवादी** घोषणापत्र का नाम नहीं दे सकते थे। १८४७ में दो तरह के लोग समाजवादी माने जाते थे।

विलकुल ही अलग थी जो सरकारी साख द्वारा समर्थित उत्पादकों की सहकारी समितियों की लासाल की मांग से आगे नहीं जाते थे और जो पूरे मज़दूर वर्ग को राजकीय सहायता के समर्थकों और आत्म-निर्भरता के समर्थकों में बांटते थे। (एंगेल्स का नोट।)

*डब्ल्यू० बीवेन।—सं०

एक तरफ़ तो थे विभिन्न कल्पनावादी पद्धतियों के अनुयायी – मुख्यतः इंगलैंड के ओवेनपंथी और फ़्रांस के फ़ूरियेवादी जो दोनों ही घटते-घटते उस समय संकीर्ण पंथ मात्र रह गये थे और धीरे-धीरे ख़त्म हो रहे थे। दूसरी ओर थे नाना प्रकार के सामाजिक नीम-हकीम जो, पूंजी और मुनाफ़े को ज़रा भी क्षति पहुंचाये विना, अपनी तरह-तरह की सर्वव्याधिहर महौषधियों और तरह-तरह की पैवन्दवाज़ी के ज़रिए सामाजिक बुराइयों का अन्त कर देना चाहते थे। ये दोनों ही तरह के लोग मज़दूर आन्दोलन के वाहर के लोग थे और वे अपने समर्थन के लिए "शिक्षित" वर्गों की आस लगाते थे। इसके विपरीत, मज़दूर वर्ग का वह भाग जो यह विश्वास करते हुए कि केवल राजनीतिक क्रान्ति पर्याप्त नहीं है, समाज के आमूल पुनर्निर्माण की मांग करता था, उस समय अपने को **कम्युनिस्ट** कहता था। यह अब भी अनगढ़, मात्र सहजभावी और प्रायः किंचित अपक्व कम्युनिज़्म था। तो भी उसमें इतनी शक्ति थी कि उसने काल्पनिक कम्युनिज़्म की दो पद्धतियों को जन्म दिया – फ़्रांस में कावे के "इकारियन" कम्युनिज़्म और जर्मनी में वाइटलिंग के कम्युनिज़्म को। १८४७ में समाजवाद पूंजीवादी आंदोलन का और कम्युनिज़्म मज़दूर आन्दोलन का सूचक था। कम से कम यूरोपीय महाद्वीप में समाजवाद सर्वथा सम्भ्रांत था जब कि कम्युनिज़्म इसका बिलकुल उल्टा था। और चूंकि हमारी उस समय ही यह पक्की राय वन चुकी थी कि "मज़दूर वर्ग का उद्धार स्वयं मज़दूर वर्ग के हाथों ही हो सकता है", इसलिए इन दोनों में से हम कौनसा नाम चुनें, इसमें हमें कोई हिचकिचाहट नहीं हो सकती थी। और न तब से इस नाम का त्याग करने का हमें कभी ख़याल भी हुआ है।

"दुनिया के मज़दूरो, एक हो!" – जब यह नारा हमने आज से बयालीस साल पहले – प्रथम पेरिस क्रांति के ठीक पहले, जब सर्वहारा वर्ग अपनी ख़ुद की मांगों को लेकर सामने आया था,[10] – बुलंद किया था, तब बहुत थोड़े लोगों ने उसे प्रतिध्वनित किया था। किन्तु २८ सितम्बर १८६४ को पश्चिमी यूरोप के अधिकांश देशों के सर्वहाराओं ने मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ की स्थापना की जिसकी स्मृति गौरवपूर्ण है। यह सच है कि इन्टरनेशनल स्वयं केवल नौ साल जीवित रहा। किन्तु उसने सभी देशों के सर्वहाराओं का जो अविनाशी एका क़ायम कर दिया था वह आज भी जीवित है और पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली है। इसका सबसे बड़ा साक्षी आज का यह दिन है, क्योंकि आज के दिन[11], जब मैं ये पंक्तियां लिख

रहा हूं, यूरोप और अमरीका के सर्वहारा अपनी सामरिक शक्तियों का दिग्दर्शन कर रहे हैं जो पहली बार मैदान में उतारी गयी हैं, एक सेना की तरह, एक झंडे के नीचे, एक तात्कालिक उद्देश्य के लिए—१८६६ में इन्टरनेशनल की जेनेवा कांग्रेस द्वारा और फिर १८८९ में पेरिस की मजदूर-कांग्रेस द्वारा घोषित आठ घंटे के स्टैंडर्ड काम के दिन को क़ानून द्वारा स्थापित कराने के उद्देश्य से—मैदान में उतारी गयी हैं। और आज के दृश्य से सभी देशों के पूंजीपतियों और ज़मींदारों की आंखें खुल जायेंगी और वे देख लेंगे कि तमाम देशों के मज़दूर आज सचमुच एक हैं।

काश, आज मार्क्स भी अपनी आंखों से इस दृश्य को देखने के लिए मेरे साथ होते!

फ़्रे० एंगेल्स

लंदन, १ मई, १८९०

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र

आज यूरोप को एक भूत आतंकित कर रहा है—कम्युनिज़्म का भूत। इस भूत को भगाने के लिए पोप और ज़ार, मेटर्निख़ और गीज़ो, फ़्रांसीसी उग्रवादी और जर्मन ख़ुफ़िया पुलिस—बूढ़े यूरोप के सारे सत्ताधारी एक हो गये हैं।

कौनसी ऐसी विरोधी पार्टी है जिसे उसके सत्तारूढ़ विरोधियों ने कम्युनिस्ट कहकर बदनाम न किया हो? कौनसी ऐसी विरोधी पार्टी है जिसने पलटकर अपने से अधिक आगे बढ़ी हुई विरोधी पार्टियों और अपने प्रतिक्रियावादी विरोधियों—दोनों पर ही कम्युनिस्ट होने का आरोप लगाकर उनकी भर्त्सना न की हो?

इस तथ्य से दो बातें निकलती हैं:

१. यूरोप के सभी सत्ताधारियों ने स्वीकार कर लिया है कि कम्युनिज़्म स्वयं एक शक्ति है।

२. अब समय आ गया है कि कम्युनिस्ट खुले आम तमाम दुनिया के सामने अपने विचारों, उद्देश्यों और अपनी प्रवृत्तियों को प्रकाशित करें और कम्युनिज़्म के भूत की इस नानी की कहानी का पार्टी के अपने एक घोषणापत्र द्वारा ख़ात्मा कर दें।

इसी उद्देश्य से विभिन्न राष्ट्रों के कम्युनिस्ट लन्दन में जमा हुए और उन्होंने निम्नलिखित 'घोषणापत्र' तैयार किया जो अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी, जर्मन, इतालवी, फ़्लेमिश और डेनिश भाषाओं में प्रकाशित किया जायेगा।

१

पूंजीपति और सर्वहारा*

अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास** वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है।

स्वतंत्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेबियन, सामन्त और भूदास,

---

*पूंजीपति से मतलब आधुनिक पूंजीपति वर्ग से, अर्थात् सामाजिक उत्पादन के साधनों के स्वामियों और उजरती मज़दूरों के मालिकों से है। सर्वहारा से मतलब आधुनिक उजरती मज़दूरों से है, जिनके पास उत्पादन का अपना ख़ुद का कोई साधन नहीं होता, इसलिए जो जीवित रहने के लिए अपनी श्रम-शक्ति को बेचने को विवश होते हैं। (१८८८ के अंग्रेज़ी संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

**अर्थात् समस्त लिपिबद्ध इतिहास। १८४७ में समाज का पूर्व-इतिहास, अर्थात् लिखित इतिहास के पहले का सामाजिक संगठन, बिलकुल अज्ञात था। उसके बाद हक्स्ट्हाउज़ेन ने रूस में भूमि के सामुदायिक स्वामित्व का पता लगाया; मारेर ने सिद्ध किया कि यही वह सामाजिक आधार था, जिसे ग्रहण कर ट्यूटन नस्लों ने इतिहास में पदार्पण किया और धीरे-धीरे यह पता चला कि भारत से आयरलैंड तक हर जगह ग्राम-समुदाय ही समाज का आदि रूप था या रहा होगा। इस आदिम कम्युनिस्ट समाज के आंतरिक संगठन का अपने ठेठ रूप में स्पष्टीकरण मौर्गन की गोत्र के असली स्वरूप और क़बीले के साथ उसके वास्तविक संबंध की महती खोज द्वारा हुआ। इस आदिम समुदाय के मिट जाने के साथ समाज में अलग-अलग और अंततः विरोधी वर्गों का विभेद होने लगता है। मैंने अपनी पुस्तक *«Der Ursprung der Familie, des Privateigentums und des Staats»*, 2. Aufl., Stuttgart, 1886, ('परिवार, निजी संपत्ति तथा राज्य की उत्पत्ति', दूसरा जर्मन संस्करण, स्टुटगार्ट, १८८६) में इन ग्राम-समुदायों के विघटन की प्रक्रिया पर नज़र दौड़ाने की कोशिश की है। (१८८८ के अंग्रेज़ी संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

शिल्प-संघ का उस्ताद-कारीगर* और मज़दूर-कारीगर—संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीड़ित बराबर एक दूसरे का विरोध करते आये हैं। वे कभी छिपे, कभी प्रकट रूप से लगातार एक दूसरे से लड़ते रहे हैं, जिस लड़ाई का अन्त हर बार या तो पूरे समाज के क्रांतिकारी पुनर्गठन में, या सघर्षरत दोनों ही वर्गों की वर्बादी में हुआ है।

इतिहास के विगत युगों में हम प्रायः हर जगह विभिन्न सामाजिक श्रेणियों में विभाजित समाज का एक पेचीदा ढांचा पाते हैं—सामाजिक श्रेणियों की नानारूपी दर्जाबन्दी। प्राचीन रोम में पेट्रीशियन, नाइट, प्लेबियन और दास मिलते हैं। मध्ययुग में सामंती लार्ड, अधीन जागीरदार, उस्ताद-कारीगर, मज़दूर-कारीगर, भूदास दिखाई देते हैं; और लगभग इन सभी वर्गों में गौण दर्जाबन्दियां होती हैं।

आधुनिक पूंजीवादी समाज ने, जो सामन्ती समाज के ध्वंस से पैदा हुआ है, वर्ग-विरोधों को ख़तम नहीं किया। उसने केवल पुराने के स्थान पर नये वर्ग, उत्पीड़न की पुरानी अवस्थाओं के स्थान पर नयी अवस्थाएं, और संघर्ष के पुराने रूपों की जगह नये रूप खड़े कर दिये हैं।

किन्तु दूसरे युगों की तुलना में हमारे युग की, पूंजीवादी युग की विशेषता यह है कि इसने वर्ग-विरोधों को सरल बना दिया है। आज पूरा समाज दो विशाल शत्रु शिविरों में, एक दूसरे के ख़िलाफ़ खड़े दो विशाल वर्गों में—पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों में—अधिकाधिक विभक्त होता जा रहा है।

मध्ययुग के भूदासों से प्रारम्भिक शहरों के अधिकारपत्र प्राप्त बर्गर पैदा हुए थे। इन्हीं बर्गरों से आगे चलकर प्रथम पूंजीवादी तत्त्वों का विकास हुआ।

अमरीका की खोज और गुडहोप केप का रास्ता निकाल लेने से उदीयमान पूंजीपति वर्ग के प्रसार के लिए नया क्षेत्र खुल गया। भारत और चीन के बाज़ार, अमरीका के उपनिवेशन, उपनिवेशों के साथ व्यापार, विनिमय के साधनों और माल के उत्पादन में आम वृद्धि ने वाणिज्य, नौपरिवहन और

---

*शिल्प-संघ के उस्ताद-कारीगर से मतलब शिल्प-संघ के अध्यक्ष से नहीं, उसके पूर्ण अधिकारप्राप्त सदस्य से है, जिसे शिल्प-संघ के अंदर उस्ताद का स्थान प्राप्त था। (१८८८ के अंग्रेजी संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

उद्योग को, और फलस्वरूप लड़खड़ाते हुए सामन्ती समाज के क्रान्तिकारी तत्त्वों को, तेज़ी के साथ विकास करने का अभूतपूर्व अवसर दिया।

उद्योग की सामंती प्रणाली, जिसमें औद्योगिक उत्पादन पर वन्द शिल्प-संघों का एकाधिकार होता था, नये बाज़ारों की बढ़ती हुई ज़रूरतों की पूर्ति के लिए अब काफ़ी न थी। अतः उसकी जगह मैनुफ़ेक्चर की प्रथा ने ले ली। शिल्प-संघ के उस्ताद-कारीगरों को मैनुफ़ेक्चरिंग मध्यम वर्ग ने ढकेलकर एक ओर कर दिया। अलग-अलग निगमित शिल्प-संघों का श्रम-विभाजन एक ही अकेले वर्कशाप के श्रम-विभाजन के आगे लुप्त हो गया।

इस वीच बाज़ार बराबर बढ़ते गये और माल की मांग भी बराबर बढ़ती गयी। ऐसी दशा में मैनुफ़ेक्चर की प्रथा भी नाकाफ़ी सिद्ध होने लगी। तब भाप और मशीन के उपयोग ने औद्योगिक उत्पादन में क्रान्ति पैदा कर दी। अतः अव मैनुफ़ेक्चर का स्थान दैत्याकार आधुनिक उद्योग ने, और औद्योगिक मध्यम वर्ग का स्थान औद्योगिक धन्नासेठों ने, उद्योग के बड़े-बड़े लशकरों के मालिकों ने, आधुनिक पूंजीपतियों ने ले लिया।

आधुनिक उद्योग ने विश्व-बाज़ार की स्थापना की है, जिसके लिए अमरीका की खोज ने पथ प्रशस्त कर दिया था। इस बाज़ार ने वाणिज्य, नौपरिवहन और स्थल संचार की ज़बर्दस्त उन्नति की। आगे चलकर इस उन्नति का प्रभाव उद्योग के विस्तरण पर पड़ा; और जिस अनुपात में उद्योग, वाणिज्य, नौपरिवहन और रेलवे में वृद्धि हुई, उसी अनुपात में पूंजीपति वर्ग ने उन्नति की और उसकी पूंजी बढ़ी, और उसने मध्ययुग से चले आते हुए प्रत्येक वर्ग को पृष्ठभूमि में ढकेल दिया।

चुनांचे हम देखते हैं कि किस तरह आधुनिक पूंजीपति वर्ग स्वयं एक लम्बे विकासक्रम की, उत्पादन और विनिमय की प्रणालियों में हुई अनेक क्रान्तियों की उपज है।

पूंजीपति वर्ग की उन्नति के प्रत्येक पग के साथ उस वर्ग की तदनुरूप राजनीतिक उन्नति हुई। सामन्तों के प्रभुत्व काल में वह एक उत्पीड़ित वर्ग था। मध्ययुगीन कम्यून* में वह सशस्त्र और स्वशासित संघ था; कहीं पर

---

*फ़्रांस के नवोदित नगरों ने अपने सामन्ती प्रभुओं और मालिकों से स्थानीय स्वशासन और "तृतीय श्रेणी" के रूप में राजनीतिक अधिकार जीतने के पहले ही अपने को "कम्यून" कहना शुरू कर दिया था। ग्राम

(जैसे इटली और जर्मनी में) स्वतंत्र शहरी प्रजातंत्र और कहीं पर (जैसे फ़्रांस में) राजतंत्रीय श्रेणी-व्यवस्था की कराधीन "तृतीय श्रेणी"; बाद में मैनुफ़ेक्चर की प्रथा के दौरान उसने अभिजात-वर्ग के प्रतिसंतुलन के रूप में, अर्द्धसामंती अथवा पूर्ण निरंकुश राजतंत्रों की सेवा की, और, शक्तिशाली राजतन्त्रों की आधारशिला का काम किया तथा अंततः आधुनिक उद्योग और विश्व-बाज़ार की स्थापना के बाद आधुनिक प्रातिनिधिक राज्य में अनन्य रूप से अपने लिए पूर्ण राजनीतिक प्रभुत्व जीत लिया। आधुनिक राज्य का कार्यकारी मंडल पूरे पूंजीपति वर्ग के सम्मिलित हितों का प्रबन्ध करनेवाली कमेटी के अलावा और कुछ नहीं है।

पूंजीपति वर्ग ने इतिहास में बहुत ही क्रान्तिकारी भूमिका अदा की है।

पूंजीपति वर्ग ने, जहां पर भी उसका पलड़ा भारी हुआ, वहां सभी सामन्ती, पितृसत्तात्मक और "काव्यात्मक" संबंधों का अन्त कर दिया। उसने मनुष्य को अपने "स्वाभाविक बड़ों" के साथ बांध रखनेवाले नाना प्रकार के सामंती सम्बन्धों को निर्ममता से तोड़ डाला; और नग्न स्वार्थ के, "नक़द पैसे-कौड़ी" के हृदयशून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा संबंध बाक़ी नहीं रहने दिया। धार्मिक श्रद्धा के स्वर्गोपम आनन्दातिरेक को, वीरोचित उत्साह और कूपमंडूकतापूर्ण भावुकता को उसने आना-पाई के स्वार्थी हिसाब-किताब के बर्फ़ीले पानी में डुबा दिया है। मनुष्य के वैयक्तिक मूल्य को उसने विनिमय-मूल्य बना दिया है, और पहले के अनगिनत अनपहरणीय अधिकारपत्र द्वारा प्रदत्त स्वातंत्र्यों की जगह अब उसने उस एक विवेकरहित स्वातंत्र्य की स्थापना की है जिसे मुक्त व्यापार कहते हैं। एक शब्द में, धार्मिक और राजनीतिक धोखे की टट्टी के पीछे छिपे

तौर से यहां पूंजीपति वर्ग के आर्थिक विकास के सम्बन्ध में इंगलैंड को और राजनीतिक विकास के सम्बन्ध में फ़्रांस को उदाहरण माना गया है। (१८८८ के अंग्रेज़ी संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

इटली और फ़्रांस के शहरियों ने अपने शहरी समुदायों को, सामन्ती प्रभुओं से स्वशासन के अपने प्रारम्भिक अधिकारों को ख़रीद लेने या छीन लेने के बाद, यही नाम दिया था। (१८९० के जर्मन संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

शोषण के स्थान पर उसने नग्न, निर्लज्ज, प्रत्यक्ष और पाशविक शोषण की स्थापना की है।

जिन पेशों के संबंध में अब तक लोगों के मन में आदर और श्रद्धा की भावना थी, उन सबका प्रभामण्डल पूंजीपति वर्ग ने छीन लिया। वकील, डाक्टर, पुरोहित, कवि और वैज्ञानिक, सभी को उसने अपना वेतन-भोगी मज़दूर बना लिया है।

पूंजीपति वर्ग ने पारिवारिक सम्बन्धों के ऊपर से भावुकता का पर्दा उतार फेंका है और पारिवारिक सम्बन्ध को केवल द्रव्य के सम्बन्ध में बदल दिया है।

पूंजीपति वर्ग ने दिखा दिया है कि मध्ययुग में शक्ति के उन बर्बर प्रदर्शनों के साथ-साथ, जिनकी प्रतिगामी लोग इतनी तारीफ़ करते हैं, अकर्मण्यता और आलस्य कैसे और क्यों जुड़े हुए थे। उसने सबसे पहले दिखलाया कि मानव की क्रियाशक्ति क्या कुछ कर सकती है। उसने जो जादू कर दिखाया है वह मिस्र के पिरामिडों, रोम की जल-प्रणाली और गोथिक गिरजाघरों से कहीं अधिक आश्चर्यजनक है। उसने जैसे बड़े-बड़े अभियान आयोजित किये हैं, उनके सामने पुराने समय के जातियों के समस्त निष्क्रमण और धार्मिक अभियान[12] फीके पड़ जाते हैं।

उत्पादन के औज़ारों में लगातार क्रांतिकारी परिवर्तन और उसके फलस्वरूप उत्पादन के सम्बन्धों में, और साथ-साथ समाज के सारे सम्बन्धों में क्रांतिकारी परिवर्तन के बिना पूंजीपति वर्ग जीवित नहीं रह सकता। इसके विपरीत, उत्पादन के पुराने तरीक़ों को ज्यों का त्यों बनाये रखना पहले के सभी औद्योगिक वर्गों के जीवित रहने की पहली शर्त थी। उत्पादन प्रणाली में निरंतर क्रान्तिकारी परिवर्तन, सभी सामाजिक अवस्थाओं में लगातार उथल-पुथल, शाश्वत अनिश्चयता और हलचल—ये चीज़ें पूंजीवादी युग को पहले के सभी युगों से अलग करती हैं। सभी स्थिर और जड़ीभूत सम्बन्ध, जिनके साथ प्राचीन और पूज्य पूर्वाग्रहों तथा मतों की एक पूरी शृंखला होती है, मिटा दिये जाते हैं, और सभी नये बननेवाले सम्बन्ध जड़ीभूत होने के पहले ही पुराने पड़ जाते हैं। जो कुछ भी ठोस है वह हवा में उड़ जाता है, जो कुछ पावन है, वह भ्रष्ट हो जाता है, और आख़िरकार मनुष्य संजीदा नज़र से जीवन की वास्तविक हालतों को, मानव मानव के आपसी सम्बन्धों को देखने के लिए मजबूर हो जाता है।

अपने माल के लिए बराबर फैलते हुए बाज़ार की ज़रूरत के कारण पूंजीपति वर्ग दुनिया के कोने-कोने की ख़ाक छानता है। वह हर जगह घुसने को, हर जगह पैर जमाने को, हर जगह सम्पर्क क़ायम करने को बाध्य होता है।

विश्व-बाज़ार का अपने लाभ के लिए इस्तेमाल कर पूंजीपति वर्ग ने हर देश में उत्पादन और खपत को एक सार्वभौमिक रूप दे दिया है। प्रतिगामियों की भावनाओं को गहरी चोट पहुंचाते हुए उसने उद्योग के पैरों के नीचे से उस राष्ट्रीय आधार को खिसका दिया है जिसपर वह खड़ा था। पुराने जमे-जमाये सभी राष्ट्रीय उद्योग या तो नष्ट कर दिये गये हैं या हर रोज़ नष्ट किये जा रहे हैं। उनका स्थान ऐसे नये-नये उद्योग ले रहे हैं, जिनकी स्थापना सभी सभ्य देशों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन जाती है; ऐसे नये उद्योग ले रहे हैं जो उत्पादन के लिए अब अपने देश का कच्चा माल नहीं इस्तेमाल करते, बल्कि दूर-दूर देशों से लाया हुआ कच्चा माल इस्तेमाल करते हैं; ऐसे उद्योग ले रहे हैं जिनके उत्पादन की खपत सिर्फ़ उसी देश में नहीं, बल्कि पृथ्वी के कोने-कोने में होती है। उन पुरानी आवश्यकताओं की जगह, जिन्हें स्वदेश की बनी चीज़ों से पूरा किया जाता था, अब ऐसी नयी-नयी आवश्यकताएं पैदा हो गयी हैं जिन्हें पूरा करने के लिए दूर-दूर के देशों और भू-भागों से माल मंगाना होता है। पुरानी स्थानीय और राष्ट्रीय पृथक्ता और आत्मनिर्भरता का स्थान चौतरफ़ा, अन्तःसम्पर्क ने, समस्त राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता ने ले लिया है। और भौतिक उत्पादन की ही तरह, बौद्धिक उत्पादन के जगत् में भी यही परिवर्तन घटित हुआ है। अलग-अलग राष्ट्रों की बौद्धिक कृतियां सार्वभौमिक सम्पत्ति बन गयी हैं। राष्ट्रीय एकांगीपन और संकुचित दृष्टिकोण दोनों अधिकाधिक असंभव होते जा रहे हैं, और अनेक राष्ट्रीय और स्थानीय साहित्यों से एक विश्व-साहित्य उत्पन्न हो रहा है।

उत्पादन के तमाम औज़ारों में तीव्र उन्नति और संचार-साधनों की विपुल सुविधाओं के कारण पूंजीपति वर्ग सभी राष्ट्रों को, यहां तक कि बर्बर से बर्बर राष्ट्रों को भी सभ्यता की परिधि में खींच लाता है। उसके माल की सस्ती क़ीमत एक ऐसा तोपख़ाना है जिसके ज़रिए वह सभी चीनी दीवारों को ढहा देता है, और विदेशियों के प्रति तीव्र और घोर घृणा रखनेवाली बर्बर जातियों को आत्मसमर्पण के लिए मजबूर कर देता है। प्रत्येक राष्ट्र को,

4–3036

इस भय से कि अन्यथा वह लुप्त हो जायेगा, वह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली अपनाने के लिए मजबूर कर देता है; वह उन्हें मजबूर करता है कि, जिसे वह सभ्यता कहता है, उसे वे भी अपने बीच क़ायम करें, अर्थात् ख़ुद पूंजीपति बन जायें। संक्षेप में, पूंजीपति वर्ग सारे जगत् को अपने ही सांचे में ढाल देता है।

पूंजीपति वर्ग ने देहातों को शहरों के अधीन कर दिया है। उसने बहुत बड़े-बड़े शहर बसाये हैं और, देहातों की तुलना में शहरों की जनसंख्या में प्रचंड वृद्धि की है, और इस प्रकार जनसंख्या के एक बड़े भाग को देहाती जीवन की जड़ता से मुक्त किया है। जिस तरह पूंजीपति वर्ग ने देहातों को शहरों का आश्रित बना दिया है, उसी तरह उसने बर्बर और अर्द्धबर्बर देशों को सभ्य देशों का, कृषक-राष्ट्रों को पूंजीवादी राष्ट्रों का, पूरब को पश्चिम का आश्रित बना दिया है।

बिखरी हुई आबादी, बिखरे हुए उत्पादन के साधनों और बिखरी हुई संपत्ति को पूंजीपति वर्ग अधिकाधिक ख़तम करता जाता है। बिखरी हुई आबादियों को उसने एक जगह जमा किया है, उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण किया है, और सम्पत्ति को चन्द लोगों के हाथों में संकेंद्रित कर दिया है। राजनीतिक केन्द्रीकरण इसका अवश्यम्भावी परिणाम है। जो प्रांत पहले स्वतंत्र या ढीले-ढाले ढंग से सम्बद्ध थे और जिनके हित और क़ानून, जिनकी सरकारें और कर-प्रणालियां अलग-अलग थीं, वे समूहबद्ध होकर, एक सरकार, एक विधि-संहिता, एक राष्ट्रीय वर्ग-हित, एक सीमा और कर-प्रणाली के साथ, आज एक राष्ट्र बन गये हैं।

मुश्किल से अपने एक शताब्दी के शासन-काल में पूंजीपति वर्ग ने जितनी शक्तिशाली और प्रचंड उत्पादन शक्तियां उत्पन्न की हैं, उतनी पिछली तमाम पीढ़ियों में मिलाकर भी नहीं उत्पन्न हुईं। प्राकृतिक शक्तियों का मनुष्य द्वारा वशीभूत किया जाना, मशीनों का उपयोग, उद्योग और खेतीबारी में रसायनशास्त्र का प्रयोग, वाष्प-चालित परिवहन, रेलवे, बिजली के तार, पूरे के पूरे महाद्वीपों का खेती के लिए साफ़ किया जाना, नदियों से नहरों की निकासी, पूरी आबादियों का मानो छूमंतर से पैदा हो जाना, क्या पिछली शताब्दियों में कोई यह सोच भी सकता था कि सामाजिक श्रम के गर्भ में ऐसी उत्पादक शक्तियां सोयी पड़ी हैं?

तो हम देखते हैं : उत्पादन और विनिमय के साधन, जिनकी बुनियाद पर पूंजीपति वर्ग ने अपना निर्माण किया है, सामन्ती समाज में ही पैदा हो गये थे। लेकिन उत्पादन और विनिमय के साधनों के विकास की एक ख़ास मंज़िल पर वे अवस्थाएं, जिनमें सामन्ती समाज उत्पादन और विनिमय करता था, अर्थात् कृषि और मैनुफ़ेक्चर उद्योग का सामन्ती संगठन, या यूं कहिए कि सम्पत्ति के सामंती सम्बन्ध, नवोन्नत उत्पादक शक्तियों से बिलकुल बेमेल हो गये; वे बहुत सारी बेड़ियां बन गये। उन्हें तोड़ फेंकना आवश्यक हो गया, और उन्हें तोड़ फेंका गया।

उनका स्थान पूंजीपति वर्ग के आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व और अनुकूल सामाजिक और राजनीतिक ढांचे के साथ मुक्त होड़ ने ले लिया।

आज हमारे सामने ठीक इसी तरह की गति हो रही है। उत्पादन, विनिमय और सम्पत्ति के अपने सम्बन्धों सहित आधुनिक पूंजीवादी समाज, वह समाज जिसने तिलस्म से उत्पादन और विनिमय के ऐसे विशाल साधनों को खड़ा कर दिया है, एक ऐसे जादूगर के समान है जिसने अपने जादू के ज़ोर से पाताल लोक की शक्तियों को बुला तो लिया है, लेकिन अब इन्हें क़ाबू में रखने में वह असमर्थ है। पिछले कई दशकों से उद्योग और वाणिज्य का इतिहास आधुनिक उत्पादक शक्तियों का उत्पादन की आधुनिक अवस्थाओं के ख़िलाफ़, सम्पत्ति के उन सम्बन्धों के ख़िलाफ़ विद्रोह का ही इतिहास है, जो पूंजीपति वर्ग और उसके शासन के अस्तित्व की शर्तें हैं। यहां पर उन वाणिज्यिक संकटों का ज़िक्र कर देना काफ़ी है जिनके नियतकालिक आवर्तन द्वारा पूंजीवादी समाज के अस्तित्व की, हर बार अधिक सख़्ती के साथ, परीक्षा होती है। इन संकटों में न केवल मौजूदा पैदावार के ही बल्कि पहले से उत्पन्न उत्पादक शक्तियों के भी एक बड़े भाग को भी समय-समय पर नष्ट कर दिया जाता है। इन संकटों के समय एक महामारी फट पड़ती है जो पिछले तमाम युगों में एक बिलकुल बेतुकी बात समझी जाती – अर्थात् अति-उत्पादन की महामारी। समाज अचानक अपने को क्षणिक बर्बरता की अवस्था में लौटा हुआ पाता है; ऐसा लगता है कि उसके जीवन-निर्वाह के तमाम साधनों को किसी अकाल या सर्वनाशी विश्व-युद्ध ने एकबारगी ख़तम कर दिया है; उद्योग और वाणिज्य नष्ट हो गये ज्ञात होते हैं। और यह सब क्यों? इसलिए कि समाज में सभ्यता का, जीवन-निर्वाह के साधनों का, उद्योग और वाणिज्य का अजीर्ण हो गया है। समाज की मौजूदा उत्पादक

शक्तियां पूंजीवादी सम्पत्ति की अवस्थाओं को अब उन्नत नहीं करतीं; बल्कि वे इन अवस्थाओं के लिए बहुत ज़्यादा मज़बूत बन जाती हैं, जिनकी बेड़ियों में वे जकड़ी हुई होती हैं; और जैसे ही वे इन बेड़ियों को तोड़ देती हैं वैसे ही वे पूरे पूंजीवादी समाज में अव्यवस्था पैदा कर देती हैं, पूंजीवादी संपत्ति को ख़तरे में डाल देती हैं। पूंजीवादी समाज की अवस्थायें उनके द्वारा उत्पादित संपत्ति को समाविष्ट करने के लिए बहुत संकुचित हो जाती हैं। पूंजीपति वर्ग इन संकटों से किस प्रकार अपने को उबारता है? एक ओर उत्पादक शक्तियों के एक बड़े भाग को ज़बरदस्ती नष्ट करके और दूसरी ओर नये-नये बाज़ारों पर क़ब्ज़ा जमा कर और साथ ही पुराने बाज़ारों का और भी मुकम्मल तौर पर इस्तेमाल कर—यानी और भी वृहत् और विनाशकारी संकटों के लिए पथ प्रशस्त कर, और इन संकटों के रोकने के साधनों को घटाकर।

जिन हथियारों से पूंजीपति वर्ग ने सामन्तवाद को मार गिराया था, वे ही अब पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ मोड़ दिये जाते हैं।

किन्तु पूंजीपति वर्ग ने ऐसे हथियारों को ही नहीं गढ़ा है जो उसका अन्त कर देंगे, बल्कि उसने ऐसे आदमियों को भी पैदा किया है जो इन हथियारों का इस्तेमाल करेंगे—आज के मज़दूर, आज का **सर्वहारा वर्ग**।

जिस अनुपात में पूंजीपति वर्ग का, अर्थात् पूंजी का विकास होता है, उसी अनुपात में सर्वहारा वर्ग का, आधुनिक मज़दूर वर्ग का भी विकास होता है—मज़दूरों के एक वर्ग का विकास होता है जो तभी तक ज़िन्दा रह सकते हैं जब तक उन्हें काम मिलता जाये, और उन्हें काम तभी तक मिलता है, जब तक उनका श्रम पूंजी में वृद्धि करता है। ये मज़दूर, जो अपने को अलग-अलग बेचने के लिए लाचार हैं, अन्य व्यापारिक माल की तरह ख़ुद भी माल हैं, और इसलिए वे होड़ के हर उतार-चढ़ाव तथा बाज़ार की हर तेज़ी-मन्दी के शिकार होते हैं।

मशीनों के विस्तृत इस्तेमाल तथा श्रम-विभाजन के कारण सर्वहाराओं के काम का वैयक्तिक चरित्र नष्ट हो गया है, और इसलिए यह काम उनके लिए आकर्षक नहीं रह गया है। मज़दूर मशीन का पुछल्ला बन जाता है और उससे सबसे सरल, नीरस और आसानी से प्राप्त योग्यता की मांग की जाती है। इसलिए मज़दूर के "उत्पादन" पर ख़र्च लगभग पूर्णतः उसके जीवन-निर्वाह और वंश-वृद्धि के लिए आवश्यक साधनों तक सीमित रह गया है। लेकिन हर

माल का, और इसलिए श्रम का भी दाम[13] उसके उत्पादन में लगे हुए ख़र्च के बराबर होता है। अतः जिस अनुपात में काम की अरुचिकरता में वृद्धि होती है, उसी अनुपात में मज़दूरी घटती है। यही नहीं, जिस मात्रा में मशीनों का इस्तेमाल तथा श्रम का विभाजन बढ़ता है उसी मात्रा में श्रम का बोझ भी बढ़ता जाता है, चाहे यह काम के घंटे बढ़ाने के ज़रिये हो या निर्धारित समय में मज़दूरों से अधिक काम लेने या मशीन की रफ़्तार बढ़ाने आदि के ज़रिये।

आधुनिक उद्योग ने पितृसत्तात्मक उस्ताद के छोटे-से वर्कशाप को औद्योगिक पूंजीपति के विशाल कारख़ाने में बदल दिया है। कारख़ाने में भरे झुंड के झुंड मज़दूर सैनिकों की तरह संगठित किये जाते हैं। औद्योगिक फ़ौज के सिपाहियों की तरह वे बाक़ायदा एक दरजावार तरतीब में बंटे हुए अफ़सरों और सार्जेंटों की कमान में रखे जाते हैं। वे केवल पूंजीपति वर्ग और पूंजीवादी राज्य के ही ग़ुलाम नहीं हैं; बल्कि हर दिन, हर घंटे वे मशीन के, ओवरसियर के, और सर्वोपरि ख़ुद कारख़ानेदार पूंजीपति के ग़ुलाम होते हैं। यह तानाशाही जितनी ही अधिक खुलकर यह घोषित करती है कि मुनाफ़ा ही उसका लक्ष्य और उद्देश्य है, उतनी ही अधिक वह तुच्छ, घृणित और कटु होती है।

शारीरिक श्रम में जितनी ही प्रवीणता और मशक़्क़त की ज़रूरत कम होती जाती है, अर्थात् जितनी ही आधुनिक उद्योग में प्रगति होती जाती है, उतना ही अधिक पुरुषों का स्थान स्त्रियां लेती जाती हैं। जहां तक मज़दूर वर्ग का प्रश्न है, आयु और लिंगभेद का कोई विशिष्ट सामाजिक हेतु नहीं रह गया है। सभी श्रम के औज़ार हैं—आयु और लिंगभेद के अनुसार किसी पर कम ख़र्च बैठता है, तो किसी पर ज़्यादा।

कारख़ानेदार द्वारा मज़दूर के शोषण का फ़िलहाल अन्त हुआ नहीं, और उसे नक़द मज़दूरी मिली नहीं, कि फ़ौरन पूंजीपति वर्ग के अन्य शोषक—मकान-मालिक, दूकानदार, गिरवी रखनेवाला महाजन, आदि—उस पर टूट पड़ते हैं।

मध्यम वर्ग के नीचे के स्तर—छोटे व्यापारी, दूकानदार, अवकाशप्राप्त आम व्यापारी, दस्तकार और किसान—ये सब धीरे-धीरे सर्वहारा वर्ग की स्थिति में पहुंच जाते हैं। कुछ तो इसलिए कि जिस पैमाने पर आधुनिक उद्योग चलता है उसके लिए उनकी छोटी पूंजी पूरी नहीं पड़ती और बड़े पूंजीपतियों के साथ होड़ में वह डूब जाती है, और कुछ इसलिए कि उत्पादन के नये-

नये तरीक़ों के निकल आने के कारण उनके विशिष्टीकृत कौशल का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। इस प्रकार आबादी के सभी वर्गों से सर्वहारा वर्ग की भर्ती होती है।

सर्वहारा वर्ग विकास की विभिन्न मंज़िलों से गुज़रता है। जन्म-काल से ही पूंजीपति वर्ग से उसका संघर्ष शुरू हो जाता है।

शुरू में अकेले-दुकेले मज़दूर लड़ते हैं, फिर एक कारख़ाने के मज़दूर मिलकर लड़ते हैं, तब फिर एक उद्योग के एक इलाक़े के सब मज़दूर एकसाथ उस पूंजीपति से मोर्चा लेते हैं जो उनका सीधे-सीधे शोषण करता है। उनका हमला उत्पादन की पूंजीवादी अवस्थाओं पर नहीं होता, बल्कि ख़ुद उत्पादन के औज़ारों पर होता है। वे अपनी मेहनत के साथ होड़ करनेवाले बाहर से मंगाये गये सामानों को नष्ट कर देते हैं, मशीनों को चूर कर देते हैं, फ़ैक्टरियों में आग लगा देते हैं और मध्ययुग के कारीगर की खोई हुई हैसियत को फिर से क़ायम करने की बलपूर्वक कोशिश करते हैं।

इस अवस्था में मज़दूर देश भर में बिखरे हुए असंबद्ध और अपनी ही आपसी होड़ के कारण बंटे हुए जन-समुदाय होते हैं। अगर कहीं मिलकर वे अपना एक ठोस संगठन बना भी लेते हैं तो यह अभी उनके सक्रिय एके का फल नहीं, बल्कि पूंजीपति वर्ग के एके का फल होता है, क्योंकि पूंजीपति वर्ग को अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पूरे सर्वहारा वर्ग को गतिशील करना पड़ता है और वह ऐसा करने में अभी कुछ समय तक समर्थ भी होता है। इसलिए इस अवस्था में सर्वहारा वर्ग अपने शत्रुओं से नहीं, बल्कि अपने शत्रुओं के शत्रुओं से, निरंकुश राजतंत्र के अवशेषों, भूस्वामियों, ग़ैर-औद्योगिक पूंजीपतियों, निम्न-पूंजीपतियों से लड़ता है। इस प्रकार, इतिहास की समस्त गतिविधि के सूत्र पूंजीपतियों के हाथों में केन्द्रित रहते हैं; इस प्रकार हासिल की गयी हर जीत पूंजीपति वर्ग की जीत होती है।

लेकिन उद्योग के विकास के साथ-साथ सर्वहारा वर्ग की संख्या में ही वृद्धि नहीं होती, बल्कि वह बड़ी-बड़ी जमातों में संकेन्द्रित हो जाता है, उसकी ताक़त बढ़ जाती है, और उसे अपनी इस ताक़त का अधिकाधिक एहसास होने लगता है। मशीनें जिस अनुपात में श्रम के तमाम भेदों को मिटाती जाती हैं, और लगभग सभी जगह मज़दूरी को एक ही निम्न स्तर पर लाती जाती हैं, उसी अनुपात में सर्वहारा वर्ग की पांतों में नाना प्रकार के हित

और जीवन की अवस्थायें अधिकाधिक एकसम होती जाती हैं। पूंजीपति वर्ग

की बढ़ती हुई आपसी होड़, और उससे पैदा होनेवाले व्यापारिक संकटों के कारण मज़दूरों की मज़दूरी और भी अस्थिर हो जाती है। मशीनों में लगातार सुधार, जो निरंतर तेज़ी के साथ बढ़ता जाता है, मज़दूरों की जीविका को अधिकाधिक अनिश्चित बना देता है। अलग-अलग मज़दूरों और अलग-अलग पूंजीपतियों की टक्करें अधिकाधिक रूप से दो वर्गों के बीच की टक्करों की शक्ल अख़्तियार करती जाती हैं। और तब पूंजीपतियों के विरुद्ध मज़दूर अपने संगठन (ट्रेड-यूनियनें) बनाने लगते हैं; मज़दूरी की दर को क़ायम रखने के लिए वे संघबद्ध होते हैं; समय-समय पर होनेवाले इन विद्रोहों के लिए पहले से तैयार रहने के निमित्त वे स्थायी संघों की स्थापना करते हैं। जहां-तहां उनकी लड़ाई बलवों का रूप धारण कर लेती है।

जब-तब मज़दूरों की जीत भी होती है लेकिन केवल वक़्ती तौर पर। उनकी लड़ाइयों का असली फल तात्कालिक नतीजों में नहीं, बल्कि मज़दूरों की निरंतर बढ़ती हुई एकता में है। आधुनिक उद्योग द्वारा उत्पन्न किये गये संचार-साधनों से, जो अलग-अलग जगहों के मज़दूरों को एक दूसरे के सम्पर्क में ला देते हैं, एकता के इस काम में मदद मिलती है। एक ही प्रकार के अनगिनत स्थानीय संघर्षों को केन्द्रीकृत करके उन्हें एक राष्ट्रीय वर्ग-संघर्ष का रूप देने के लिए बस इसी प्रकार के सम्पर्क की ज़रूरत थी। लेकिन प्रत्येक वर्ग-संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष होता है। और उस एके को, जिसे हासिल करने के लिए पुराने ज़माने में यातायात की घोर असुविधाओं के कारण मध्ययुग के बर्गरों को सदियां लगी थीं, रेलों की कृपा से आधुनिक मज़दूर कुछ ही वर्षों में हासिल कर लेते हैं।

सर्वहाराओं का अपना वर्गरूपी संगठन और फलतः एक राजनीतिक पार्टी के रूप में उनका संगठन उनकी आपसी होड़ के कारण बराबर गड़बड़ी में पड़ जाता है। लेकिन हर बार वह फिर उठ खड़ा होता है—पहले से भी अधिक मज़बूत, दृढ़ और शक्तिशाली बनकर। ख़ुद पूंजीपति वर्ग की भीतरी फूटों का फ़ायदा उठाकर वह मज़दूरों के ख़ास-ख़ास हितों को क़ानूनी तौर पर भी मनवा लेता है। इंगलैंड में दस घंटे के काम के दिन का क़ानून इसी तरह पास हुआ था।

पुराने समाज के विभिन्न वर्गों की टक्करें कुल मिलाकर सर्वहारा वर्ग के विकास को अनेक रूपों में मदद ही पहुंचाती हैं। पूंजीपति वर्ग अपने को लगातार लड़ाई में फंसा पाता है: पहले अभिजात वर्ग के साथ, फिर

ख़ुद पूंजीपति वर्ग के उन भागों के साथ, जिनके हित औद्योगिक प्रगति के प्रतिकूल हो जाते हैं और अन्ततः विदेशों के पूंजीपतियों के साथ तो सदा ही। इन तमाम लड़ाइयों में वह सर्वहारा वर्ग से अपील करने के लिए, उससे मदद मांगने के लिए और इस प्रकार उसे राजनीतिक अखाड़े में खींच लाने के लिए मजबूर होता है। अतः पूंजीपति वर्ग ख़ुद ही सर्वहारा वर्ग को अपने राजनीतिक और सामान्य शिक्षण के तत्त्वों से सम्पन्न कर देता है, अर्थात् उनके हाथ में पूंजीपति वर्ग से लड़ने के लिए हथियार देता है।

इसके अलावा, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, उद्योग की उन्नति के कारण, शासक वर्गों के पूरे के पूरे समूह सर्वहाराओं की अवस्था में पहुंचा दिये जाते हैं, या कम से कम उनके अस्तित्व की अवस्थाओं के लिए ख़तरा पैदा हो जाता है। ये लोग भी सर्वहारा वर्ग को ज्ञानोद्दीप्ति और प्रगति के नये तत्त्व प्रदान करते हैं।

अन्त में, वर्ग-संघर्ष जब निर्णायक घड़ी के नज़दीक पहुंच जाता है, तब शासक वर्ग में, वास्तव में सम्पूर्ण पुराने समाज के अन्दर हो रही विघटन की प्रक्रिया इतना प्रचंड और प्रत्यक्ष रूप धारण कर लेती है कि शासक वर्ग का एक छोटा-सा हिस्सा उससे अलग होकर क्रान्तिकारी वर्ग के साथ—उस वर्ग के साथ जिसके हाथ में भविष्य होता है—आ मिलता है। इसलिए, जिस तरह पहले के युग में सामन्तों का एक भाग टूटकर पूंजीपति वर्ग से आ मिला था, उसी तरह अब पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा, और ख़ास तौर से पूंजीवादी विचारकों का एक हिस्सा, जिसने अपने को इतिहास की समग्र गति को सैद्धांतिक रूप में समझने के योग्य स्तर पर उठा लिया है, सर्वहारा वर्ग से आकर मिल जाता है।

पूंजीपति वर्ग के मुक़ाबले में आज जितने भी वर्ग खड़े हैं उन सब में, सर्वहारा ही वास्तव में क्रांतिकारी वर्ग है। दूसरे वर्ग आधुनिक उद्योग के समक्ष ह्रासोन्मुख होकर अंततः विलुप्त हो जाते हैं; सर्वहारा वर्ग ही उसकी मौलिक और विशिष्ट उपज है।

निम्न मध्यम वर्ग के लोग—छोटे कारख़ानेदार, दूकानदार, दस्तकार, किसान—ये सब मध्यम वर्ग के अंश के रूप में अपने अस्तित्व को विनष्ट होने से बचाने के लिए पूंजीपति वर्ग से लोहा लेते हैं। इसलिए वे क्रान्तिकारी नहीं, रूढ़िवादी हैं। इतना ही नहीं, चूंकि वे इतिहास के चक्र को पीछे की ओर घुमाने की कोशिश करते हैं इसलिए वे प्रतिगामी हैं। अगर कहीं वे

क्रान्तिकारी हैं तो सिर्फ़ इसलिए हैं कि उन्हें वहुत जल्द सर्वहारा वर्ग में मिल जाना है; चुनांचे वे अपने वर्तमान नहीं वल्कि भविष्य के हितों की रक्षा करते हैं; अपने दृष्टिबिंदु को त्यागकर वे सर्वहारा का दृष्टिबिंदु अपना लेते हैं।

"लंपट-सर्वहारा", समाज का कचड़ा, पुराने समाज के निम्नतम स्तरों में से निकला हुआ और निष्क्रियता के कीचड़ में सड़ता हुआ समुदाय जहां-तहां सर्वहारा क्रांति की आंधी में पड़कर आंदोलन में खिंच आ सकता है, लेकिन उसके जीवन की अवस्थाएं उसे प्रतिक्रियावादी षड्यंत्र के भाड़े के टट्टू का काम करने के लिए कहीं अधिक मौजूं वना देती हैं।

सर्वहारा वर्ग की मौजूदा अवस्था में पुराने समाज की अवस्थाओं का अव नाम-निशान तक वाक़ी नहीं रह गया है। सर्वहारा के पास कोई सम्पत्ति नहीं है; अपनी स्त्री और अपने वच्चों के साथ उसका जो सम्वन्ध है वह पूंजीवादी पारिवारिक सम्वन्धों से विलकुल ही भिन्न है। आधुनिक औद्योगिक श्रम ने, पूंजी के आधुनिक जुए ने—जो इंगलैंड, फ़ांस, अमरीका और जर्मनी, सब जगह एक ही जैसा है—उसके राष्ट्रीय चरित्र के सभी चिह्नों का अन्त कर दिया है। क़ानून, नैतिकता, धर्म—ये सव उसके लिए पूंजीवादी ढकोसले मात्र हैं, जिनकी ओट में घातक पूंजीवादी हित छिपे हुए हैं।

आज तक जिन-जिन वर्गों का पलड़ा भारी हुआ है, उन सब ने अपने पहले से हासिल दरजे को मज़बूत बनाने के लिए समाज को अपनी अधिकरण-प्रणाली के अधीन करने की कोशिश की है। सर्वहारा वर्ग अपनी अव तक की अधिकरण-प्रणाली का और उसके साथ-साथ पहले की सभी अधिकरण-प्रणालियों का अन्त किये बिना समाज की उत्पादक शक्तियों का स्वामी नहीं वन सकता। सर्वहारा वर्ग के पास जोड़ने और सुरक्षित रखने के लिए अपना कुछ भी नहीं है; उसका जीवन-लक्ष्य निजी संपत्ति की पुरानी सभी गारंटियों और ज़मानतों को नष्ट कर देना है।

पहले के तमाम ऐतिहासिक आन्दोलन अल्पमत के आन्दोलन रहे हैं या अल्पमत के फ़ायदे के लिए रहे हैं। किन्तु सर्वहारा आन्दोलन विशाल बहुमत का, विशाल वहुमत के फ़ायदे के लिए होनेवाला चेतन तथा स्वतन्त्र आन्दोलन है। हमारे वर्तमान समाज का सबसे निचला स्तर, सर्वहारा वर्ग, शासकीय समाज की तमाम ऊपरी परतों को पलटे बिना हिल तक नहीं सकता, किसी प्रकार अपने को ऊपर नहीं उठा सकता।

पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ सर्वहारा वर्ग का संघर्ष, यद्यपि अन्तर्य की दृष्टि से नहीं, तथापि रूप की दृष्टि से शुरू में राष्ट्रीय संघर्ष होता है। हर देश के सर्वहारा वर्ग को, ज़ाहिर है, पहले अपने ही पूंजीपतियों से निबटना होगा।

सर्वहारा वर्ग के विकास की सबसे सामान्य अवस्थाओं का वर्णन करते हुए हमने वर्तमान समाज के अन्दर न्यूनाधिक प्रच्छन्न रूप से चलनेवाले गृहयुद्ध का उसी बिन्दु तक चित्रण किया है, जहां वह युद्ध प्रत्यक्ष क्रान्ति के रूप में भड़क उठता है और जहां पूंजीपति वर्ग का बलात् पर्युत्क्षेपण सर्वहारा वर्ग की प्रभुता के लिए आधार प्रस्तुत करता है।

अभी तक, जैसा कि हम देख चुके हैं, हर तरह का समाज उत्पीड़क और उत्पीड़ित वर्गों के विरोध पर क़ायम रहा है। लेकिन किसी भी वर्ग का उत्पीड़न करने के लिए यह ज़रूरी है कि उसे कम से कम ऐसी सुविधाएं दी जायें जिससे और न सही तो, एक ग़ुलाम वर्ग के रूप में, वह ज़िन्दा रह सके। भूदास व्यवस्था के युग में भूदास ने उन्नति कर कम्यून की सदस्यता हासिल कर ली थी, उसी तरह जैसे सामंती निरंकुशता के जुए के नीचे निम्न-पूंजीपति पूंजीपति बन गया था। लेकिन आधुनिक मज़दूर की दशा बिलकुल उल्टी है। उद्योग की उन्नति के साथ, ऊपर उठने के बजाय, वह स्वयं अपने वर्ग के अस्तित्व के लिए आवश्यक अवस्थाओं के स्तर के नीचे गिरता जाता है। वह कंगाल हो जाता है और उसकी मुफ़लिसी आबादी और दौलत से भी ज़्यादा तेजी से बढ़ती है। ऐसी स्थिति में यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीपति वर्ग अब समाज का शासक बना रहने और समाज पर अपने अस्तित्व की अवस्थाओं को, अनिवार्य नियम के रूप में, लादने के अयोग्य है। पूंजीपति वर्ग शासन करने के अयोग्य है क्योंकि वह अपने ग़ुलाम को ग़ुलामी की हालत में ज़िन्दा रहने की गारंटी देने में अशक्त है, क्योंकि वह उसके जीवन-स्तर में ऐसी गिरावट नहीं रोक सकता जिसके फलस्वरूप वह उसकी कमाई खाने के बजाय उसका पेट भरने को मजबूर हो जाता है। समाज इस पूंजीपति वर्ग के मातहत अब नहीं रह सकता—दूसरे शब्दों में, पूंजीपति वर्ग का अस्तित्व अब समाज से मेल नहीं खाता।

पूंजीपति वर्ग के अस्तित्व और प्रभुत्व की लाज़िमी शर्त पूंजी का निर्माण और वृद्धि है; और पूंजी की शर्त है उजरती श्रम। उजरती श्रम पूर्णतया मज़दूरों की आपसी होड़ पर निर्भर है। उद्योग की उन्नति, जिसे पूंजीपति वर्ग

अनिवार्यतः अग्रसर करता है, होड़ के कारण उत्पन्न मज़दूरों के अलगाव की जगह पर उनका संसर्गजनित क्रान्तिकारी एका क़ायम कर देती है। इस तरह आधुनिक उद्योग का विकास पूंजीपति वर्ग के पैरों के नीचे से उस ज़मीन को ही खिसका देता है जिसके आधार पर वह उत्पादन करता है और पैदावार को हड़प लेता है। अतः पूंजीपति वर्ग सर्वोपरि अपनी क़ब्र खोदनेवालों को पैदा करता है। उसका पतन और सर्वहारा वर्ग की विजय दोनों समान रूप से अनिवार्य हैं।

२

सर्वहारा और कम्युनिस्ट

समग्र रूप से सर्वहारा वर्ग के साथ कम्युनिस्टों का क्या सम्बन्ध है?

कम्युनिस्ट मज़दूर वर्ग की दूसरी पार्टियों के मुक़ावले में अपनी कोई अलग पार्टी नहीं बनाते।

समग्र रूप से सर्वहारा वर्ग के हितों के अलावा और उनसे पृथक् उनका कोई हित नहीं है।

वे सर्वहारा आन्दोलन को किसी ख़ास नमूने पर ढालने या उसे विशेष रूप प्रदान करने के लिए अपना कोई संकीर्णतावादी सिद्धान्त नहीं स्थापित करते।

कम्युनिस्टों और दूसरी मज़दूर पार्टियों में सिर्फ़ यह अंतर है कि: १. विभिन्न देशों के सर्वहाराओं के राष्ट्रीय संघर्षों में राष्ट्रीयता के तमाम भेद-भावों को छोड़कर वे पूरे सर्वहारा वर्ग के सामान्य हितों की ओर इशारा करते हैं और उन्हें सामने लाते हैं; २. पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ सर्वहारा वर्ग का संघर्ष जिन विभिन्न मंज़िलों से गुज़रता हुआ आगे बढ़ता है उनमें हमेशा और हर जगह वे समग्र आन्दोलन के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

अतः एक ओर व्यावहारिक दृष्टि से कम्युनिस्ट हर देश की मज़दूर पार्टियों के सबसे उन्नत और कृतसंकल्प जुज़ होते हैं, ऐसे जुज़ जो औरों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं; दूसरी ओर, सैद्धान्तिक दृष्टि से, सर्वहारा वर्ग के विशाल जन-समुदाय की अपेक्षा इस अर्थ में श्रेष्ठ हैं कि वे सर्वहारा आन्दोलन के आगे बढ़ने के रास्ते की, उसके हालात और साधारणतः उसके अंतिम नतीजों की सुस्पष्ट समझ रखते हैं।

हृद तक ज़िन्दा रहने दिया जाता है जहां तक कि शासक वर्ग के स्वार्थों को उसकी ज़रूरत होती है।

पूंजीवादी समाज में जीवित श्रम संचित श्रम को वढ़ाने का केवल एक साधन है। कम्युनिस्ट समाज में संचित श्रम मज़दूर के अस्तित्व को व्यापक, सम्पन्न और उन्नत बनाने का साधन है।

इस प्रकार, पूंजीवादी समाज में वर्तमान के ऊपर अतीत हावी होता है; कम्युनिस्ट समाज में अतीत के ऊपर वर्तमान हावी होता है। पूंजीवादी समाज में पूंजी स्वतंत्र है और उसका व्यक्तित्व होता है; किन्तु जीवित व्यक्ति परतंत्र है और उसका कोई व्यक्तित्व नहीं होता।

फिर भी पूंजीपति वर्ग कहता है कि इस परिस्थिति को ख़तम कर देने का मतलब व्यक्तित्व और स्वतंत्रता को ख़तम कर देना है! और यह ठीक ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम पूंजीवादी व्यक्तित्व, पूंजीवादी स्वतंत्रता और पूंजीवादी स्वाधीनता को जड़-मूल से ख़तम कर देना चाहते हैं।

मौजूदा पूंजीवादी अवस्थाओं के अन्तर्गत स्वाधीनता का अर्थ है मुक्त व्यापार, मुक्त क्रय-विक्रय।

लेकिन अगर क्रय-विक्रय मिट जाता है, तो मुक्त क्रय-विक्रय भी मिट जायेगा। हमारे पूंजीपतियों की मुक्त क्रय-विक्रय की वातों को, आम स्वाधीनता के बारे में उनकी तमाम "बड़ी-बड़ी बातों" को, अगर मध्ययुग के सीमित क्रय-विक्रय के या उस समय के बंधनों में जकड़े हुए व्यापारियों के मुक़ाबले में देखा जाये, तो उनका कुछ मतलब हो सकता है; लेकिन क्रय-विक्रय तथा उत्पादन की पूंजीवादी अवस्थाओं और स्वयं पूंजीपति वर्ग के कम्युनिस्ट उन्मूलन के मुक़ाबले में वे निरर्थक हैं।

हम निजी सम्पत्ति को ख़तम कर देना चाहते हैं, इसे सुनकर आपके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। लेकिन आपके मौजूदा समाज में दस में से नौ आदमियों के लिए निजी सम्पत्ति अभी से ही ख़तम हो चुकी है; चन्द लोगों के पास यदि निजी सम्पत्ति है तो उसका एकमात्र कारण यही है कि दस में नौ आदमियों के पास वह नहीं है। इसलिए, आप हमारे ख़िलाफ़ सम्पत्ति की ऐसी व्यवस्था को ख़तम कर देने की इच्छा रखने का जुर्म लगाते हैं जिसके अस्तित्व के लिए ज़रूरी शर्त यह है कि समाज के अधिकांश भाग के पास कोई सम्पत्ति न हो।

संक्षेप में आपका आरोप यह है कि हम आपकी सम्पत्ति ख़तम कर देना चाहते हैं। तो यह बिलकुल ठीक है। हम ठीक यही चीज़ करना चाहते हैं।

आपका कहना है कि श्रम का ज्यों ही पूंजी, मुद्रा या लगान के रूप में—एक ऐसी सामाजिक शक्ति के रूप में जिसपर इजारेदारी क़ायम की जा सकती है—रूपान्तरण बन्द हो जायेगा, यानी ज्यों ही वैयक्तिक सम्पत्ति का पूंजीवादी सम्पत्ति में, पूंजी में रूपान्तरण बन्द हो जायेगा, त्यों ही व्यक्तित्व का लोप हो जायेगा।

तो आपको यह क़बूल करना होगा कि "व्यक्ति" का आपके लिए एक ही अर्थ है—पूंजीपति या सम्पत्ति का मध्यमवर्गीय स्वामी। इस व्यक्ति को तो अवश्य ही रास्ते से हटा देना चाहिए, उसका होना अवश्य ही असम्भव बना देना चाहिए।

कम्युनिज़्म किसी आदमी को समाज की उपज को हस्तगत करने की शक्ति से वंचित नहीं करता; वह केवल इस हस्तगतकरण के ज़रिये दूसरों के श्रम को वशीभूत करने की शक्ति से उसे वंचित करता है।

यह कहा गया है कि यदि निजी सम्पत्ति को ख़तम कर दिया गया तो सारा काम-काज ठप हो जायेगा और दुनिया भर में आलस्य छा जायेगा।

अगर यह बात सही है तो पूंजीवादी समाज को, घोर आलस्य के कारण न जाने कब का रसातल पहुंच जाना चाहिए था; क्योंकि इस समाज के जो सदस्य मेहनत करते हैं वे कुछ नहीं प्राप्त करते, और जो प्राप्त करते हैं—वे काम नहीं करते। वास्तव में यह पूरा तर्क इसी द्विरुक्ति की एक अभिव्यक्ति है कि अगर पूंजी नहीं रह जायेगी तो उजरती श्रम भी नहीं रह जायेगा।

भौतिक वस्तुओं के उत्पादन और हस्तगतकरण की कम्युनिस्ट प्रणाली के सम्बन्ध में जो आरोप लगाये गये हैं, वे ही आरोप उसी तरह से बौद्धिक रचनाओं के उत्पादन और हस्तगतकरण की कम्युनिस्ट प्रणालियों के सम्बन्ध में भी लगाये जाते हैं। जिस तरह से वर्ग-सम्पत्ति का विलोपन पूंजीपति वर्ग को उत्पादन का ही विलोपन ज्ञात होता है, उसी तरह से वर्ग-संस्कृति का विलोपन उसे सारी संस्कृति का विलोपन ज्ञात होता है।

वह संस्कृति, जिसके विनाश के बारे में वह इतना रोता-धोता है, अधिकांश जनता के लिए महज़ मशीन की तरह काम करने की प्रशिक्षा मात्र है।

लेकिन हमसे उलझने से तब तक कोई लाभ नहीं है जब तक पूंजीवादी सम्पत्ति के उन्मूलन को हमारे इरादे को आप आज़ादी, संस्कृति, क़ानून,

आदि की अपनी पूंजीवादी धारणाओं के मापदंड से नापते हैं; क्योंकि आपके विचार स्वयं ही पूंजीवादी उत्पादन और पूंजीवादी सम्पत्ति की अवस्थाओं की उपज हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह कि आपका क़ानून केवल आपके वर्ग की इच्छा मात्र है जिसे क़ानून वनाकर आपने सब के ऊपर लाद दिया है,—एक ऐसी इच्छा है जिसका मूलभूत स्वरूप और जिसकी दिशा आपके वर्ग के अस्तित्व की आर्थिक अवस्थाओं द्वारा निर्धारित होती है।

वह स्वार्थपूर्ण भ्रम, जो आपको उन सामाजिक रूपों को, जो आपकी मौजूदा उत्पादन प्रणाली और संपत्ति के रूप द्वारा उत्पन्न होते हैं—उन ऐतिहासिक सम्बन्धों को जो उत्पादन के विकास के सिलसिले में उत्पन्न और विलीन होते हैं—प्रकृति और तर्कबुद्धि के शाश्वत नियमों में रूपान्तरित करने के लिए प्रेरित करता है, एक ऐसा भ्रम है जिसके शिकार आपके पूर्ववर्ती सभी शासक होते आये हैं। प्राचीन युग की सम्पत्ति के सम्बन्ध में जिस चीज़ को आप स्पष्टता से देखते हैं, सामन्ती सम्पत्ति के सम्बन्ध में जिस चीज़ को आप स्वीकार करते हैं, उसे ख़ुद अपनी पूंजीवादी सम्पत्ति के सम्बन्ध में मंज़ूर करना आपके लिए निश्चय ही गुनाह है।

परिवार का विनाश! कम्युनिस्टों के इस कलंकपूर्ण प्रस्ताव से कट्टर से कट्टर उग्रवादी भी भड़क उठते हैं।

मौजूदा परिवार, पूंजीवादी परिवार, किस आधार पर खड़ा है? पूंजी पर, निजी फ़ायदे पर। अपने पूर्ण विकसित रूप में इस तरह का परिवार केवल पूंजीपति वर्ग के बीच पाया जाता है। इस चीज़ का संपूरक सर्वहारा वर्ग में परिवार का वस्तुतः अभाव और वाज़ारू वेश्यावृत्ति है।

यह पूरक जब मिट जायेगा तो सामान्य क्रम में पूंजीवादी परिवार भी मिट जायेगा, और पूंजी के मिटने के साथ-साथ ये दोनों मिट जायेंगे।

क्या आप हमारे ऊपर यह आरोप लगाते हैं कि हम बच्चों का उनके माता-पिता द्वारा शोषण किया जाना वन्द कर देना चाहते हैं? इस अपराध को हम स्वीकार करते हैं।

लेकिन आप कहेंगे कि घरेलू शिक्षा की जगह पर सामाजिक शिक्षा क़ायम करके हम एक अत्यन्त पवित्र सम्वन्ध को नष्ट कर देते हैं।

और आपकी शिक्षा! क्या वह भी सामाजिक नहीं है और उन सामाजिक अवस्थाओं से निर्धारित नहीं होती है, जिनमें आप समाज के, प्रत्यक्ष या परोक्ष, हस्तक्षेप से स्कूलों आदि के ज़रिये शिक्षा देते हैं? शिक्षा में समाज

का हस्तक्षेप कम्युनिस्टों की ईजाद नहीं है; कम्युनिस्ट तो केवल इस हस्तक्षेप के स्वरूप को वदल देना चाहते हैं और शासक वर्ग के प्रभाव से शिक्षा का उद्धार करना चाहते हैं।

जैसे-जैसे आधुनिक उद्योग की क्रिया द्वारा सर्वहारा वर्ग में समस्त पारिवारिक सम्वन्ध की धज्जियां उड़ती जा रही हैं और मज़दूरों के बच्चे तिजारत के मामूली सामान और श्रम के औज़ार वनते जा रहे हैं, वैसे-वैसे परिवार और शिक्षा तथा माता-पिता और बच्चों के पुनीत अन्योन्य सम्बन्ध के वारे में पूंजीपतियों की वकवास और भी घिनौनी मालूम देती है।

लेकिन पूरा का पूरा पूंजीपति वर्ग गला फाड़कर एक स्वर से चिल्ला उठता है—तुम कम्युनिस्ट तो औरतों को सर्वोपभोग्य बना दोगे!

पूंजीपति अपनी पत्नी को उत्पादन के एक औज़ार के सिवा और कुछ नहीं समझता। उसने सुन रखा है कि कम्युनिस्ट समाज में उत्पादन के औज़ारों का सामूहिक रूप में उपयोग होगा। इसलिए, स्वभावतः, वह इसके अलावा और कोई निष्कर्ष नहीं निकाल पाता कि उस समाज में सभी चीज़ों की तरह औरतें भी सर्वोपभोग्य हो जायेंगी।

वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता कि दरअसल मक़सद यह है कि औरतों की उत्पादन के औज़ार जैसी स्थिति को ख़तम कर दिया जाये।

वाक़ी तो बात यह है कि औरतों को सर्वोपभोग्य बना देने के ख़िलाफ़ पूंजीपतियों के सदाचारी आक्रोश से अधिक हास्यास्पद दूसरी और कोई चीज़ नहीं है; वे यह समझने का वहाना करते हैं कि कम्युनिज़्म के अन्तर्गत स्त्रियों की सर्वोपभोग्यता खुल्लमखुल्ला और सरकारी तौर पर स्थापित की जायेगी। कम्युनिस्टों को स्त्रियों की सर्वोपभोग्यता स्थापित करने की कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि वह बाबा आदम के ज़माने से चली आ रही है।

हमारे पूंजीपतियों को मज़दूरों की बहू-बेटियों को अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ इस्तेमाल करने से संतोष नहीं होता, वेश्याओं से भी उनका मन नहीं भरता, इसलिए एक दूसरे की बीवियों पर हाथ साफ़ करने में उन्हें विशेष आनन्द प्राप्त होता है।

पूंजीवादी विवाह वास्तव में पत्नियों की साझेदारी की ही एक व्यवस्था है, इसलिए कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ अधिक से अधिक यही आरोप लगाया जा सकता है कि वे स्त्रियों की सर्वोपभोग्यता की मौजूदा ढोंगपूर्ण और गुप्त प्रथा को खुला, क़ानूनी रूप दे देना चाहते हैं। बाक़ी तो यह बात अपने आप साफ़

5-3036

है कि उत्पादन की वर्तमान व्यवस्था जब ख़तम हो जायेगी, तब उस व्यवस्था से उत्पन्न स्त्रियों की सर्वोपभोग्यता का, अर्थात् बाज़ारू और ख़ानगी, दोनों प्रकार की वेश्यावृत्ति का, अनिवार्यतः अन्त हो जायेगा।

कम्युनिस्टों पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि वे स्वदेश और राष्ट्र की भावना को मिटा देना चाहते हैं।

श्रमजीवियों का कोई स्वदेश नहीं है। जो उनके पास है ही नहीं उसे उनसे कौन छीन सकता है? चूंकि सर्वहारा वर्ग को सबसे पहले राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करना है, राष्ट्र में प्रधान वर्ग का स्थान ग्रहण करना है, ख़ुद अपने को राष्ट्र के रूप में संघटित करना है, अतः इस हद तक वह स्वयं राष्ट्रीय चरित्र रखता है, गोकि इस शब्द के पूंजीवादी अर्थ में नहीं।

पूंजीपति वर्ग के विकास, वाणिज्य की स्वाधीनता, विश्व-बाज़ार और उत्पादन प्रणाली में तथा तदनुरूप जीवन की अवस्थाओं में एकरूपता के कारण जनगण के राष्ट्रीय भेदभाव और विरोध दिनोंदिन मिटते जाते हैं।

सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व होने पर ये और भी तेज़ी से मिटेंगे। सर्वहारा वर्ग के निस्तार की पहली शर्त यह है कि कम से कम प्रमुख सभ्य देश मिलकर एकसाथ क़दम उठायें।

जिस अनुपात में एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण ख़तम होगा, उसी अनुपात में एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण भी ख़तम होगा।

जिस अनुपात में एक राष्ट्र के अन्दर वर्गों का विरोध ख़तम होगा, उसी अनुपात में राष्ट्रों का आपसी वैरभाव भी दूर होगा।

धार्मिक, दार्शनिक और सामान्यतः विचारधारात्मक दृष्टि से कम्युनिज़्म के ख़िलाफ़ जो आरोप लगाये जाते हैं, वे इस लायक़ नहीं हैं कि उनपर गंभीरता के साथ विचार किया जाये।

क्या यह समझने के लिए गहरी अन्तर्दृष्टि की ज़रूरत है कि मनुष्य के विचार, मत और उसकी धारणाएं—एक शब्द में उसकी चेतना—उसके भौतिक अस्तित्व की अवस्थाओं, उसके सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक जीवन के प्रत्येक परिवर्तन के साथ बदलती है?

विचारों का इतिहास इसके सिवा और क्या साबित करता है कि जिस अनुपात में भौतिक उत्पादन में परिवर्तन होता है, उसी अनुपात में बौद्धिक उत्पादन का स्वरूप परिवर्तित होता है? हर युग के प्रभुत्वशील विचार सदा उसके शासक वर्ग के ही विचार रहे हैं।

जब लोग समाज में क्रांति ला देनेवाले विचारों की बात करते हैं, तब वे केवल इस तथ्य को व्यक्त करते हैं कि पुराने समाज के अन्दर एक नये समाज के तत्त्व पैदा हो गये हैं और पुराने विचारों का विघटन अस्तित्व की पुरानी अवस्थाओं के विघटन के साथ क़दम मिलाकर चलता है।

प्राचीन दुनिया जिस समय अपनी अंतिम सांसें गिन रही थी, उस समय प्राचीन धर्मों को ईसाई धर्म ने पराभूत किया था। जब अठारहवीं शताब्दी में ईसाई मत बुद्धिवादी विचारों के सामने धराशायी हुआ, उस समय सामंती समाज ने तत्कालीन क्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग से अपनी मौत की लड़ाई लड़ी थी। धर्म-स्वातंत्र्य और अन्तःकरण की स्वतंत्रता की बातें ज्ञान जगत् में मुक्त होड़ के प्रभुत्व को ही व्यक्त करती थीं।

कहा जायेगा कि "यह ठीक है कि इतिहास के विकासक्रम में धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक और क़ानून सम्बन्धी विचार बदलते आये हैं; लेकिन धर्म, नैतिकता, दर्शन, राजनीति और क़ानून तो सदा इस परिवर्तन से बचे रहे हैं।

"इसके अलावा स्वाधीनता, न्याय, आदि ऐसे शाश्वत सत्य भी हैं जो हर सामाजिक अवस्था में समान रूप से लागू होते हैं। लेकिन उन्हें नये आधार पर प्रतिष्ठित करने के बजाय कम्युनिज़्म सभी शाश्वत सत्यों को ख़तम कर देता है, वह समस्त धर्म और समस्त नैतिकता को मिटा देता है; इसलिए कम्युनिज़्म विगत इतिहास के समस्त अनुभव के विपरीत आचरण करता है।"

इस आरोप का सारतत्त्व क्या है? पिछले प्रत्येक समाज का इतिहास वर्ग-विरोधों के विकास का इतिहास है, उन वर्ग-विरोधों का, जिन्होंने भिन्न युगों में भिन्न रूप धारण किया था।

पर उन्होंने चाहे जो भी रूप धारण किया हो, पिछले सभी युगों में एक चीज़ हर अवस्था में मौजूद थी—समाज के एक हिस्से द्वारा दूसरे हिस्से का शोषण। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि विगत युगों की सामाजिक चेतना, अनेकानेक विविधता और विभिन्नता प्रदर्शित करने के बावजूद, किन्हीं सामान्य रूपों या सामान्य विचारों के दायरे में गतिशील रही है, जो वर्ग-विरोधों के पूर्ण रूप से विलुप्त होने के पहले पूरी तरह नहीं मिट सकते।

कम्युनिस्ट क्रांति समाज के परम्परागत सम्पत्ति-सम्बन्धों से आमूल विच्छेद है; फिर इसमें आश्चर्य क्या कि इस क्रांति के विकास का अर्थ है समाज के परम्परागत विचारों से आमूल सम्बन्ध-विच्छेद?

लेकिन कम्युनिज़्म के ख़िलाफ़ पूंजीपतियों के आरोपों की कथा अब समाप्त की जाये।

ऊपर हम देख आये हैं कि मज़दूर वर्ग की क्रांति का पहला क़दम सर्वहारा वर्ग को उठाकर शासक वर्ग के आसन पर बैठाना और जनवाद के लिए होनेवाली लड़ाई को जीतना है।

सर्वहारा वर्ग अपना राजनीतिक प्रभुत्व पूंजीपति वर्ग से धीरे-धीरे कर सारी पूंजी छीनने के लिए, उत्पादन के सारे औज़ारों को राज्य, अर्थात् शासक वर्ग के रूप में संगठित सर्वहारा वर्ग, के हाथों में केन्द्रीकृत करने के लिए तथा समग्र उत्पादक शक्तियों में यथाशीघ्र वृद्धि के लिए इस्तेमाल करेगा।

निस्संदेह, आरम्भ में, यह काम साम्पत्तिक अधिकारों पर, और पूंजीवादी उत्पादन की अवस्थाओं पर निरंकुश हमलों के बिना नहीं हो सकता; अतः ऐसे उपायों के बिना नहीं हो सकता जो आर्थिक दृष्टि से अपर्याप्त और अव्यावहारिक प्रतीत होते हैं, पर जो विकासक्रम में अपनी सीमा को लांघ जायेंगे, पुरानी समाज व्यवस्था के और भी गहन भेदन को अनिवार्य बना देंगे और जो उत्पादन-प्रणाली में पूर्णतया क्रांति लाने के साधन के रूप में अनिवार्य होंगे।

निस्संदेह, भिन्न-भिन्न देशों में ये उपाय भिन्न-भिन्न होंगे।

फिर भी नीचे दिये हुए तरीक़े सबसे आगे बढ़े हुए देशों में, आम तौर से लागू हो सकेंगे:

१. भू-सम्पत्ति का उन्मूलन और समस्त लगान का सार्वजनिक प्रयोजन के लिए उपयोग।

२. भारी वर्द्धमान या आरोही आय-कर।

३. उत्तराधिकार के अधिकार का उन्मूलन।

४. उत्प्रवासियों और विद्रोहियों की सम्पत्ति की ज़ब्ती।

५. सरकारी पूंजी और पूर्ण एकाधिकार से संपन्न राष्ट्रीय बैंक द्वारा राज्य के हाथ में उधार का केन्द्रीकरण।

६. संचार और यातायात के साधनों का राज्य के हाथों में केन्द्रीकरण।

७. राजकीय कारख़ानों और उत्पादन के औज़ारों का विस्तार करना; एक आम योजना बनाकर परती ज़मीन को जोतना और खेत की मिट्टी का सामान्यतः सुधार करना।

८. हर एक के लिए काम करना समान रूप से अनिवार्य किया जाना। विशेषकर कृषि के लिए औद्योगिक सेनाएं क़ायम करना।

९. उद्योग और कृषि में संयोजन; देश में आबादी के अधिक समतुल्य वितरण द्वारा धीरे-धीरे देहातों और शहरों का अंतर मिटा देना।

१०. सार्वजनिक पाठशालाओं में तमाम बच्चों के लिए मुफ़्त शिक्षा की व्यवस्था। वर्तमान रूप में बच्चों से कारख़ानों में काम लेना ख़तम कर देना। शिक्षा और औद्योगिक उत्पादन का संयोजन आदि, आदि।

विकासक्रम में जब वर्गों के भेद मिट जायेंगे और सारा उत्पादन पूरे राष्ट्र के एक विशाल संघ के हाथ में संकेन्द्रित हो जायेगा, तब सार्वजनिक सत्ता अपना राजनीतिक स्वरूप खो देगी। राजनीतिक सत्ता, इस शब्द के असली अर्थ में, केवल एक वर्ग की दूसरे वर्ग का उत्पीड़न करने की संगठित शक्ति का नाम है। पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष के दौरान, परिस्थितियों से मजबूर होकर, सर्वहाराओं को यदि अपने को एक वर्ग के रूप में संगठित करना पड़ता है, यदि क्रांति के ज़रिए वह स्वयं अपने को शासक वर्ग बना लेता है, और इस तरह, उत्पादन की पुरानी अवस्थाओं का बलपूर्वक अन्त कर देता है, तो उन अवस्थाओं के साथ-साथ वह वर्ग-विरोधों के अस्तित्व और, आम तौर पर, ख़ुद वर्गों के अस्तित्व की अवस्थाओं का ख़ातमा कर देता है और इस प्रकार वह, एक वर्ग के रूप में, स्वयं अपने प्रभुत्व का भी ख़ातमा कर देता है।

तब वर्गों और वर्ग-विरोधों से बिंधे पुराने पूंजीवादी समाज के स्थान पर एक ऐसे संघ की स्थापना होगी जिसमें व्यष्टि की स्वतंत्र प्रगति समष्टि की स्वतंत्र प्रगति की शर्त होगी।

३

समाजवादी और कम्युनिस्ट साहित्य

१. प्रतिक्रियावादी समाजवाद

(क) सामन्ती समाजवाद

फ़्रांस और इंगलैंड के अभिजातों की ऐतिहासिक स्थिति ऐसी थी कि आधुनिक पूंजीवादी समाज के ख़िलाफ़ पैंफ़्लेट लिखना उनका पेशा बन गया। जुलाई १८३० की फ़्रांसीसी क्रांति में और इंगलैंड के सुधार आंदोलन में ये

अभिजात पुनः इन घृणास्पद नवप्रतिष्ठित अनभिजातों द्वारा पराभूत हुए। उसके बाद कोई महत्त्वपूर्ण लड़ाई लड़ने की सम्भावना न रह गयी। केवल साहित्यिक लड़ाई ही अब सम्भव थी। लेकिन साहित्य के क्षेत्र में भी पुनःस्थापन काल * के पुराने नारों का प्रयोग असंभव हो गया था। लोगों की सहानुभूति हासिल करने के लिए इन अभिजातों को वाह्यतः अपने हितों को आंखों से ओझल करना पड़ा और केवल शोषित मज़दूर वर्ग के हित को लेकर उन्होंने पूंजीपतियों के विरुद्ध अपना अभियोग पत्र तैयार किया। चुनांचे अभिजात वर्ग ने अपने नये प्रभु के ख़िलाफ़ व्यंग्यपूर्ण तथा विद्रूपात्मक कविताएं लिखकर और उसके कानों में उसके आनेवाले सर्वनाश की भयानक भविष्योक्तियां फुसफुसाकर उससे अपना बदला लिया।

सामन्ती समाजवाद की उत्पत्ति इसी तरह हुई: कुछ रोना-धोना, कुछ व्यंग्यात्मक तीर चलाना, कुछ अतीत को प्रतिध्वनित करना, कुछ भविष्य का भय दिखाना; कभी-कभी अपनी कटु व्यंग्यपूर्ण और पैनी आलोचना द्वारा पूंजीपतियों के मर्मस्थल को चोट पहुंचाना; किन्तु आधुनिक इतिहास की प्रगति को हृदयंगम करने में अपनी संपूर्ण असमर्थता के कारण अपने प्रभाव में सदा हास्यास्पद रह जाना।

जनता को अपनी तरफ़ करने के लिए इन अमीर-उमरा ने सर्वहारा वर्ग की भीख की झोली को अपना झंडा बनाया। लेकिन जब-जब जनता उनके साथ हुई, उसने देखा कि उनके कूल्हों पर अभिजातों के वंश-चिह्नों के ठप्पे लगे हुए हैं, और वह हंसी के ज़ोरदार ठहाकों से उनका अपमान करती हुई उन्हें छोड़कर चल दी।

फ़्रांसीसी लेजिटिमिस्टों[17] (वैधतावादियों) के एक हिस्से और "तरुण इंगलैंड"[18] ने यही नज़ारा पेश किया।

यह कहते समय कि उनके शोषण का तरीक़ा पूंजीपति वर्ग के शोषण के तरीक़े से भिन्न था, सामन्तवादी भूल जाते हैं कि जिन परिस्थितियों और अवस्थाओं में वे शोषण करते थे, वे बिलकुल भिन्न थीं और अब पुरानी पड़ चुकी थीं। यह साबित करते समय कि उनके शासन में आधुनिक सर्वहारा

---

* इंगलैंड में १६६० से १६८९ का पुनःस्थापन काल नहीं, बल्कि फ़्रांस में १८१४ से १८३० का पुनःस्थापन काल।[19] (१८८८ के अंग्रेज़ी संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

वर्ग का कोई अस्तित्व नहीं था, वे भूल जाते हैं कि आधुनिक पूंजीपति वर्ग उन्हीं की सामाजिक अवस्था की अनिवार्य सन्तान है।

इतना ही नहीं, अपनी आलोचना के प्रतिक्रियावादी स्वरूप को वे इतना कम छिपाते हैं कि पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ उनका सबसे बड़ा इलज़ाम यह होता है कि पूंजीवादी शासन में एक ऐसा वर्ग पनप रहा है जो पुरानी समाज-व्यवस्था को समूल उखाड़कर फेंक देगा।

पूंजीपति वर्ग को उनका उलाहना यह उतना ज़्यादा नहीं है कि वह सर्वहारा वर्ग को उत्पन्न कर रहा है, बल्कि यह कि वह क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग को जन्म दे रहा है।

इसलिए, अपने राजनीतिक व्यवहार में वे मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ प्रयोग की जानेवाली तमाम दमनकारी कार्रवाइयों का समर्थन करते हैं, और रोज़मर्रा के जीवन में, अपनी बड़ी-बड़ी डींगों के बावजूद, उद्योग के कल्पवृक्ष से गिरे सोने के फलों को बीनने के लिए और ऊन, चुक़न्दर की चीनी तथा आलू की बनी स्पिरिट* के व्यापार के लिए वे सत्य, प्रेम और सम्मान का सौदा करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं।

जिस तरह पुरोहितों और ज़मींदारों का चोली-दामन का साथ रहा है, उसी तरह पुरोहिती समाजवाद और सामन्ती समाजवाद दोनों जन्म के साथी हैं।

ईसाइयों की वैराग्य भावना को समाजवाद का रंग दे देने से अधिक आसान काम दूसरा नहीं है। क्या ईसाई धर्म निजी सम्पत्ति, विवाह और राज्य के ख़िलाफ़ फ़तवे नहीं देता रहा है? इन चीज़ों के बदले क्या उसने दान-पुण्य और ग़रीबी, ब्रह्मचर्य और शारीरिक तप, मठ-निवास और मातारूपी

---

*यह मुख्यतया जर्मनी पर लागू होता है जहां भू-सम्पत्तिधारी रईस और युंकर[19] अपनी ज़मीन के बहुत बड़े हिस्से पर अपने प्रबन्धकर्त्ताओं के ज़रिए खेती कराते हैं, और इसके अलावा बड़े पैमाने पर चुक़न्दर से चीनी बनाने और आलू से स्पिरिट बनाने का भी रोज़गार करते हैं। ब्रिटेन के अधिक धनिक रईस अभी तक इस हद तक नहीं गिरे हैं, लेकिन वे भी समझ गये हैं कि किस तरह न्यूनाधिक संदिग्ध ज्वाइंट-स्टाक कम्पनियों के प्रवर्त्तकों में अपना नाम देकर लगान की घटती हुई आमदनी को पूरा किया जाये। (१८८८ के अंग्रेज़ी संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

चर्च की शरण लेने का उपदेश नहीं दिया है? ईसाई समाजवाद केवल वह पवित्र जल है जिसकी छींट मारकर पादरी लोग अमीर-उमरा के संतप्त हृदयों का पवित्रीकरण करता है।

(ख) निम्न-पूंजीवादी समाजवाद

सामन्ती अभिजात वर्ग अकेला वर्ग नहीं है जिसे पूंजीपति वर्ग ने बरबाद किया, वही एक अकेला वर्ग नहीं है जिसके अस्तित्व की अवस्थाएं आधुनिक पूंजीवादी समाज की आबोहवा में घुटकर रह गयी हैं और मर-मिटी हैं। मध्ययुग के बर्गर और छोटे किसान भू-स्वामी आधुनिक पूंजीपति वर्ग के पूर्वज थे। उन देशों में, जो उद्योग और वाणिज्य की दृष्टि से अल्पविकसित हैं, ये दोनों वर्ग अब भी उदीयमान पूंजीपति वर्ग के साथ लस्टम-पस्टम चले जा रहे हैं।

उन देशों में जहां आधुनिक सभ्यता का पूरा विकास हो चुका है, निम्न-पूंजीपतियों का एक नया वर्ग बन गया है जो सर्वहारा और पूंजीपति वर्गों के बीच झूला करता है और पूंजीवादी समाज के एक पूरक अंग के रूप में सदा अपने को ताज़ा करता रहता है। लेकिन होड़ की चक्की में पिसकर इस वर्ग के व्यक्तिगत सदस्य टूट-टूट कर बराबर सर्वहारा वर्ग में शामिल होते जाते हैं; और आधुनिक उद्योग का विकास होने के साथ वे उस क्षण को भी नज़दीक आता देखते हैं जब आधुनिक समाज के एक स्वतंत्र अंग के रूप में उनका बिलकुल ख़ातमा हो जायेगा और कल-कारख़ानों, खेती और वाणिज्य के क्षेत्र में ओवरसीयर, नाज़िर और दूकान-कर्मचारी उनका स्थान ले लेंगे।

फ़्रांस जैसे देशों में, जहां आधी से कहीं अधिक आबादी किसानों की है, यह स्वाभाविक था कि जो लेखक पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ सर्वहारा वर्ग का साथ देते थे, वे पूंजीवादी शासन-व्यवस्था की अपनी आलोचना में किसानों और निम्न-पूंजीपतियों के मानदण्ड का प्रयोग करते थे और मज़दूर वर्ग के समर्थन में इन्हीं बिचले वर्गों के दृष्टि-बिन्दु से आवाज़ उठाते थे। निम्न-पूंजीवादी समाजवाद की उत्पत्ति इसी तरह हुई। न केवल फ़्रांस में, बल्कि इंगलैंड में भी इस मत के नेता सीसमांदी थे।

समाजवाद की इस शाखा के अनुयायियों ने आधुनिक उत्पादन की अवस्थाओं के अन्तर्विरोधों का बहुत ही बारीकी के साथ विश्लेषण किया।

अर्थशास्त्रियों की ढोंगपूर्ण वकालतों का उन्होंने पर्दाफ़ाश किया। मशीनों के उपयोग और श्रम-विभाजन के विनाशकारी परिणाम, पूंजी और भूमि का मुट्ठी भर लोगों के हाथों में संकेन्द्रित होना, अति-उत्पादन और संकट, इन सबको उन्होंने अकाट्य रूप से प्रमाणित किया; उन्होंने निम्न-पूंजीपति वर्ग और किसानों की बरबाद की अवश्यम्भाविता, सर्वहारा वर्ग की दुर्दशा, उत्पादन में अराजकता, धन के वितरण में घोर असमानता, एक दूसरे को ख़तम कर देने के लिए राष्ट्रों के बीच औद्योगिक युद्ध, पुराने नैतिक बंधनों के विच्छेदन, पुराने पारिवारिक सम्बन्धों और पुरानी जातियों के विघटन की ओर इशारा किया।

किन्तु अपने सकारात्मक उद्देश्यों में इस तरह का समाजवाद या तो यह चाहता है कि उत्पादन और विनिमय के पुराने साधनों को, और उनके साथ पुराने सम्पत्ति-सम्बन्धों को और पुराने समाज को फिर से क़ायम कर दिया जाये, या उत्पादन के और विनिमय के आधुनिक साधनों को उन्हीं पुराने सम्पत्ति-सम्बन्धों के शिकंजे में कस दिया जाये जिन्हें उन्होंने तोड़ दिया था और जिनका इन साधनों के ज़रिये टूटना अनिवार्य था। दोनों हालतों में यह समाजवाद प्रतिक्रियावादी और कल्पनावादी दोनों है।

उसके अंतिम शब्द हैं: उद्योग को चलाने के लिए निगमित शिल्प-संघ बनाये जायें और खेती में पितृसत्तात्मक सम्बन्ध क़ायम हों।

अन्त में जब निर्मम ऐतिहासिक वास्तविकता ने आत्मवंचना का नशा उतार दिया तो समाजवाद का यह रूप ख़ुमारी के दौरे में आप से आप ख़तम हो गया।

(ग) जर्मन, या "सच्चा" समाजवाद

फ़्रांस का समाजवादी और कम्युनिस्ट साहित्य, वह साहित्य जो शासनारूढ़ पूंजीपति वर्ग के दबाव में पैदा हुआ था, और जो उसके ख़िलाफ़ होनेवाले संघर्ष की अभिव्यक्ति था, जर्मनी में उस समय लाया गया जब उस देश में सामन्ती निरंकुशता के ख़िलाफ़ वहां के पूंजीपति वर्ग ने अभी-अभी अपनी लड़ाई शुरू की थी।

जर्मनी के दार्शनिकों, अधकचरे दार्शनिकों और साहित्यिक प्रवृत्ति के लोगों ने उस साहित्य को बड़ी उत्सुकता के साथ अपनाया; वे केवल यह भूल गये कि जब वह साहित्य फ़्रांस से जर्मनी आया था तो उसके साथ फ़्रांस

की सामाजिक परिस्थितियां नहीं आई थीं। जर्मनी की सामाजिक अवस्थाओं के सम्पर्क में इस फ़्रांसीसी साहित्य ने अपना सारा तात्कालिक व्यावहारिक महत्त्व खो दिया और विशुद्ध साहित्यिक रूप ग्रहण कर लिया। चुनांचे अठारहवीं शताब्दी के जर्मन दार्शनिकों की निगाह में पहली फ़्रांसीसी क्रान्ति की मांगें "व्यावहारिक तर्कबुद्धि" की सामान्य मांगों के अलावा और कुछ न थीं और क्रान्तिकारी फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग की इच्छा की अभिव्यक्ति उनकी दृष्टि में शुद्ध इच्छा, अपरिहार्य इच्छा, सामान्यतः सच्ची मानवीय इच्छा के नियमों की द्योतक थी।

जर्मन साहित्यकारों का एकमात्र काम यह था कि वे फ़्रांस के इन नये विचारों का अपने प्राचीन दार्शनिक विवेक के साथ सामंजस्य स्थापित करें, या यूं कहिये कि अपने दार्शनिक दृष्टिकोण को छोड़े विना इन फ़्रांसीसी विचारों को अपना लें।

अपना लेने का यह काम उसी तरह पूरा किया गया जिस तरह कि किसी विदेशी भाषा को आत्मसात् किया जाता है, यानी अनुवाद के ज़रिए।

सुविदित है कि भिक्षुगण किस प्रकार उन पाण्डुलिपियों के ऊपर, जिनमें प्राचीन मूर्तिपूजकों के शास्त्रीय ग्रंथ लिखे हुए थे, कैथोलिक संतों की फूहड़ जीवनियां लिखा करते थे। जर्मन साहित्यकारों ने अपवित्र फ़्रांसीसी साहित्य के संबंध में इस क्रिया को उलट दिया। अपनी दार्शनिक बकवास को उन्होंने मूल फ़्रांसीसी कृतियों की पुश्त पर लिखा। उदाहरण के लिए, मुद्रा की आर्थिक क्रियाओं की फ़्रांसीसी आलोचना की पुश्त पर उन्होंने लिखा "मानवता का विच्छेद" और पूंजीवादी राज्य की फ़्रांसीसी आलोचना की पुश्त पर "सामान्य के प्रवर्ग का सत्ताच्युत किया जाना", आदि, आदि।

फ़्रांसीसी ऐतिहासिक आलोचनाओं की पुश्त पर इन दार्शनिक उक्तियों की प्रस्तावनाओं को उन्होंने "कर्म-दर्शन", "सच्चा समाजवाद", "समाजवाद का जर्मन विज्ञान", "समाजवाद का दार्शनिक आधार", आदि भारी-भरकम नाम दिया।

इस तरह फ़्रांसीसी समाजवादी और कम्युनिस्ट साहित्य बिलकुल शक्तिहीन बना दिया गया। और, चूंकि जर्मनों के हाथ में पड़कर उसने एक वर्ग के विरुद्ध दूसरे वर्ग के संघर्ष को अभिव्यक्त करना छोड़ दिया, इसलिए उन्हें ऐसा बोध हुआ कि उन्होंने "फ़्रांसीसी एकांगीपन" पर क़ाबू

पा लिया है और सच्ची आवश्यकताओं का नहीं, बल्कि सत्य की आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व किया है; सर्वहारा वर्ग के हितों का नहीं, बल्कि मानव स्वभाव के हितों का, मनुष्य मात्र के हितों का प्रतिनिधित्व किया है जो किसी वर्ग का नहीं है, जिसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, जो केवल हवाई दार्शनिक कल्पना-लोक का प्राणी है।

इस जर्मन समाजवाद ने, जिसने स्कूली बच्चे के से अपने कार्यभार को इतनी संजीदगी और सत्यनिष्ठा के साथ ग्रहण किया था और अपनी "फीके पकवान वाली ऊंची दूकान" का ढिंढोरा पीटा था, धीरे-धीरे अपना निरीह पांडित्य त्याग दिया।

सामन्ती अमीर-उमरा और निरंकुश राजतंत्र के ख़िलाफ़ जर्मन पूंजीपति वर्ग का, और ख़ास तौर से प्रशा के पूंजीपति वर्ग का संघर्ष – दूसरे शब्दों में, उदारतावादी आंदोलन – अधिक गंभीर बन गया।

इससे "सच्चे" समाजवादियों को दीर्घकाल से वांछित यह मौक़ा मिला कि राजनीतिक आंदोलन के सामने वे अपनी समाजवादी मांगें रखें – उदारतावाद, प्रतिनिधिमूलक सरकार, पूंजीवादी होड़, पूंजीवादी प्रेस-स्वातन्त्र्य, पूंजीवादी क़ानून, पूंजीवादी स्वतंत्रता और समानता, आदि को परम्परागत लानतें भेजें और जनसाधारण को बतायें कि इस पूंजीवादी आंदोलन से उन्हें कोई फ़ायदा नहीं होगा, बल्कि नुक़सान ही नुक़सान होगा। जर्मन समाजवाद ने बड़े मौक़े से इस बात को भुला दिया कि फ़्रांसीसी मीमांसा, जिसकी वह एक बेहूदा प्रतिध्वनि मात्र था, आधुनिक पूंजीवादी समाज के अस्तित्व की – उसके अस्तित्व की आर्थिक परिस्थितियों की और उसके अनुरूप ढले राजनीतिक विधान की, अर्थात् ठीक उन्हीं चीज़ों की पूर्वकल्पना करके चलती है, जिनकी प्राप्ति जर्मनी में अभी तक अनिर्णीत संघर्ष का लक्ष्य था।

जर्मन निरंकुश सरकारों को, उनके हाली-मवाली पादरियों, प्रोफ़ेसरों, देहाती रईसों और नौकरशाहों को ख़तरनाक पूंजीपतियों के ख़िलाफ़ इस समाजवाद के रूप में एक मनचाहा हौआ मिल गया।

हंटरों और गोलियों की कड़वी ख़ुराक के बाद, जो इन्हीं सरकारों ने उस समय जर्मनी के विद्रोही मज़दूरों को पिलायी थी, अन्त में यह एक मीठी गोली थी।

इस प्रकार जहां यह "सच्चा" समाजवाद जर्मन पूंजीपतियों के ख़िलाफ़ लड़ाई में सरकारों का अस्त्र बन गया, वहीं प्रत्यक्ष रूप से उसने एक प्रतिक्रियावादी स्वार्थ, जर्मन कूपमंडूकों के स्वार्थ का प्रतिनिधित्व किया।

जर्मनी में निम्न-पूंजीपति वर्ग ही, जो सोलहवीं शताब्दी का एक अवशेष है और तब से बारम्बार विभिन्न रूप धारण करके प्रगट होता रहा है, वहां की वर्तमान अवस्था का वास्तविक सामाजिक आधार है।

इस वर्ग को बरक़रार रखना जर्मनी की वर्तमान अवस्था को बरक़रार रखना है। पूंजीपति वर्ग का औद्योगिक और राजनीतिक प्रभुत्व, एक ओर तो पूंजी के संकेन्द्रण द्वारा और दूसरी ओर क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के उदय द्वारा, उसके निश्चित विनाश का ख़तरा पैदा करता है। लगता था कि "सच्चा" समाजवाद एक ही तीर से इन दोनों चिड़ियों को ख़तम कर देगा। अतः "सच्चा" समाजवाद एक महामारी की तरह फैल गया।

जर्मन समाजवादियों ने अपने करुणाजनक "शाश्वत सत्यों" की ठठरी को जब कल्पनामय भावों के झीने आवरण में लपेटा, इस आवरण में आलंकारिक भाषा रूपी फूलदार सलमे सितारों की क़सीदाकारी की, और उसे रुग्ण भावुकता के नीहार-जल में भिगोकर बाज़ारों में ले आये, तो फिर क्या कहना था, ऐसे ख़रीदारों के बीच उनके इस माल की ख़ूब खपत हुई।

अपनी ओर से जर्मन समाजवाद ने निम्न-पूंजीवादी कूपमण्डूक के आडंबरपूर्ण प्रतिनिधि होने के अपने पेशे को अधिकाधिक स्वीकार किया।

जर्मन समाजवादियों ने घोषणा की कि जर्मन राष्ट्र ही आदर्श राष्ट्र है और जर्मनी का तुच्छ कूपमण्डूक ही आदर्श मानव है। इस आदर्श मानव की हर अपराधपूर्ण नीचता की उन्होंने एक रहस्यमय, उच्च, समाजवादी व्याख्या की – असलियत के बिलकुल विपरीत व्याख्या। अंत में तो वे कम्युनिज्म की "पाशविक विनाशकारी" प्रवृत्ति का सीधे-सीधे विरोध करने और तमाम वर्ग-संघर्षों के प्रति अपनी घोर, पक्षपातहीन अवज्ञा घोषित करने की पराकाष्ठा तक पहुंच गये। जर्मनी में आजकल (१८४७) समाजवादी और कम्युनिस्ट साहित्य के नाम से जिन चीज़ों का प्रचार हो रहा है, उनमें से बहुत थोड़े को छोड़कर बाक़ी सब इसी गंदे और क्षयकारी साहित्य की कोटि में आते हैं।*

---

*सन् १८४८ की क्रांतिकारी आंधी ने[20] इस पूरी लीचड़ प्रवृत्ति का सफ़ाया कर दिया और उसके समर्थकों की समाजवाद में टांग अड़ाने की इच्छा को दूर कर दिया। इस प्रवृत्ति का प्रमुख और प्रतिष्ठित प्रतिनिधि हेर कार्ल ग्रून था। (१८९० के जर्मन संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

२. दक़ियानूसी, या पूंजीवादी समाजवाद

पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा समाज की बुराइयों को दूर करना चाहता है जिससे कि पूंजीवादी समाज को बरक़रार रखा जा सके।

अर्थशास्त्री, दानवीर, मानवतावादी, श्रमजीवी वर्गों के जीवन-यापन की अवस्थाओं के सुधारक, ख़ैरात बंटवाने के प्रबंधकर्त्ता, पशु-रक्षा समितियों के सदस्य, शराबबन्दी के कट्टर समर्थक, प्रत्येक कल्पनीय प्रकार के छोटे-मोटे सुधारक—सभी इस श्रेणी में आते हैं। इसके अलावा, इस तरह के समाजवाद का पूरी की पूरी पद्धतियों के रूप में विशदीकरण किया गया है।

समाजवाद के इस रूप के उदाहरण के रूप में हम प्रूदों की पुस्तक «*Philosophie de la Misère*» ('दरिद्रता का दर्शन') को ले सकते हैं।

पूंजीवादीसमाजवादी समाज की आधुनिक अवस्थाओं का पूरा लाभ उठाना चाहते हैं, लेकिन उनके द्वारा अनिवार्यतः उत्पन्न संघर्षों और ख़तरों से दूर रहकर ही। वे मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को चाहते हैं, लेकिन बग़ैर उसके क्रांतिकारी और विघटक तत्त्वों के ही, वे चाहते हैं कि पूंजीपति वर्ग हो, लेकिन सर्वहारा न हो। पूंजीपति वर्ग जिस दुनिया में सर्वेसर्वा है स्वभावतः वह उसी को सर्वश्रेष्ठ मानता है; और पूंजीवादी समाजवाद इसी सुखद अवधारणा को कमोबेश पूरी सामाजिक पद्धतियों का रूप दे देता है। इसलिए पूंजीवादी समाजवादी जब सर्वहारा से यह अपेक्षा करते हैं कि वह इस तरह की व्यवस्था क़ायम करेगा और ऐसा करके सीधे नये येरूशलम में[21] पहुंच जायेगा तो दरअसल वे यह अपेक्षा करते हैं कि सर्वहारा वर्ग वर्तमान समाज की सीमाओं का उल्लंघन न करे और पूंजीपति वर्ग के बारे में अपनी तमाम घृणापूर्ण भावनाओं को तिलांजलि दे।

इस समाजवाद का एक दूसरा, अधिक व्यावहारिक परन्तु कम व्यवस्थित रूप वह है जो प्रत्येक क्रान्तिकारी आन्दोलन को मज़दूर वर्ग की दृष्टि में यह दिखाकर गिराना चाहता है कि उसे मात्र राजनीतिक सुधारों द्वारा नहीं, अपितु जीवन की भौतिक अवस्थाओं, आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन द्वारा ही कोई लाभ हो सकता है। लेकिन जीवन की भौतिक अवस्थाओं में परिवर्तन से इस समाजवाद का मतलब यह कदापि नहीं है कि उत्पादन के पूंजीवादी सम्बन्धों को समाप्त कर दिया जाये, जिसे क्रान्ति के ज़रिये ही समाप्त किया जा सकता है; बल्कि उसका मतलब इन्हीं सम्बन्धों पर आधारित प्रशासकीय

सुधारों से है, अर्थात् ऐसे सुधारों से जो किसी हालत में पूंजी और श्रम के सम्बन्धों में परिवर्तन नहीं लाते और ज़्यादा से ज़्यादा पूंजीवादी सरकार का प्रशासन-ख़र्च कम कर देते हैं और उसके प्रशासकीय कार्यों को कुछ सरल बना देते हैं।

पूंजीवादी समाजवाद पर्याप्त अभिव्यक्ति तभी प्राप्त करता है जब वह केवल भाषा का एक अलंकार बन जाता है, अन्यथा नहीं।

मुक्त व्यापार: मज़दूर वर्ग की भलाई के लिए! रक्षण शुल्क: मज़दूर वर्ग के कल्याण के लिए! जेल-सुधार: मज़दूर वर्ग के ही फ़ायदे के लिए! – पूंजीवादी समाजवाद का यही हर्फ़े-आख़िर है, बस यही एक हरफ़ है जिसे वह संजीदगी से मानता है।

उसका लुब्बे लुबाब इस मुहावरे में है: पूंजीपति – पूंजीपति है तो मज़दूर वर्ग की भलाई के लिए ही है!

३. आलोचनात्मक-कल्पनावादी समाजवाद और कम्युनिज़्म

यहां पर हम बाब्योफ़ और दूसरे लेखकों की कृतियों की तरह के उस साहित्य की चर्चा नहीं कर रहे हैं जिसने प्रत्येक महान् आधुनिक क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग की मांगों को सदा मुखरित किया है।

अपने वर्ग-लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सर्वहारा की पहली सीधी-सीधी कोशिशें सार्वत्रिक उत्तेजना के काल में की गयी थीं, जब सामन्ती समाज का तख़्ता उल्टा जा रहा था। सर्वहारा की उस समय की अविकसित अवस्था के कारण, और साथ ही उसकी मुक्ति के लिए आवश्यक आर्थिक अवस्थाओं के अभाव के कारण – उन अवस्थाओं के, जिन्हें अभी उत्पन्न होना था और जो आसन्न पूंजीवादी युग द्वारा ही उत्पन्न हो सकती थीं – इन कोशिशों का असफल होना अनिवार्य था। सर्वहारा वर्ग के इन प्रथम आंदोलनों के साथ-साथ जो क्रांतिकारी साहित्य सृजित हुआ, वह अनिवार्यतः प्रतिक्रियावादी चरित्र रखता था। उसने सार्वभौमिक वैराग्य और भोंडे से भोंडे रूप में सामाजिक समतलन की भावनाएं पैदा कीं।

सेंट-साइमन, फ़ूरिये, ओवेन तथा दूसरे लोगों की पद्धतियों का जन्म – जिन्हें वास्तव में समाजवादी और कम्युनिस्ट पद्धतियां कहा जा सकता था – सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग के संघर्ष के उपरोक्त आरम्भिक अविकसित काल में हुआ था (देखिये अध्याय १: 'पूंजीपति और सर्वहारा')।

इसमें सन्देह नहीं कि इन पद्धतियों के संस्थापक तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में वर्ग-विरोधों तथा विघटनशील तत्त्वों की क्रिया को देखते थे। किन्तु उनकी दृष्टि में सर्वहारा, जो अभी अपने शैशव काल में था, ऐसा वर्ग था जिसमें न तो ऐतिहासिक पेशक़दमी थी और न ही स्वतंत्र राजनीतिक आन्दोलन की कोई क्षमता थी।

चूंकि वर्ग-विरोध का विकास उद्योग के विकास के साथ क़दम मिलाकर चलता है, इसलिए वे उस समय जैसी आर्थिक स्थिति पाते हैं, वह अभी उन्हें सर्वहारा की मुक्ति के लिए आवश्यक भौतिक अवस्थाएं प्रदान नहीं करती। इसलिए वे इन अवस्थाओं को उत्पन्न करने में समर्थ नये सामाजिक विज्ञान की, नये सामाजिक नियमों की तलाश करते हैं।

उन्होंने चाहा कि ऐतिहासिक क्रिया का स्थान उनकी व्यक्तिगत आविष्कारक क्रिया ले ले; इतिहास द्वारा पैदा होनेवाली सर्वहारा की मुक्ति की अवस्थाओं का काम उनकी कल्पित अवस्थाएं पूरा कर दें; सर्वहारा के धीरे-धीरे और स्वतः पैदा होनेवाले वर्ग संगठन का काम इन आविष्कारकों द्वारा विशेष तौर से आविष्कृत एक समाज संगठन कर दे। उनकी दृष्टि में भावी इतिहास उनकी सामाजिक योजनाओं का प्रचार और उनका व्यावहारिक क्रियान्वयन मात्र बन जाता है।

अपनी योजनाएं तैयार करते हुए, उन्हें सर्वाधिक पीड़ित वर्ग होने के नाते सबसे ज़्यादा मज़दूर वर्ग के हितों का ख़याल रहता है। उनकी दृष्टि में सर्वहारा के अस्तित्व का केवल एक अर्थ है—वह सर्वाधिक पीड़ित वर्ग है।

वर्ग-संघर्ष की अविकसित अवस्था और स्वयं अपने परिवेश के कारण इस तरह के समाजवादी अपने को तमाम वर्ग-विरोधों से बहुत ऊपर समझते हैं। समाज के प्रत्येक सदस्य की, सबसे अधिक सम्पन्न सदस्यों की भी, हालत को वे बेहतर बनाना चाहते हैं। इसलिए वे आदतन् वर्ग भेद का लिहाज़ किये बिना पूरे समाज से, या, यूं कहिये ख़ास तौर से शासक वर्ग से अपील करते हैं। क्योंकि वे सोचते हैं कि भला ऐसा कैसे हो सकता है कि उनकी प्रणाली को एक बार समझ लेने के बाद लोग यह न देखें कि वह समाज की यथासंभव सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था के लिए यथासंभव सर्वश्रेष्ठ योजना है?

इसलिए, तमाम राजनीतिक, और ख़ास तौर से क्रांतिकारी कार्रवाइयों को वे रद्द कर देते हैं। अपने उद्देश्यों को वे शांतिमय तरीक़ों से हासिल करना

चाहते हैं, और छोटे-छोटे प्रयोगों के ज़रिए, जिनकी असफलता अवश्यम्भावी है और नमूने के ज़ोर से वे अपने नवीन सामाजिक दिव्य-संदेश के लिए मार्ग प्रशस्त करने की कोशिश करते हैं।

भावी समाज के ये हवाई चित्र, जो ऐसे समय में बनाये जाते हैं जब कि सर्वहारा वर्ग अभी बहुत अविकसित दशा में होता है और उसे स्वयं अपनी स्थिति की एक अत्यंत काल्पनिक धारणा होती है, समाज के आम पुनर्निर्माण की उसकी प्रथम नैसर्गिक आकांक्षाओं के अनुरूप होते हैं।

किन्तु इन समाजवादी और कम्युनिस्ट प्रकाशनों में आलोचना का भी एक तत्त्व रहता है। वे वर्तमान समाज के प्रत्येक सिद्धान्त पर प्रहार करते हैं। इसलिए मज़दूर वर्ग के प्रबोधन के लिए उनके अन्दर अत्यन्त मूल्यवान सामग्री मौजूद रहती है। उनमें भावी समाज के बारे में जो भी अमली तजवीज़ें पेश की गयी हैं—यह कि शहर और देहात का फ़र्क़ मिटा दिया जाये, परिवार की प्रथा का, अलग-अलग व्यक्तियों के निजी फ़ायदे के लिए उद्योग चलाने की पद्धति का तथा मज़दूरी-व्यवस्था का अन्त कर दिया जाये, सामाजिक सामंजस्य की स्थापना की जाये, राज्य की क्रिया का केवल उत्पादन के निरीक्षण में रूपान्तरण किया जाये—ये सब तजवीज़ें उन वर्ग-विरोधों की समाप्ति की दिशा में इंगित करती हैं. जो उस समय उठने लगे थे और जो इन प्रकाशनों में केवल अपने सबसे प्रारम्भिक, अस्पष्ट और अपरिभाषित रूप में माने गये हैं। इन तजवीज़ों का स्वरूप, इसलिए, विशुद्ध काल्पनिक है।

आलोचनात्मक-कल्पनावादी समाजवाद और कम्युनिज़्म का महत्त्व इतिहास के विकासक्रम के साथ घटता जाता है। आधुनिक वर्ग-संघर्ष जैसे-जैसे बढ़ता है और निश्चित आकार ग्रहण करता है, वैसे-वैसे इस संघर्ष से दूर खड़े रहने की बेतुकी स्थिति का, इस संघर्ष का विरोध करने की बेतुकी बातों का सारा व्यावहारिक महत्त्व और सैद्धांतिक औचित्य भी ख़तम होता जाता है। फलतः यद्यपि इन पद्धतियों के संस्थापक बहुत बातों में क्रान्तिकारी थे, तथापि उनके शिष्यों ने सदैव प्रतिक्रियावादी संकीर्ण गुट ही बनाये हैं। सर्वहारा के प्रगतिशील ऐतिहासिक विकास के विपरीत वे अपने गुरुओं के मूल विचारों से चिपके हुए हैं। इसलिए वे हमेशा वर्ग-संघर्ष को चेतनाशून्य करने और विरोधी वर्गों में मेल-मिलाप कराने की कोशिश करते हैं। वे अभी भी अपनी काल्पनिक सामाजिक व्यवस्थाओं को प्रयोगात्मक रूप में चरितार्थ करने, इक्के-दुक्के

फ़ालांस्तेर खड़े करने, "गृह-उपनिवेश" («Home-colonies») स्थापित करने, एक नई "छोटी इकारिया"* – नये येरूशलम का जेबी संस्करण – क़ायम करने के सपने देखते हैं, और इन सभी हवाई क़िलों को अमली शक्ल देने के लिए वे पूंजीपतियों की भावनाओं और उनकी थैलियों का आश्रय लेने को मजबूर होते हैं। धीरे-धीरे ये लोग भी प्रतिक्रियावादी दक़ियानूसी समाजवादियों की जमात में पहुंच जाते हैं, जिनका ऊपर चित्रण किया गया है। अंतर केवल इतना रहता है कि उनकी अपेक्षा इनका पांडित्य ज़्यादा व्यवस्थापूर्ण होता है और वे अपने सामाजिक विज्ञान की चमत्कारिक शक्ति में कट्टर और मूढ़ग्राही विश्वास रखते हैं।

इसलिए, मज़दूर वर्ग की हर राजनीतिक कार्रवाई का वे प्रचंड विरोध करते हैं। उनके मुताबिक़ ऐसी कार्रवाइयां केवल नये दिव्य-संदेश में अंध अविश्वास का ही परिणाम हो सकती हैं।

इंगलैंड में ओवेनपंथी चार्टिस्टों[22] का, और फ़्रांस में फ़ूरियेपंथी रिफ़ार्मिस्टों[23] का विरोध करते हैं।

४

वर्तमान काल की विभिन्न विरोधी पार्टियों के सम्बन्ध में कम्युनिस्टों की स्थिति

दूसरे अध्याय में मज़दूर वर्ग की वर्तमान काल की पार्टियों के साथ, जैसे कि इंगलैंड में चार्टिस्टों के साथ और अमरीका में एग्रेरियन रिफ़ार्मरों के साथ, कम्युनिस्टों का सम्बन्ध स्पष्ट किया जा चुका है।

---

* "फ़ालांस्तेर" शार्ल फ़ूरिये की योजना पर आधारित समाजवादी बस्तियां थीं। काबे ने अपनी कल्पना-नगरी को "इकारिया" का नाम दिया था और बाद में अमरीका की अपनी कम्युनिस्ट बस्ती को भी उन्होंने इसी नाम से पुकारा। (१८८८ के अंग्रेज़ी संस्करण में एंगेल्स का नोट)।

ओवेन अपनी आदर्श कम्युनिस्ट सोसाइटियों को «Home-colonies» ("गृह-उपनिवेश") कहते थे। "फ़ालांस्तेर" – उन सार्वजनिक प्रासादों का नाम था जिनकी योजना फ़ूरिये ने बनायी थी। "इकारिया" – उस कल्पना-देश को कहा जाता था जिसकी कम्युनिस्ट संस्थाओं का चित्र काबे ने अंकित किया था। (१८९० के जर्मन संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

कम्युनिस्ट मज़दूरों के तात्कालिक लक्ष्यों के लिए लड़ते हैं, उनके सामयिक हितों की रक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं; किन्तु वर्तमान के आंदोलन में वे इस आंदोलन के भविष्य का भी प्रतिनिधित्व करते हैं और उसका ध्यान रखते हैं। फ़्रांस में दक़ियानूसी और उग्रवादी पूंजीपतियों के ख़िलाफ़ कम्युनिस्ट समाजवादी-जनवादियों* के साथ एका क़ायम करते हैं; लेकिन ऐसा करते हुए वे महान् क्रांति के दिनों से परम्परागत रूप में चली आती हुई लफ़्फ़ाज़ी और भ्रांतियों के प्रति आलोचना का रुख़ अपनाने के अपने अधिकार को सुरक्षित रखते हैं।

स्विट्ज़रलैंड में वे रेडिकलों का समर्थन करते हैं; लेकिन इस बात को भुलाये बिना कि यह पार्टी परस्पर-विरोधी तत्त्वों के मेल से बनी है: कुछ तो उसमें फ़्रांसीसी क़िस्म के जनवादी समाजवादी हैं और कुछ उग्रवादी पूंजीपति।

पोलैंड में वे उस पार्टी का समर्थन करते हैं जो कृषि-क्रांति को राष्ट्रीय आज़ादी की पहली शर्त के रूप में ग्रहण करती है और जिसने १८४६ में क्रैको विद्रोह[25] की आग सुलगायी थी।

जर्मनी में जब-जब वहां का पूंजीपति वर्ग निरंकुश राजतंत्र, सामन्ती भूस्वामियों और निम्न-पूंजीपतियों** के ख़िलाफ़ क्रांतिकारी कार्रवाई करता है, तब वे उसके साथ मिलकर लड़ते हैं।

लेकिन वे मज़दूर वर्ग को सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग के शत्रुतापूर्ण विरोध

---

*उस समय इस पार्टी का प्रतिनिधित्व संसद में लेद्रू-रोलें, साहित्य में लूई ब्लां और दैनिक पत्रों में *«La Réforme»*[24] करता था। समाजवादी-जनवाद का नाम, यह नाम देनेवाले इन लोगों के साथ, जनवादी या जनतंत्रवादी पार्टी के उस हिस्से का द्योतक था जो कमोबेश समाजवाद के रंग में रंगा था। (१८८८ के अंग्रेज़ी संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

फ़्रांस में उस समय जो पार्टी अपने को समाजवादी-जनवादी कहती थी उसका प्रतिनिधित्व राजनीतिक जीवन में लेद्रू-रोलें और साहित्य में लूई ब्लां करते थे; इस प्रकार वह आज के जर्मन समाजवादी-जनवाद से बिलकुल ही भिन्न पार्टी थी। (१८९० के जर्मन संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

**जर्मन मूल में इसके लिए «Kleinbürgerei» शब्द इस्तेमाल किया गया है। मार्क्स और एंगेल्स शहरी निम्न-पूंजीपतियों के प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के लिए इस शब्द का इस्तेमाल करते थे।—सं०

का यथासंभव स्पष्ट से स्पष्ट बोध कराने से, क्षण भर के लिए भी, बाज़ नहीं आते, ताकि जर्मन मज़दूर उन सामाजिक और राजनीतिक अवस्थाओं को, जिन्हें पूंजीपति वर्ग अपने प्रभुत्व के साथ अनिवार्यतः लागू करेगा, फ़ौरन पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध, साधन के रूप में, इस्तेमाल करना शुरू कर सकें, ताकि जर्मनी में प्रतिक्रियावादी वर्गों का तख़्ता उलटने के बाद स्वयं पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ तुरन्त ही लड़ाई की शुरूआत हो जाये।

जर्मनी की ओर कम्युनिस्ट ख़ास तौर से इसलिए ध्यान देते हैं कि वह देश ऐसी पूंजीवादी क्रांति के द्वार पर खड़ा है जो अनिवार्यतः यूरोपीय सभ्यता की अधिक उन्नत अवस्थाओं में, इंगलैंड की सत्रहवीं शताब्दी और फ़्रांस की अठारहवीं शताब्दी के मुक़ाबले, एक अधिक उन्नत सर्वहारा को लेकर होगी; और इसलिये कि जर्मनी की यह पूंजीवादी क्रांति उसके बाद तुरंत ही होनेवाली सर्वहारा क्रान्ति की उपक्रमणिका होगी।

संक्षेप में, कम्युनिस्ट सर्वत्र मौजूदा सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के ख़िलाफ़ हर क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन करते हैं।

इन तमाम आन्दोलनों में वे प्रमुख प्रश्न के रूप में सम्पत्ति के प्रश्न को, चाहे उस समय उसका जिस अंश में भी विकास हुआ हो, सर्वोपरि स्थान देते हैं।

अंत में, वे सर्वत्र तमाम देशों की जनवादी पार्टियों के बीच एकता और समझौता कराने की कोशिश करते हैं।

कम्युनिस्ट अपने विचारों और उद्देश्यों को छिपाना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते हैं। वे खुलेआम एलान करते हैं कि उनके लक्ष्य समस्त वर्तमान सामाजिक अवस्थाओं के बलात् पर्युत्क्षेपण द्वारा ही सिद्ध किये जा सकते हैं। कम्युनिस्ट क्रान्ति के भय से शासक वर्ग कांपते हैं तो कांपें! सर्वहाराओं के पास अपनी बेड़ियों के सिवा खोने के लिए कुछ नहीं है। जीतने के लिए उनके सामने सारी दुनिया है।

दुनिया के मज़दूरो, एक हो!

मार्क्स और एंगेल्स द्वारा
दिसम्बर १८४७–जनवरी १८४८
में लिखित।
पहले-पहल लन्दन में फ़रवरी १८४८
में जर्मन में प्रकाशित।

१८८८ के अंग्रेज़ी संस्करण
के मूलपाठ के अनुसार
मुद्रित।
अंग्रेज़ी से अनूदित।

कार्ल मार्क्स

मज़दूरी और पूंजी[26]

१८९१ के संस्करण में फ़्रेडरिक एंगेल्स की भूमिका

यह रचना सर्वप्रथम «*Neue Rheinische Zeitung*»[27] में ४ अप्रैल १८४९ से सम्पादकीय लेखों की एक माला के रूप में प्रकाशित हुई थी। मार्क्स ने १८४७ में ब्रसेल्स के जर्मन मज़दूर समाज[28] के सामने कुछ भाषण दिये थे, उन्हीं पर यह पुस्तक आधारित है। जिस रूप में यह रचना छपी, वह अपूर्ण है। अंक २६९ के अन्त में लिखा था – "क्रमशः", पर यह क्रम पूर्ण न हुआ, क्योंकि तभी से एक के बाद एक, घटनाओं का तांता बंध गया: हंगरी पर रूसियों ने हमला कर दिया,[29] ड्रेस्डेन, आइज़रलोन, एल्बरफ़ेल्ड, फ़ाल्ज़ और बेडेन में विद्रोह हुए,[30] जिनके कारण ख़ुद यह पत्र भी (१९ मई १८४९ को) अधिकारियों द्वारा बन्द कर दिया गया। लेखमाला के आगे के भाग की पांडुलिपि मार्क्स की मृत्यु के बाद उनके काग़ज़ात में नहीं मिली।[31]

पुस्तिकाकार अलग प्रकाशन के रूप में 'मज़दूरी और पूंजी' के कई संस्करण निकल चुके हैं। अंतिम संस्करण १८८४ में होटिंगेन-ज़ूरिच के 'स्विस कोआपरेटिव प्रेस' ने निकाला था। अभी तक जितने संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उन सब में मूल पाठ को ज्यों का त्यों रखा गया है। लेकिन यह नया संस्करण, जिसकी १०,००० से कम प्रतियां नहीं छप रही हैं, एक प्रचार-पुस्तिका के रूप में निकल रहा है, इसलिए मेरे सामने यह सवाल उठना लाज़िमी था कि क्या ऐसी परिस्थिति में ख़ुद मार्क्स मूलपाठ में बिना कोई परिवर्तन किये उसे छापना पसन्द करते।

पांचवें दशक में मार्क्स अभी अर्थशास्त्र की अपनी समालोचना को पूरा नहीं कर पाये थे। यह काम कहीं छठे दशक के अन्तिम दिनों में जाकर पूरा हुआ। इसलिए, 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास' के प्रथम भाग (१८५९ में प्रकाशित) के पहले मार्क्स की जितनी रचनाएं निकली हैं, वे १८५९ के बाद लिखी गयी रचनाओं से कुछ बातों में भिन्न हैं, और उनमें कुछ शब्द, और कभी-कभी तो पूरे वाक्य ऐसे आ गये हैं जो बाद की रचनाओं के दृष्टिकोण से अनुपयुक्त और यहां तक कि ग़लत मालूम पड़ते हैं। अब यह तो स्वतःस्पष्ट है कि आम पाठक के लिए उद्दिष्ट साधारण संस्करणों में इस पहलेवाले दृष्टिकोण का लेखक के बौद्धिक विकास की एक सीढ़ी होने के नाते अपना स्थान है, और लेखक तथा पाठक दोनों का ही यह निर्विवाद अधिकार है कि ये पुरानी रचनाएं बिना किसी हेर-फेर के छापी जायें। और मैं उनका एक शब्द भी बदलने की बात नहीं सोचता।

पर जब एक नया संस्करण, सच पूछिए तो केवल मज़दूरों में प्रचार के लिए निकाला जा रहा है, तो बात दूसरी हो जाती है। मार्क्स होते तो वह भी ऐसी सूरत में १८४९ के पुराने प्रस्तुतीकरण को अपने नये दृष्टिकोण के अनुसार बदल देते। और सभी आवश्यक बातों में पुस्तक को इस प्रकार बदलने के उद्देश्य से इस संस्करण में कतिपय परिवर्तन करने या नये अंश जोड़ने में मेरा यह दृढ़ विश्वास रहा है कि मार्क्स होते तो वह भी ऐसा ही करते। इसलिए मैं पहले से ही पाठक को बता देना चाहता हूं कि यह वह पुस्तक नहीं है, जिसे मार्क्स ने १८४९ में लिखा था; बल्कि इसे वह पुस्तक समझना चाहिए जिसे यदि मार्क्स १८९१ में जीवित होते तो लगभग इसी तरह लिखते। इसके अलावा, पुस्तक के मूलपाठ की इतनी अधिक प्रतियां वितरित हो चुकी हैं कि वे तब तक के लिए काफ़ी होंगी जब तक कि मैं उसे फिर, बिना किसी परिवर्तन के, एक पूर्ण संस्करण के रूप में नहीं प्रकाशित करता।

मैंने जितने परिवर्तन किये हैं उन सब का आधार एक है। मूलपाठ के अनुसार मज़दूर मज़दूरी के बदले में पूंजीपति के हाथों अपना **श्रम** बेचता है। वर्तमान पाठ के अनुसार वह अपनी **श्रम-शक्ति** बेचता है। मैं इस परिवर्तन के लिए कुछ सफ़ाई देने के लिए कर्त्तव्यबद्ध हूं। यह सफ़ाई मज़दूरों को प्रतिदेय है ताकि उन्हें मालूम हो जाये कि यह केवल शब्दों के साथ खिलवाड

करने का मामला नहीं है, बल्कि इसका सम्बन्ध पूरे अर्थशास्त्र के एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सवाल से है। यह सफ़ाई पूंजीपतियों को भी प्रतिदेय है ताकि वे अच्छी तरह समझ जायें कि वे अशिक्षित मज़दूर, जिनके लिए कठिन से कठिन आर्थिक विश्लेषण भी सहज ही बोधगम्य बनाया जा सकता है, उन घमंडी "पढ़े-लिखे बाबुओं" से कितने अधिक समझदार हैं, जिनके लिए ये पेचीदा सवाल सारी उम्र दुर्बोध बने रहते हैं।

शास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्र[32] ने उद्योग-धंधों में व्यावहारिक रूप में प्रचलित, कारख़ानेदारों की यह धारणा अपना ली थी कि वे मज़दूरों से उनका श्रम ख़रीदते हैं और उनको उसका दाम देते हैं। कारख़ानेदारों के व्यवसाय की आवश्यकताओं, उनके बही-खाते और दामों के हिसाब-किताब के लिए यह धारणा सर्वथा पर्याप्त थी। लेकिन जब वह बेसोचेसमझे राजनीतिक अर्थशास्त्र में लायी गयी तब वहां उसने सचमुच अजीबोग़रीब ग़लतियां और गड़बड़ियां पैदा कर दीं।

अर्थशास्त्र इस बात को देखता है कि सभी मालों के दाम, जिनमें वह माल भी शामिल है जिसे अर्थशास्त्र "श्रम" कहता है, बराबर बदलते रहते हैं और यह कि वे अतिविविध परिस्थितियों के कारण, जिनका प्राय: स्वयं माल के उत्पादन से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता, घटते और बढ़ते हैं। अत: देखने में ऐसा लगता है कि आम तौर पर दाम संयोगवश निश्चित होते रहते हैं। अतएव जैसे ही राजनीतिक अर्थशास्त्र एक विज्ञान के रूप में प्रकट हुआ,[33] वैसे ही यह पता लगाना उसका एक प्रथम कार्य बन गया कि वह कौनसा नियम है जो बाहरी तौर से मालों के दाम निर्धारित करनेवाले इस संयोग के पीछे छिपा हुआ है और जो वास्तव में स्वयं इस संयोग को निर्धारित करता है। मालों के लगातार बदलते और चढ़ते-उतरते दामों के अन्दर राजनीतिक अर्थशास्त्र ने उस अविचल केन्द्र-बिन्दु की खोज करना चाहा जिसके इर्द-गिर्द ये परिवर्तन और ये चढ़ाव-उतार होते हैं। संक्षेप में, मालों के दामों से आरम्भ करके राजनीतिक अर्थशास्त्र ने असल में दामों को नियंत्रित करनेवाले नियम के रूप में मालों के मूल्य का पता लगाने की कोशिश की, जिसके द्वारा ही दामों में होनेवाले ये सारे परिवर्तन समझे जा सकते हैं और जो उनका मूल कारण होता है।

शास्त्रीय अर्थशास्त्र को तब पता चला कि किसी भी माल का मूल्य उसमें लगे श्रम, उसके उत्पादन के लिए अपेक्षित श्रम द्वारा निर्धारित होता

है। इस स्पष्टीकरण से उसने संतोष कर लिया। और हम भी फ़िलहाल यहीं रुक सकते हैं। ग़लतफ़हमी न हो, इसलिए मैं पाठक को सिर्फ़ यह याद दिला दूं कि आजकल यह परिभाषा बिलकुल अपर्याप्त हो गयी है। श्रम के मूल्य पैदा करनेवाले गुण की आद्यंत छान-बीन करनेवाले पहले व्यक्ति मार्क्स थे। इस छान-बीन से मार्क्स को मालूम हुआ कि किसी माल के उत्पादन के लिए प्रगटतः या यथार्थतः अपेक्षित समस्त श्रम से सभी परिस्थितियों में उसमें मूल्य की वह मात्रा नहीं जुड़ जाती जो प्रयुक्त श्रम की मात्रा के बराबर हो। इसलिए यदि हम आज चलते हुए ढंग से रिकार्डो जैसे अर्थशास्त्रियों के इस कथन को, कि किसी माल का मूल्य उसके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम से निश्चित होता है, दुहराते हैं, तो ऐसा हम हमेशा मार्क्स की बताई हुई सीमाओं को ध्यान में रखते हुए ही करते हैं। यहां बस इतना ही कहना काफ़ी है; और अधिक जानने के लिए मार्क्स की रचना 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास', १८५९, और 'पूंजी' का पहला खंड देखना चाहिए।

परन्तु जब अर्थशास्त्रियों ने श्रम द्वारा मूल्य के इस निर्धारण सिद्धांत को "श्रम" नामक माल पर लागू किया, तब वे एक के बाद दूसरे अंतर्विरोध में फंसते गये। "श्रम" का मूल्य कैसे निर्धारित होता है? उसमें लगे आवश्यक श्रम से। लेकिन किसी मजदूर के एक दिन, एक सप्ताह, एक महीने या एक साल के श्रम में कितना श्रम लगता है? ज़ाहिर है, उसमें एक दिन, एक सप्ताह, एक महीने या एक साल का ही श्रम लगता है। यदि श्रम ही सारे मूल्यों की माप है, तो निश्चय ही "श्रम का मूल्य" केवल श्रम से ही मापा जा सकता है। परन्तु यदि हम एक घंटे के श्रम के मूल्य के विषय में केवल इतना ही जानते हैं कि वह एक घंटे के श्रम के बराबर है, तब तो कहना चाहिए कि हम कुछ भी नहीं जानते। उससे तो हम अपने लक्ष्य की ओर तिल बराबर भी आगे नहीं बढ़ते और कोल्हू के बैल की तरह केवल चक्कर काटते रहते हैं।

इसलिए, शास्त्रीय अर्थशास्त्र ने एक दूसरा रास्ता पकड़ा। उसने कहा: किसी भी माल का मूल्य उसके उत्पादन के ख़र्च के बराबर होता है। लेकिन श्रम के उत्पादन का ख़र्च क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने में अर्थशास्त्रियों को थोड़ा तर्क का कुतर्क करना पड़ा। स्वयं श्रम के उत्पादन के ख़र्च की छान-बीन करने के बजाय, जिसका कि दुर्भाग्य से पता लगाना सम्भव नहीं

है, उन्होंने मज़दूर के उत्पादन के ख़र्च की छान-बीन करनी शुरू की। और इसका पता लगाना सम्भव है। समय और परिस्थितियों के अनुसार यह ख़र्च बदलता रहा है; पर समाज विशेष में, स्थान विशेष में और उत्पादन की शाखा विशेष में वह, कम से कम एक काफ़ी संकुचित दायरे के अंदर, निश्चित रहता है। आज हम पूंजीवादी उत्पादन के आधिपत्य में रहते हैं, जिसमें आबादी का एक बड़ा, और संख्या में दिनोंदिन बढ़नेवाला वर्ग ऐसा है जो केवल उसी हालत में ज़िन्दा रह सकता है जब कि वह उत्पादन के साधनों—यानी औज़ारों, मशीनों, कच्चे माल और जीवन-निर्वाह के साधनों—के मालिकों के लिए मज़दूरी के बदले काम करे। उत्पादन की इस प्रणाली के आधार पर मज़दूर के उत्पादन का ख़र्च जीवन-निर्वाह के साधनों की उस मात्रा के बराबर—या रुपये-पैसे की शक्ल में इन साधनों के दाम के बराबर—होता है जो मज़दूर को काम करने योग्य बनाने, उसे काम के योग्य बनाये रखने, और जब वह बुढ़ापे, बीमारी या मौत के कारण कार्यक्षेत्र से हट जाये तो उसकी ख़ाली जगह को एक नये मज़दूर से भरने के लिए, अर्थात् मज़दूर वर्ग की आवश्यक रूप में वंश-वृद्धि करने के लिए ज़रूरी है। मान लीजिए कि जीवन-निर्वाह के इन साधनों का नक़द दाम औसतन् तीन मार्क प्रतिदिन है।

इस प्रकार हमारे मज़दूर को, उस पूंजीपति से जो उसे काम पर लगाता है, तीन मार्क रोज़ाना की मज़दूरी मिलती है। उसके बदले में पूंजीपति मज़दूर से, मान लीजिए, बारह घंटे रोज़ काम लेता है और मोटे तौर पर इस तरह हिसाब लगाता है:

मान लीजिए कि हमारा मज़दूर एक मिस्त्री है। उसका काम मशीन का एक पुर्ज़ा तैयार करना है, जिसे वह एक दिन में पूरा कर सकता है। इसके लिए कच्चे माल पर—लोहे और पीतल पर, जो पहले से ज़रूरी शक्ल में तैयार कर लिये गये हैं—बीस मार्क की लागत आती है। भाप से चलनेवाले इंजन में जितना कोयला ख़र्च होता है, उसका और इस इंजन में, लेथ में और उन औज़ारों में, जिनको हमारा मज़दूर इस्तेमाल करता है, जितनी घिसाई होती है उसका एक दिन में एक मज़दूर के हिसाब में जो हिस्सा आता है, सब की लागत, मान लीजिए, एक मार्क है। उधर हमने मज़दूर की एक दिन की मज़दूरी तीन मार्क मानी है। इस तरह कुल जोड़ कर हमारे उस मशीन के पुर्ज़े को तैयार करने में चौबीस मार्क लगते हैं। परन्तु

पूंजीपति हिसाब लगाता है कि उसे इस पुर्ज़े के बदले में ख़रीदार से औसतन् सत्ताईस मार्क, यानी उसकी लागत से तीन मार्क ज्यादा मिलेंगे।

ये तीन मार्क, जो पूंजीपति की जेब में चले जाते हैं, कहां से आते हैं ? शास्त्रीय अर्थशास्त्र का दावा है कि माल औसतन् अपने मूल्य पर, अर्थात् उस दाम पर बिकता है जो उसमें लगे श्रम के आवश्यक परिमाण के अनुरूप है। इस तरह हमारे मशीन के पुर्ज़े का औसत दाम – जो सत्ताईस मार्क है – उसके मूल्य के, यानी उसमें लगे श्रम के बराबर होना चाहिये। लेकिन सत्ताईस मार्क की इस रक़म में से इक्कीस मार्क के बराबर का मूल्य तो हमारे मिस्त्री के काम शुरू करने के पहले से ही मौजूद था। बीस मार्क कच्चे माल के रूप में था और एक मार्क उस कोयले के रूप में था जो काम के दौरान ख़र्च हुआ, या उन मशीनों और औज़ारों के रूप में था जो पुर्ज़ा तैयार करने में इस्तेमाल किये गये और इस प्रक्रिया में जिनकी काम करने की शक्ति में इस रक़म के बराबर मूल्य की कमी आ गयी। बचते हैं छः मार्क, जो कच्चे माल के मूल्य में नये जुड़ गये हैं। परन्तु ख़ुद हमारे अर्थशास्त्री यह मानकर चल रहे हैं कि ये छः मार्क केवल उस श्रम से ही पैदा हो सकते हैं जो मज़दूर ने कच्चे माल में जोड़ दिया है। मतलब यह हुआ कि मज़दूर के बारह घंटे के श्रम से छः मार्क का नया मूल्य पैदा हो गया। लिहाज़ा उसके बारह घंटे के श्रम का मूल्य छः मार्क के बराबर ठहरता है। और इस प्रकार अंततोगत्वा हमने यह पता लगा लिया कि "श्रम का मूल्य" क्या है।

"ज़रा ठहरो!" इतने में हमारा मिस्त्री चिल्लाता है, "छः मार्क? लेकिन मुझे तो सिर्फ़ तीन मार्क मिले हैं! मेरा मालिक तो हलफ़ उठाकर कहता है कि बारह घंटे की मेरी मेहनत का मूल्य केवल तीन मार्क है और यदि मैं छः मार्क मांगता हूं, तो वह मुझपर हंसता है। यह क्या माजरा है?"

यदि हम पहले श्रम के मूल्य को लेकर कोल्हू के बैल की तरह चक्कर काट रहे थे, तो अब हम एक ऐसे अन्तर्विरोध में फंसकर रह गये हैं जिसका कोई समाधान नहीं है। हम श्रम के मूल्य की खोज में निकले थे और हमें इतना मूल्य मिल गया कि हम उसका उपयोग नहीं कर सकते। मज़दूर के लिए बारह घंटे के श्रम का मूल्य तीन मार्क है, पूंजीपति के लिए उसका मूल्य छः मार्क है, जिसमें से तीन मार्क वह मज़दूर को बतौर मज़दूरी के देता

है और तीन अपनी जेब में रख लेता है। इस प्रकार श्रम का एक मूल्य नहीं हुआ, दो मूल्य हुए हैं और तुर्रा यह कि दोनों मूल्य बिलकुल ही अलग!

और यदि मुद्रा में व्यक्त मूल्य को श्रम-काल के रूप में व्यक्त किया जाये, तो यह अंतर्विरोध और भी बेसिर-पैर का मालूम होता है। बारह घंटे के श्रम से छ: मार्क का नया मूल्य पैदा होता है। अत: तीन मार्क, यानी उस रक़म के बराबर मूल्य जो मज़दूर को बारह घंटे के श्रम के एवज़ में मिलता है, छ: घंटे में पैदा होता है। मतलब यह कि मज़दूर को बारह घंटे के श्रम के लिए छ: घंटे के श्रम की उपज के बराबर मूल्य हस्तगत होता है। इसलिए, या तो श्रम के दो मूल्य हैं, एक दूसरे का दुगुना, या बारह बराबर है छ: के! दोनों सूरतों में हम बिलकुल औंधी खोपड़ी वाली बात पाते हैं।

आप लाख हाथ-पैर मारिए, पर जब तक आप श्रम के क्रय-विक्रय और श्रम के मूल्य की बातें करते रहेंगे, तब तक आप इस गोरख-धंधे से नहीं निकल पायेंगे। अर्थशास्त्रियों के साथ यही बात हुई है। शास्त्रीय अर्थशास्त्र की अन्तिम शाखा, रिकार्डो की शाखा का प्रधानत: इसी अन्तर्विरोध को हल न कर सकने के कारण दिवाला निकल गया। शास्त्रीय अर्थशास्त्र एक अंधी गली में फंस गया था। इस अंधी गली से निकलने का रास्ता कार्ल मार्क्स ने खोज निकाला।

जिसे अर्थशास्त्री "श्रम" के उत्पादन का ख़र्च समझते थे, वह श्रम का नहीं, बल्कि ख़ुद जीते-जागते मज़दूर के उत्पादन का ख़र्च था। और यह मज़दूर पूंजीपति के हाथों जो चीज़ बेचता था, वह उसका श्रम नहीं थी। मार्क्स ने कहा है: "जैसे ही मज़दूर सचमुच श्रम करना शुरू कर देता है वैसे ही श्रम उसका नहीं रह जाता; इसलिए अब वह उसे बेच भी नहीं सकता।" ज्यादा से ज्यादा, वह केवल **भविष्य** का अपना श्रम बेच सकता है, यानी वह एक निश्चित समय में काम की एक विशेष मात्रा पूरा करने का बीड़ा उठा सकता है। परन्तु ऐसा करने में वह अपना श्रम नहीं बेचता (बेचने से पहले श्रम करना ज़रूरी है), बल्कि एक निश्चित समय के लिए (जहां समयानुसार मज़दूरी मिलती है) या एक निश्चित मात्रा में माल तैयार करने के लिए (जहां कार्यानुसार मज़दूरी मिलती है) वह **श्रम-शक्ति** को एक निश्चित रक़म के बदले में पूंजीपति के हाथों में सौंप देता है: वह अपनी **श्रम-शक्ति** को बेचता है, या किराये पर उठाता है। परन्तु यह श्रम-शक्ति उसके शरीर में बसी हुई है और उससे अलग नहीं की जा सकती। इसलिए, श्रम-

शक्ति के उत्पादन का ख़र्च वही है जो ख़ुद मज़दूर के उत्पादन का ख़र्च है। अर्थशास्त्री जिसे श्रम के उत्पादन का ख़र्च कहते थे, वह वास्तव में मज़दूर के और उसके साथ-साथ उसकी श्रम-शक्ति के उत्पादन का ख़र्च है। और इसलिए श्रम-शक्ति के उत्पादन के ख़र्च से हम श्रम-शक्ति के मूल्य की ओर लौट सकते हैं, और यह निर्धारित कर सकते हैं कि विशेष गुणसम्पन्न श्रम-शक्ति के उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से कितना श्रम आवश्यक होगा, जैसा कि श्रम-शक्ति के क्रय-विक्रय वाले अध्याय में मार्क्स ने किया है ('पूंजी', खण्ड १, अध्याय ४)।

अच्छा, जब मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति पूंजीपति के हाथों बेच देता है, यानी जब वह उसे पहले से तै की गयी मज़दूरी–समयानुसार अथवा कार्यानुसार–के एवज़ में पूंजीपति के हवाले करता है, तब क्या होता है? पूंजीपति मज़दूर को अपने वर्कशाप या कारख़ाने के अन्दर ले जाता है जहां काम के लिए ज़रूरी सभी चीज़ें–कच्चा माल, सहायक सामान (कोयला, रंग, आदि), औज़ार, मशीनें–पहले से मौजूद हैं। यहां मज़दूर खटना शुरू करता है। उसकी दिन भर की मज़दूरी तीन मार्क हो सकती है, जैसा कि हमने ऊपर माना था–और इस सम्बन्ध में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वह तीन मार्क समयानुसार मज़दूरी के रूप में कमाता है या कार्यानुसार मज़दूरी के रूप में। यहां हम फिर यह मान कर चलते हैं कि बारह घंटे में मज़दूर अपने श्रम से प्रयुक्त कच्चे माल में छः मार्क का नया मूल्य जोड़ देता है, जिस नये मूल्य को पूंजीपति तैयार माल को बेच कर वसूल करता है। उसमें से वह मज़दूर को उसके तीन मार्क दे देता है और बचे हुए तीन मार्क अपने पास रख लेता है। अब मज़दूर यदि बारह घंटे में छः मार्क का मूल्य पैदा करता है, तो वह छः घंटे में तीन मार्क का मूल्य पैदा करता है। इसलिए, अपनी मज़दूरी के तीन मार्क का प्रति-मूल्य तो उसने पूंजीपति को तभी चुका दिया जब वह उसके लिए छः घंटे काम कर चुका। छः घंटे के काम के बाद दोनों का हिसाब चुकता हो गया; अब उनका एक दूसरे पर एक पैसा भी बाक़ी नहीं रहा।

"ज़रा ठहरो!" अब पूंजीपति चिल्ला उठता है, "मैंने मज़दूर को पूरे दिन, यानी बारह घंटे के लिए काम पर रखा है; और छः घंटे के माने होते हैं सिर्फ़ आधा दिन। इसलिए, जब तक बाक़ी छः घंटे भी पूरे न हो जायें, तब तक काम करते जाओ! इसके बाद ही हमारा तुम्हारा हिसाब

चुकता होगा!" और सचमुच मज़दूर को उस क़रार को निभाना पड़ता है जो उसने "स्वेच्छापूर्वक" किया है, और जिसके अनुसार वह वादा कर चुका है कि वह छः घंटे के श्रम की लागत की चीज़ पाने के एवज़ में पूरे बारह घंटे तक काम करेगा।

कार्यानुसार मज़दूरी के साथ यही बात है। मान लीजिए कि हमारा यह मज़दूर बारह घंटे में किसी माल के बारह अदद तैयार करता है। उनमें से हर अदद में लगे हुए कच्चे माल में और मशीनों आदि की घिसाई में दो मार्क खर्च होते हैं और हरेक अदद ढाई मार्क में बिकता है। तब, पहले की अभिधारणाओं के आधार पर, पूंजीपति मज़दूर को हर अदद के लिए पचीस फ़ेनिग* देगा। इस दर पर बारह अदद के लिए मज़दूर को तीन मार्क मिलेंगे जिनको कमाने के लिए मज़दूर को बारह घंटे काम करना पड़ता है। पूंजीपति को बारह अदद के लिए तीस मार्क मिलेंगे। उनमें से चौबीस मार्क कच्चे माल और मशीनों आदि की घिसाई की मद को निकाल दीजिए। तब बचते हैं छः मार्क, जिनमें से वह तीन मार्क मज़दूर को बतौर मज़दूरी के दे देता है और तीन मार्क अपनी जेब में डाल लेता है। बात बिलकुल वही है जो ऊपर कही गयी थी। यहां भी मज़दूर अपने लिए, यानी अपनी मज़दूरी के बराबर मूल्य उत्पन्न करने के लिए, छः घंटे (बारह घंटों में प्रत्येक में से आधा घंटा) काम करता है और छः घंटे पूंजीपति के लिए काम करता है।

अच्छे से अच्छे अर्थशास्त्री "श्रम" के मूल्य से आरम्भ करने पर जिस कठिनाई में फंस कर रह जाते थे, वह "श्रम" के बजाय "**श्रम-शक्ति**" से आरम्भ करते ही तुरन्त ग़ायब हो जाती है। आजकल के हमारे पूंजीवादी समाज में अन्य किसी भी माल की तरह, श्रम-शक्ति भी एक माल है, और फिर भी वह एक अत्यंत विशिष्ट प्रकार का माल है। उसमें यह विशिष्ट गुण है कि वह मूल्योत्पादक शक्ति है; वह मूल्य का स्रोत है, सचमुच एक ऐसा स्रोत है कि अगर उसका उचित इस्तेमाल किया जाये, तो जितना मूल्य वह स्वयं रखती है उससे भी अधिक मूल्य उत्पन्न कर सकती है। उत्पादन की वर्तमान अवस्था में मानव श्रम-शक्ति दिन भर में न केवल स्वयं अपने मूल्य तथा अपनी लागत से अधिक मूल्य पैदा कर देती है; बल्कि हर नयी वैज्ञानिक खोज और हर नये प्राविधिक आविष्कार के साथ उसकी रोज़मर्रा की लागत

*१ मार्क=१०० फ़ेनिग।—सं०

के मुक़ाबले उसकी रोज़मर्रा के पैदावार की बेशी बढ़ती जाती है, अतः श्रम के दिन का वह भाग जिसमें मज़दूर अपनी दिन भर की मज़दूरी का प्रति-मूल्य उत्पन्न करने के लिए काम करता है, घटता जाता है,—फलतः दूसरी ओर श्रम के दिन का वह भाग, जिसमें मज़दूर को अपना श्रम बिना उजरत लिए पूंजीपति को नज़र कर देना पड़ता है, बढ़ता जाता है।

और आजकल के हमारे पूरे समाज का यही आर्थिक ढांचा है: सभी प्रकार का मूल्य केवल मज़दूर वर्ग ही उत्पन्न करता है। कारण, मूल्य श्रम का ही दूसरा नाम है, वह नाम जो आजकल के हमारे पूंजीवादी समाज में किसी ख़ास माल के उत्पादन में लगे, सामाजिक दृष्टि से आवश्यक, श्रम की मात्रा को दिया जाता है। लेकिन मज़दूरों द्वारा उत्पन्न इन मूल्यों पर मज़दूरों का अधिकार नहीं होता। उन पर अधिकार होता है कच्चे माल, मशीनों, औज़ारों तथा आरक्षित निधियों के मालिकों का, जो मालिकों को मज़दूर वर्ग की श्रम-शक्ति को ख़रीदने का सुयोग प्रदान करते हैं। इसलिए मज़दूर वर्ग जो राशि-राशि उपज पैदा करता है, उसमें से उसे केवल एक हिस्सा ही वापस मिलता है। और, जैसा कि हमने अभी देखा, उसका दूसरा हिस्सा, जो पूंजीपति अपने पास रख लेता है, जिसमें से उसे ज़्यादा से ज़्यादा ज़मींदार के साथ हिस्सा बंटाना पड़ता है, हर नये आविष्कार तथा खोज के साथ बढ़ता जाता है, जब कि मज़दूर वर्ग के हिस्से में आनेवाला भाग (फ़ी आदमी के हिसाब से) या तो बहुत ही धीरे-धीरे और बहुत ही कम बढ़ता है, या बिलकुल ही नहीं बढ़ता, और बाज़ सूरतों में तो वह घट भी सकता है।

लेकिन ये आविष्कार और खोजें, जो नित्य बढ़ती हुई गति से एक दूसरे से आगे बढ़ रही हैं, मानव श्रम की उत्पादनशीलता जो दिन-ब-दिन इतनी तेज़ी के साथ बढ़ रही है कि पहले सोचा भी नहीं जा सकता था—अन्त में जाकर एक ऐसा टकराव पैदा करती हैं जिसके कारण आज की पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का विनाश निश्चित है। एक ओर अकूत धन-सम्पत्ति और मालों की इफ़रात है जिनको ख़रीदार ख़रीद नहीं पाते; दूसरी ओर समाज का अधिकांश भाग है जो सर्वहारा हो गया है, उजरती मज़दूर बन गया है, और जो ठीक इसी लिए इन इफ़रात मालों को हस्तगत करने में असमर्थ है। समाज के एक छोटे से अत्यधिक धनी वर्ग और दूसरी ओर उजरती मज़दूरों के एक विशाल सम्पत्तिविहीन वर्ग में बंट जाने के परिणामस्वरूप उसका ख़ुद अपनी

इफ़रात से गला घुंटने लगता है, जब कि दूसरी तरफ़, समाज के सदस्यों का विशाल वहुमत घोर अभाव से प्रायः अरक्षित है या नितांत अरक्षित तक है। यह वस्तु-स्थिति अधिकाधिक वेतुकी और अधिकाधिक अनावश्यक होती जाती है। इस स्थिति का अंत अपरिहार्य है; उसका अंत सम्भव है। एक ऐसी नयी समाज-व्यवस्था सम्भव है जिसमें वर्तमान वर्ग-भेद लुप्त हो जायेंगे और जिसमें —शायद एक छोटे से संक्रमण-काल के वाद, जिसमें कुछ अभाव सहन करना पड़ेगा, लेकिन जो नैतिक दृष्टि से बड़ा मूल्यवान काल होगा—समाज के सभी सदस्यों की अभी से मौजूद अपार उत्पादन-शक्ति का योजनावद्ध रूप से उपयोग तथा विस्तार करके और सभी के लिए काम करना अनिवार्य वनाकर, जीवन-निर्वाह के साधनों को, जीवन के उपभोग के साधनों को तथा मनुष्य की सभी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों के विकास और प्रयोग के साधनों को, सवके लिए समान मात्रा में और अधिकाधिक पूर्ण रूप से सुलभ बना दिया जायेगा। और यह वात कि इस नयी समाज-व्यवस्था को प्राप्त करने का मज़दूरों का निश्चय अधिकाधिक दृढ़ होता जा रहा है, कल, पहली मई को और रविवार, ३ मई को महासागर के दोनों ओर प्रत्यक्ष हो जायेगी।[34]

लन्दन, ३० अप्रैल, १८९१ फ़्रेडरिक एंगेल्स

«Vorwärts» समाचारपत्र, अंक १०९, १३ मई १८९१, के परिशिष्ठ तथा Karl Marx, «Lohnarbeit und Kapital». Berlin 1891, पुस्तिका में प्रकाशित।

पुस्तिका के मूलपाठ के अनुसार मुद्रित। मूल जर्मन।

मज़दूरी और पूंजी

१

विभिन्न क्षेत्रों से हमारे पास शिकायत आयी है कि हमने उन आर्थिक सम्बन्धों को नहीं पेश किया है, जो मौजूदा वर्ग-संघर्षों और राष्ट्रीय संघर्षों के भौतिक आधार हैं। इन सम्बन्धों का हमने जानबूझकर केवल तभी ज़िक्र किया है, जब वे राजनीतिक संघर्षों में बलात् प्रत्यक्ष रूप से सामने आ गये हैं।

कांटे की बात यह थी कि हम वर्तमान इतिहास में वर्ग-संघर्ष का सिलसिला देखें और, अनुभाविक रूप से, उस ऐतिहासिक सामग्री द्वारा जो हमारे पास मौजूद है और जो हर रोज़ नई-नई पैदा हो रही है, सिद्ध करें कि फ़रवरी और मार्च में[35] मज़दूर वर्ग के अधीनीकरण के साथ ही साथ उसके विरोधी भी पराजित हो गये थे – फ़्रांस में पूंजीवादी जनतंत्रवादी और यूरोपीय महाद्वीप में पूंजीवादी और किसान वर्ग जो हर जगह सामन्ती निरंकुशता के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे; कि फ़्रांस में "सच्चे जनतन्त्र" की जीत उन तमाम राष्ट्रों की हार भी थी जिन्होंने फ़रवरी-क्रान्ति से प्रभावित होकर वीरतापूर्ण स्वातंत्र्य संग्राम छेड़ा था; और यह कि अन्ततः क्रान्तिकारी मज़दूरों की पराजय के साथ-साथ यूरोप फिर पलटा खाकर अपनी पुरानी दोहरी ग़ुलामी, ब्रिटिश-रूसी ग़ुलामी की हालत में पहुंच गया। पेरिस में जून का संघर्ष,[36] वियेना का पतन, नवम्बर १८४८ में बर्लिन में होनेवाला विचित्र दुखान्त-सुखान्त नाटक, पोलैंड, इटली और हंगरी की निराशापूर्ण सरगर्मियां,[37] आयरलैंड को भूखा मारकर आत्मसमर्पण के लिए बाध्य करना – ये ही वे मुख्य घटनाएं हैं जो यूरोप में पूंजीपति वर्ग तथा मज़दूर वर्ग के बीच चलनेवाले वर्ग-संघर्ष की विशेषता को प्रकट करती हैं और जिनके ज़रिए हमने यह साबित

किया था कि जब तक क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग की विजय नहीं होती, तब तक प्रत्येक क्रान्तिकारी उथल-पुथल – चाहे उसका लक्ष्य वर्ग-संघर्ष से कितना ही दूर क्यों न मालूम होता हो – सदा असफल रहेगी, और जब तक सर्वहारा क्रान्ति और सामन्ती प्रतिक्रान्ति के बीच, एक विश्व-युद्ध के रूप में, टक्कर नहीं होती, तब तक प्रत्येक सामाजिक सुधार केवल एक कल्पना ही बनकर रह जायेगा। वास्तविकता और हमारी प्रस्तुति दोनों में बेल्जियम और स्विट्ज़रलैंड एक महान ऐतिहासिक तैब्लो में, व्यंग्यचित्र के समान, दुखान्त-सुखान्त चित्र की तरह दिखाई देते थे, जिनमें से एक पूंजीवादी राजतंत्रीय आदर्श राज्य था और दूसरा पूंजीवादी आदर्श जनतंत्र; और ये दोनों राज्य अपने को वर्ग-संघर्ष से उतना ही मुक्त समझते थे जितना कि यूरोपीय क्रान्ति से।

हमारे पाठक यह देख चुके हैं कि १८४८ में वर्ग-संघर्ष किन विराट राजनीतिक रूपों में विकसित हुआ था। अब समय आ गया है कि उन आर्थिक सम्बन्धों पर भी अधिक निकट से विचार किया जाये जिन पर पूंजीपति वर्ग तथा उसके वर्गीय शासन का अस्तित्व, और साथ ही मज़दूरों की ग़ुलामी आधारित है।

हम तीन बड़े खंडों में जो पेश करेंगे वह यह है: १) मज़दूरी का पूंजी से सम्बन्ध, मज़दूर की ग़ुलामी, पूंजीपतियों का प्रभुत्व; २) मौजूदा व्यवस्था में मध्यम पूंजीपति वर्गों और तथाकथित किसान श्रेणी का अवश्यम्भावी विनाश; ३) यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों के पूंजीपति वर्गों का विश्व-बाज़ार के तानाशाह – इंगलैंड – द्वारा वाणिज्यिक अधीनीकरण और शोषण।

हम अपनी विवेचना को अधिक से अधिक सरल और आमफ़हम बनाने की कोशिश करेंगे और यह मानकर चलेंगे कि हमारे पाठकों को राजनीतिक अर्थशास्त्र का अत्यंत प्रारम्भिक ज्ञान भी नहीं है। हम चाहते हैं कि मज़दूर हमारी बात को समझ सकें। इसके अलावा, वर्तमान व्यवस्था के जाने-माने वकीलों से लेकर समाजवादी बाज़ीगरों और अनचीन्हे राजनीतिक महापंडितों तक में, जिनकी संख्या खंडित जर्मनी में सार्वभौम राजाओं से कहीं अधिक है, सरल से सरल आर्थिक सम्बन्धों के बारे में भी हद दर्जे का अज्ञान और भ्रांत धारणायें पाई जाती हैं।

अच्छा, अब हम पहला सवाल लें: मज़दूरी क्या है? वह कैसे निश्चित होती है?

यदि मज़दूरों से पूछा जाये: "तुम्हें कितनी मज़दूरी मिलती है?" तो एक जवाब देगा: "मुझे मेरा मालिक एक मार्क रोज़ देता है"; दूसरा कहेगा: "मुझे दो मार्क मिलते हैं"; और बाक़ी मज़दूर भी इसी तरह से जवाब देंगे। वे अपने अलग-अलग धंधों के अनुसार अलग-अलग रक़में बतायेंगे, जो उन्हें अपने मालिकों से किसी ख़ास तरह का काम पूरा करने के लिए, मिसाल के लिए एक गज़ कपड़ा बुनने या एक पेज मैटर कम्पोज़ करने के लिए मिलती हैं। वे भांति-भांति के उत्तर देंगे, लेकिन एक बात पर वे सब सहमत होंगे: वह यह कि मज़दूरी वह रक़म है जो पूंजीपति किसी ख़ास वक़्त तक श्रम करने या श्रम द्वारा उत्पादन की विशेष मात्रा के लिए देता है।

अतएव, ऐसा लगता है कि पूंजीपति पैसा देकर उनका श्रम **ख़रीदता है**। मज़दूर पैसे के एवज़ में उसके हाथ अपना श्रम **बेचते हैं**। लेकिन ऐसा सिर्फ़ ऊपर से दिखाई देता है। असल में, मज़दूर पैसे के एवज़ में पूंजीपति के हाथों जो चीज़ बेचते हैं, वह उनकी **श्रम-शक्ति** होती है। पूंजीपति इस श्रम-शक्ति को एक दिन के लिए, एक सप्ताह के लिए, एक महीने के लिए, या ऐसे ही किसी निश्चित समय के लिए ख़रीद लेता है। और ख़रीदने के बाद वह मज़दूरों से निश्चित समय तक काम कराकर उसका इस्तेमाल करता है। जिस रक़म से पूंजीपति ने मज़दूरों की श्रम-शक्ति ख़रीदी है, जैसे दो मार्क, उससे वह सेर भर चीनी या एक निश्चित मात्रा में कोई भी और चीज़ ख़रीद सकता था। जिन दो मार्कों से वह सेर भर चीनी ख़रीदता है, वे सेर भर चीनी के **दाम** हैं। जिन दो मार्कों से उसने बारह घंटे तक श्रम-शक्ति का इस्तेमाल करने का अधिकार ख़रीदा है, वे बारह घंटे की श्रम के दाम हैं। इसलिए जैसे चीनी बाज़ार में बिकनेवाला माल है, ठीक उसी तरह श्रम-शक्ति भी है। अन्तर सिर्फ़ इतना है कि चीनी तराज़ू में तौली जाती है और श्रम-शक्ति का हिसाब घड़ी से रखा जाता है।

मज़दूर अपने माल को, यानी अपनी श्रम-शक्ति को पूंजीपति के माल से, यानी पैसे से, बदल लेते हैं, और यह विनिमय एक निश्चित अनुपात में होता है—इतनी देर तक श्रम-शक्ति का उपयोग करने के लिए इतना पैसा। जैसे बारह घंटे तक बुनाई करने के लिए दो मार्क। और ये दो मार्क क्या उन तमाम मालों के द्योतक नहीं हैं, जिनको मैं दो मार्क देकर ख़रीद सकता हूं? इसलिए, असल में मज़दूर ने अपने माल का, यानी अपनी श्रम-शक्ति का, सभी प्रकार के अन्य मालों से विनिमय कर लिया है, और वह उसने

एक निश्चित अनुपात में किया है। पूंजीपति ने दो मार्क देकर, वास्तव में, उसकी एक दिन की मेहनत के बदले में उसे इतना गोश्त, इतना कपड़ा, इतना ईंधन, इतनी रोशनी, आदि दी है। चुनांचे, दो मार्क से वह अनुपात प्रकट होता है, जिसमें श्रम-शक्ति का दूसरे मालों से विनिमय होता है, अर्थात् मज़दूर की श्रम-शक्ति का **विनिमय मूल्य**। जब किसी माल के विनिमय मूल्य का **मुद्रा** के रूप में हिसाब लगाया जाता है, तब वह उसका **दाम** कहलाता है। **मज़दूरी** श्रम-शक्ति के दाम का ही एक विशेष नाम है, जिसे आम तौर पर **श्रम का दाम** कहा जाता है। मज़दूरी उस अजीब माल के दाम का एक विशेष नाम है, जिसकी स्थिति मनुष्य के हाड़-मांस में है।

किसी भी मज़दूर को ले लीजिए। मान लीजिए कि वह बुनकर है। पूंजीपति उसे करघा और सूत देता है। बुनकर काम करना शुरू कर देता है और सूत कपड़े में बदल जाता है। पूंजीपति कपड़े को हस्तगत करता है और, मान लीजिए कि, उसे बीस मार्क में बेच देता है। अब क्या बुनकर को मिलनेवाली मज़दूरी उसके बनाये हुए कपड़े में, इन बीस मार्कों में, उसके श्रम की उपज में, एक हिस्से के रूप में शामिल है? क़तई नहीं। बुनकर को उसकी मज़दूरी कपड़ा बिकने के बहुत पहले, और शायद उसकी बुनाई ख़तम होने के भी बहुत पहले मिल चुकी है। इसलिए, पूंजीपति उस पैसे में से मज़दूरी नहीं देता जो उसे कपड़ा बेचकर मिलेगा, बल्कि उस पैसे में से देता है, जो पहले से उसके पास मौजूद है। जिस प्रकार बुनकर उस करघे का और उस सूत का उत्पादन नहीं करता जो उसे मालिक से हासिल होते हैं, उसी प्रकार वह उन मालों का भी उत्पादन नहीं करता जो उसके माल के बदले में, यानी उसकी श्रम-शक्ति के बदले में, उसे मिलते हैं। मुमकिन है कि उसके मालिक को अपने कपड़े के लिए एक भी ख़रीदार न मिले। मुमकिन है कि कपड़े की बिक्री से मज़दूरी की रक़म भी न निकले। यह भी मुमकिन है कि बुनकर की मज़दूरी के मुक़ाबले में मालिक उसे बड़े अच्छे मुनाफ़े पर बेच ले। इस सब से बुनकर को कुछ नहीं लेना-देना है। उसकी श्रम-शक्ति को पूंजीपति ने अपनी पहले से जमा की हुई दौलत के, अपनी पूंजी के, एक भाग से ख़रीदा है, ठीक उसी तरह जैसे उसने अपनी दौलत के एक दूसरे भाग से कच्चा माल—सूत—और श्रम का औज़ार—करघा—ख़रीदा है। इन चीज़ों को ख़रीदने के बाद, और इन चीज़ों में कपड़े के उत्पादन के लिए

आवश्यक श्रम-शक्ति भी शामिल है, वह उस कच्चे माल से तथा श्रम के उन

औज़ारों के द्वारा कपड़ा तैयार करता है जो उसकी अपनी सम्पत्ति हैं। इन औज़ारों में अब हमारे भले बुनकर की भी गिनती है, और तैयार होनेवाले माल में या उसके दाम में जैसे करघे का कोई हिस्सा नहीं होता वैसे ही बुनकर का भी कोई हिस्सा नहीं है।

अतएव मज़दूरी, मज़दूर द्वारा उत्पादित माल में, मज़दूर का हिस्सा नहीं है। मज़दूरी पहले से मौजूद मालों का वह भाग है जिसके द्वारा पूंजीपति अपने लिए एक निश्चित मात्रा में उत्पादक श्रम-शक्ति ख़रीदता है।

अतएव, श्रम-शक्ति एक ऐसा माल है जिसे उसका मालिक, यानी मज़दूरी पर काम करनेवाला मज़दूर पूंजी के हाथ बेच देता है। वह उसे क्यों बेच देता है? ताकि वह ज़िन्दा रह सके।

लेकिन श्रम-शक्ति का प्रयोग, मेहनत करना मज़दूर की अपनी जीवन-क्रिया है; वह उसके जीवन की अभिव्यक्ति है। और अपनी इस **जीवन-क्रिया** को वह आवश्यक **जीवन-निर्वाह के साधनों** को प्राप्त करने के लिए एक दूसरे आदमी के हाथ बेच देता है। इस प्रकार उसकी जीवन-क्रिया उसके लिए ज़िन्दा रह सकने का साधन मात्र है। वह इसलिए काम करता है कि ज़िन्दा रह सके। यहां तक कि उसकी दृष्टि में श्रम जीवन का एक अंग नहीं है; बल्कि वह एक तरह से जीवन का बलिदान है। वह एक माल है जिसे उसने एक दूसरे आदमी के हवाले कर दिया है। और इसी लिए उसके क्रियाकलाप का फल उसके क्रियाकलाप का लक्ष्य नहीं है। वह अपने लिए जो चीज़ पैदा करता है, वह रेशम नहीं है जिसे उसने बुना है, वह सोना नहीं है जिसे उसने खान में से खोदकर निकाला है और न ही वह महल है जिसे उसने बनाकर खड़ा किया है। अपने लिए तो वह केवल **मज़दूरी** पैदा करता है; और रेशम, सोना या महल, सब के सब, जहां तक मज़दूर का सम्बन्ध है, जीवन-निर्वाह के साधनों के एक निश्चित परिमाण में बदल जाते हैं और शायद एक सूती बंडी, कुछ तांबे के सिक्कों और रहने की एक अंधेरी कोठरी की शक्ल अख़्तियार कर लेते हैं। और वह मज़दूर, जिसने बारह घंटे तक बुना है, काता है, ड्रिलिंग की है, लेथ चलायी है, मकान बनाया है, फावड़ा चलाया है, पत्थर तोड़े हैं, बोझा उठाया है, आदि-आदि—क्या वह इस काम को, बारह घंटे तक इस तरह बुनने, कातने, ड्रिलिंग करने, लेथ चलाने, मकान बनाने, फावड़ा चलाने, पत्थर तोड़ने, बोझा उठाने, आदि को अपने जीवन की अभिव्यक्ति, अपना जीवन, मानता है? नहीं। इसके विपरीत,

उसके लिए जीवन तब शुरू होता है जब यह क्रियाकलाप बंद हो जाता है। उसके लिए जीवन खाने की मेज़ पर, शराबख़ाने में, या बिस्तर पर शुरू होता है। इस प्रकार उसकी बारह घंटे की मेहनत का उसके लिए, बुनने, कातने, ड्रिलिंग करने, आदि के रूप में कोई अर्थ नहीं है। उसके लिए उसकी मेहनत का अर्थ केवल **जीविका** कमाने के रूप में है, जिसकी बदौलत खाने की मेज़, शराबख़ाना या बिस्तर उसके लिए मयस्सर है। यदि रेशम के कीड़े को कीड़े के रूप में ज़िन्दा रहने के लिए रेशम कातना होता, तो वह एक पक्का उजरती मज़दूर होता। श्रम-शक्ति हमेशा **माल** नहीं थी। श्रम हमेशा उजरती श्रम, अर्थात् **स्वतंत्र श्रम** नहीं था। जिस तरह बैल किसान के हाथ अपनी सेवाएं नहीं बेचता, उसी तरह **ग़ुलाम** भी अपनी श्रम-शक्ति मालिक के हाथ नहीं बेचता था। ग़ुलाम अपनी श्रम-शक्ति सहित एक ही बार हमेशा के लिए अपने मालिक के हाथ बिक जाता था। ग़ुलाम एक ऐसा माल है जो एक मालिक के हाथ से निकलकर दूसरे मालिक के हाथ में जा सकता है। ग़ुलाम ख़ुद बिकाऊ माल है, लेकिन उसका श्रम-शक्ति **उसका** माल नहीं है। **भूदास** अपनी श्रम-शक्ति का केवल एक भाग बेचता है। उसे ज़मीन के मालिक से मज़दूरी नहीं मिलती, बल्कि ज़मीन का मालिक ही उससे ख़िराज पाता है।

भूदास भूमि का बंधुआ है और भूमि से जो कुछ पैदा होता है, वह भूमि के मालिक को नज़र कर देता है। दूसरी ओर, **स्वतंत्र मज़दूर** ख़ुद अपने को बेचता है, बल्कि सच तो यह है कि वह अपने को थोड़ा-थोड़ा करके बेचता है। अपने जीवन के आठ, दस, बारह, पन्द्रह घंटे वह रोज़ सबसे ज़्यादा दाम देनेवाले के हाथ, कच्चे मालों, श्रम के औज़ारों तथा जीवन-निर्वाह के साधनों के स्वामी, यानी पूंजीपति के हाथ नीलाम करता है। मज़दूर न तो मालिक की सम्पत्ति होता है और न ही ज़मीन से बंधा होता है। लेकिन उसके दैनिक जीवन के आठ, दस, बारह या पन्द्रह घंटे उस व्यक्ति की सम्पत्ति होते हैं जो इन्हें ख़रीद लेता है। मज़दूर जिस पूंजीपति के हाथ अपने को किराये पर उठा देता है, उसे वह जब चाहता है छोड़कर चल देता है; और पूंजीपति भी जब उपयुक्त समझता है, जब यह देखता है कि मज़दूर से उसे कोई मुनाफ़ा नहीं हो रहा है या उतना मुनाफ़ा नहीं हो रहा है जितने की उसने आशा की थी, तब उसे ज़वाब दे देता है। लेकिन, मज़दूर, जिसका अपनी जीविका कमाने का एकमात्र साधन अपनी श्रम-शक्ति को बेचना है,

श्रम-शक्ति के ख़रीदारों के पूरे वर्ग को, यानी पूंजीपति वर्ग को तभी छोड़ सकता है जब वह अपने अस्तित्व से हाथ धो ले। मज़दूर इस या उस पूंजीपति की नहीं, बल्कि पूंजीपति वर्ग की सम्पत्ति होता है, और फिर यह उसका धंधा ही है कि वह अपने को बेचे, यानी इस पूंजीपति वर्ग के अन्दर अपने लिए कोई ख़रीदार तलाश करे।

अब, पूंजी तथा मज़दूरी के सम्बन्ध की और गहराई से जांच करने के पहले, हम उन अत्यंत सामान्य प्रकार के सम्बन्धों को संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे जिनका मज़दूरी निर्धारित करने में हिसाब किया जाता है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, मज़दूरी एक ख़ास तरह के माल का, श्रम-शक्ति का दाम है। इसलिए, मज़दूरी भी उन्हीं नियमों द्वारा निर्धारित होती है, जिनके द्वारा अन्य सभी मालों के दाम निर्धारित होते हैं। अतएव, प्रश्न यह है कि किसी माल का दाम कैसे निर्धारित होता है?

२

किसी माल का दाम किस चीज़ के द्वारा निर्धारित होता है?

ख़रीदारों और बेचनेवालों की होड़ से, माल के लिए पूछताछ और उसकी सुपुर्दगी के सम्बन्ध से, मांग और पूर्त्ति के सम्बन्ध से। होड़ के, जिससे माल का दाम निर्धारित होता है, तीन पहलू होते हैं।

एक ही तरह का माल बहुत से लोग बेचना चाहते हैं। यदि सब का माल गुण में एक सा है, तो जो अपना माल सबसे सस्ता बेंचेगा, वह निश्चय ही बाक़ी सब को मैदान से भगा देगा और उसी का माल सबसे ज्यादा बिकेगा। इस प्रकार, बेचनेवालों में माल बेचने के लिए, बाज़ार में अपना सिक्का जमाने के लिए आपस में होड़ होती है। उनमें से हर एक बेचना चाहता है; हर एक ज़्यादा से ज़्यादा बेचना चाहता है; और हर एक कोशिश करता है कि यदि मुमकिन हो तो वही अकेला बेचे और दूसरा कोई न बेच पाये। इसलिए, हर आदमी एक दूसरे से सस्ता बेचने की कोशिश करता है। परिणामस्वरूप, बेचनेवालों में होड़ होती है, जिससे उनके मालों के दामों में गिरावट आ जाती है।

लेकिन, होड़ ख़रीदारों के बीच भी होती है जिसका यह नतीजा होता है कि मालों के दाम बढ़ जाते हैं।

तीसरे, ख़रीदारों और बेंचनेवालों के बीच होड़ होती है। ख़रीदार सस्ते से सस्ता ख़रीदना चाहते हैं और बेचनेवाले महंगे से महंगा बेचना चाहते हैं। ख़रीदनेवालों और बेंचनेवालों के बीच चलनेवाली इस होड़ का परिणाम इस बात पर निर्भर होगा कि होड़ के उपर्युक्त दोनों पक्षों के बीच क्या सम्बन्ध है; यानी वह इस बात पर निर्भर होगा कि ख़रीदारों की फ़ौज के अन्दर ज्यादा होड़ है या बेंचनेवालों की फ़ौज के अन्दर। उद्योग दो फ़ौजों को मैदान में एक दूसरे के ख़िलाफ़ उतारता है और उनमें से हर फ़ौज की पांतों के अन्दर, उसके अपने सिपाहियों के बीच लड़ाई भी चलती रहती है। जिस फ़ौज के सिपाही आपस में सबसे कम मारपीट करते हैं, वही अपने मुक़ाबले की फ़ौज के ऊपर फ़तहयाब होती है।

मान लीजिए, बाजार में रूई की १०० गांठें आयी हैं जबकि वहां १,००० गांठों के ख़रीदार मौजूद हैं। इसलिए, यहां पूर्ति से मांग दस गुना ज्यादा है। फलस्वरूप ख़रीदारों में ज़बरदस्त होड़ होगी। हरेक ख़रीदार कम से कम एक गांठ, और हो सके तो सौ की सौ गांठें, हथियाना चाहता है। यह उदाहरण मनगढ़न्त कल्पना नहीं है। रूई के व्यापार के इतिहास में हमें कई ऐसे मौक़ों का अनुभव हो चुका है, जब कि कपास की फ़सल मारी गयी थी और जब चंद पूंजीपतियों ने आपस में सांठगांठ करके सौ गांठों पर ही नहीं, बल्कि दुनिया में रूई के सारे स्टॉक पर क़ब्ज़ा कर लेने की कोशिश की थी। अस्तु, उपरोक्त उदाहरण में एक ख़रीदार दूसरे को मैदान से भगा देने की कोशिश में प्रति गांठ अपेक्षाकृत अधिक दाम देने को कहेगा। रूई बेचनेवाले देखेंगे कि शत्रु की सेना के सिपाही आपस में जोरों से लड़ रहे हैं और उनकी सौ की सौ गांठों का बिक जाना बिलकुल निश्चित है। तब वे इस बात की पूरी सावधानी बरतेंगे कि कहीं उनमें आपस में ठन न जाये और ठीक ऐसे समय में जब कि उनके विरोधी रूई का दाम बढ़ाने के लिए होड़ मचाये हुए हैं, उनकी फूट रूई के दाम को नीचे न गिरा दे। इसलिए, देखते-देखते बेचनेवालों की फ़ौज में शान्ति विराजमान हो जाती है। वे एकजुट होकर ख़रीदारों का सामना करते हैं और दार्शनिक भाव से हाथ पर हाथ बांध निश्चिन्त बैठ रहते हैं और यदि बात ऐसी न होती कि ज्यादा से ज्यादा आग्रही और उतावले ख़रीदार भी एक निश्चित हद के अन्दर ही दाम लगा सकते हैं तो उनकी मांगों की कोई सीमा न रह जाती।

इसलिए, यदि किसी माल की पूर्ति उसकी मांग से कम है, तो बेचनेवालों के बीच बहुत कम होड़ होगी, या बिलकुल न होगी। जिस अनुपात में यह होड़ कम होती है, उसी अनुपात में ख़रीदारों के बीच होड़ बढ़ जाती है। नतीजा यह होता है कि माल के दाम कमोबेश बढ़ जाते हैं।

लेकिन सभी जानते हैं कि इसका उल्टा, जिसका परिणाम भी उल्टा होता है, ज़्यादा देखने में आता है। अक्सर मांग से पूर्त्ति काफ़ी ज़्यादा होती है; बेचनेवालों के बीच बेतहाशा होड़ होती है; ख़रीदार मिलते नहीं; और माल बेतरह सस्ते दामों पर उठ जाता है।

लेकिन दामों के घटने और बढ़ने का क्या मतलब है? ऊंचे दामों और नीचे दामों का क्या मतलब है? ख़ुर्दबीन से देखिए तो रेत का कण भी ऊंचा दिखाई देता है, और पहाड़ से मुक़ाबला कीजिए तो मीनार भी नीची मालूम होती है। और यदि दाम मांग और पूर्ति के सम्बन्ध से निर्धारित होता है, तो मांग और पूर्त्ति के इस सम्बन्ध को कौनसी चीज़ निर्धारित करती है?

राह चलते जिस पहले पूंजीपति से भेंट हो जाये उसी से पूछिए। वह दिमाग़ पर ज़रा सा ज़ोर डाले बिना सिकन्दर महान् की तरह इस दार्शनिक गुत्थी को[38] बात की बात में गुणनसारणी द्वारा सुलझा देगा। वह आप से कहेगा: मैं जिस माल को बेचता हूं, यदि उसके उत्पादन में १०० मार्क ख़र्च हुए हैं, और यदि इस माल की बिक्री से मुझे ११० मार्क मिल जाते हैं—बेशक साल भर के अन्दर ऐसा होना चाहिए—तो वह एक बिलकुल सही, न्यायोचित और ईमानदारी का मुनाफ़ा होगा। लेकिन यदि मुझे विनिमय में १२० या १३० मार्क मिल जाते हैं तो वह ऊंचा मुनाफ़ा होगा; और यदि २०० मार्क मिल जायें तो वह बहुत ही असाधारण और बहुत ही ऊंचा मुनाफ़ा समझा जायेगा। अतएव, प्रश्न यह उठता है कि पूंजीपति अपना मुनाफ़ा **किस चीज़ से नापता है?** अपने माल के **उत्पादन-व्यय** से। यदि उसे इस माल के बदले में दूसरे मालों की ऐसी मात्रा मिलती है जिसके उत्पादन में कम ख़र्च लगा है, तो उसे नुक़सान होता है। यदि अपने माल के बदले में उसे दूसरे मालों की ऐसी मात्रा मिलती है जिसके उत्पादन में ज़्यादा ख़र्च हुआ है, तो उसे मुनाफ़ा होता है। और वह अपने मुनाफ़े के घटने या बढ़ने का हिसाब इस आधार पर लगाता है कि उसके माल का विनिमय-मूल्य इस शून्य-बिन्दु से—उत्पादन-व्यय—से कितना कम या ज़्यादा है।

हम यह देख चुके हैं कि पूर्त्ति और मांग के वदलते हुए सम्वन्ध के कारण किस तरह दाम कभी वढ़ जाते हैं तो कभी घट जाते हैं, कभी दाम ऊंचे हो जाते हैं, तो कभी नीचे गिर जाते हैं। यदि पूर्त्ति के अपर्याप्त होने या मांग के वेअंदाज़ ज़्यादा वढ़ जाने के कारण किसी माल का दाम वहुत वढ़ जाता है तो अनिवार्यतः किसी और माल का दाम उसी अनुपात में गिर जायेगा, क्योंकि किसी भी माल का दाम, मुद्रा के रूप में, उस अनुपात का द्योतक है जिसमें उसके विनिमय में अन्य माल मिल सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक गज़ रेशमी कपड़े का दाम पांच मार्क से वढ़कर छः मार्क हो जाता है तो इसका मतलव यह है कि रेशमी कपड़े के मुक़ावले में चांदी का दाम गिर गया है; और इसी तरह दूसरे वे तमाम माल भी, जिनके दाम पुराने स्तर पर क़ायम हैं, रेशम के मुक़ावले में सस्ते हो गये हैं। अव पहले जितना रेशमी कपड़ा लेने के लिए उनके वदले में इन मालों की अधिक मात्रा देनी होगी। किसी माल के दाम में तेज़ी आने का क्या नतीजा होगा? उद्योग की इस फूलती-फलती शाखा में वहुत सी पूंजी चली आयेगी और इस शाखा में पूंजी की वाढ़ उस समय तक जारी रहेगी जव तक कि इस शाखा में मुनाफ़ा साधारण स्तर पर उतर न आये या, यूं कहिये, कि जव तक कि इस शाखा की पैदावार का दाम, अति-उत्पादन के कारण, उत्पादन-व्यय से भी नीचे न पहुंच जाये।

इसके विपरीत, यदि किसी माल का दाम उसके उत्पादन-व्यय से नीचे गिर जाता है, तो ऐसी दशा में उस माल के उत्पादन से पूंजी निकाल ली जायेगी और उद्योग की उन शाखाओं की वात छोड़कर जो गतव्यवहार हो चुकी हैं और फलतः जिनका अन्त अवश्यम्भावी है, ऐसे माल का उत्पादन, यानी उसकी पूर्त्ति, वरावर पूंजी निकलती रहने के कारण, तव तक घटती जायेगी जव तक कि वह मांग के अनुरूप न हो जाये, और इस प्रकार उसका दाम पुनः उसके उत्पादन-व्यय के स्तर पर न आ जाये, वल्कि, यूं कहिये, कि जव तक वह मांग से घट न जाये, अर्थात् जव तक उसका दाम उत्पादन-व्यय से पुनः वढ़ न जाये, क्योंकि हर माल का चालू दाम हमेशा उसके उत्पादन-व्यय से या तो ज़्यादा या कम होता है।

हम देखते हैं कि पूंजी किस प्रकार चलायमान् है और किस प्रकार उद्योग की एक शाखा से दूसरी शाखा में उसका आवागमन चलता रहता है। दाम

ऊंचे होने पर पूंजी की भरमार हो जाती है और दाम गिरने पर, बड़ी तादाद में पूंजी निकल भागती है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से हम यह दिखा सकते हैं कि न केवल पूर्त्ति बल्कि मांग भी उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होती है। लेकिन इस चर्चा से हम अपने विषय से बहुत दूर जा पड़ेंगे।

हमने अभी-अभी देखा कि किस प्रकार पूर्त्ति और मांग का उतार-चढ़ाव किसी भी माल के दाम को बारबार उत्पादन-व्यय के स्तर पर लौटा लाता है। **यह सही है कि किसी भी माल का असली दाम उत्पादन-व्यय से सदा ऊपर या नीचे रहता है; लेकिन उतार और चढ़ाव एक दूसरे का पलड़ा बराबर करते रहते हैं;** इसलिये एक निश्चित अवधि के भीतर, उद्योग में आनेवाली मन्दी और तेज़ी को देखते हुए, मालों का एक दूसरे के साथ विनिमय उनके उत्पादन-व्यय के अनुसार होता है, और इसलिए उनके दाम उनके उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होते हैं।

उत्पादन-व्यय द्वारा दाम के निर्धारण को उस अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहिए जिस अर्थ में अर्थशास्त्री ग्रहण करते हैं। अर्थशास्त्री कहते हैं कि मालों का **औसत दाम** उनके उत्पादन-व्यय के बराबर होता है, और यह एक **नियम** है। दामों की यह उच्छृंखल गति, जिसमें तेज़ी और मंदी एक दूसरे के पूरक हैं, उनकी दृष्टि में संयोग की बात है। उतने ही अधिकारपूर्वक हम यह भी कह सकते हैं कि दाम का उतार-चढ़ाव ही नियम है और उत्पादन-व्यय द्वारा दामों का निर्धारण संयोग की बात है, जैसा कि दूसरे अर्थशास्त्रियों ने वास्तव में कहा भी है। इन उतार-चढ़ावों में ही, जो, ज़्यादा गहराई से देखा जाये तो अपने साथ भयंकर विनाश लाते हैं और भूकम्प की तरह पूंजीवादी समाज की नींव तक हिला देते हैं,—इन उतार-चढ़ावों के प्रक्रम में ही मालों के दाम उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होते हैं। इस अव्यवस्था की सम्पूर्ण गति को देखिये तो वही उसकी व्यवस्था है। इस औद्योगिक अराजकता के दौरान, इस चक्कर काटती हुई गति में, होड़ एक अति के वज़न पर दूसरी अति करके उनका पलड़ा बराबर कर देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माल का दाम उसके उत्पादन-व्यय द्वारा इस तरीक़े से निर्धारित होता है कि जिन अवधियों में उत्पादन-व्यय के मुक़ाबले में माल के दाम बढ़ जाते हैं, उनका प्रतिसंतुलन ऐसी अवधियों द्वारा होता रहता है जिनमें माल के दाम उत्पादन-व्यय से नीचे चले जाते हैं; यही चीज़

विपरीत रूप में भी घटित होती है। ज़ाहिर है कि यह चीज़ अलग-अलग या ख़ास तरह की औद्योगिक पैदावार पर नहीं लागू होती, बल्कि वह उत्पादन की पूरी शाखा पर ही लागू होती है। फलतः वह अलग-अलग उद्योगपतियों पर नहीं, बल्कि उद्योगपतियों के पूरे वर्ग पर लागू होती है।

उत्पादन-व्यय द्वारा दाम का निर्धारण माल के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल द्वारा उसके निर्धारण के ही समान है, क्योंकि उत्पादन-व्यय में दो चीज़ें शामिल होती हैं—१) कच्चा माल तथा औज़ारों की घिसाई, यानी ऐसी औद्योगिक उपज जिनके उत्पादन में कुछ श्रम-दिवस लगे हैं और फलतः जो एक श्रम-काल की एक विशेष मात्रा के द्योतक हैं, और २) प्रत्यक्ष श्रम, जिसका मापदंड भी समय ही है।

ज़ाहिर है कि वे ही सामान्य नियम, जो अमूमन् मालों के दामों का नियमन करते हैं, मज़दूरी, श्रम के दाम का भी नियमन करते हैं।

मज़दूरी भी, पूर्ति और मांग के सम्बन्ध के आधार पर, श्रम-शक्ति ख़रीदनेवाले, पूंजीपतियों, और श्रम-शक्ति बेचनेवाले, मज़दूरों के बीच चलनेवाली होड़ क़ी करवटों के अनुसार घटे-बढ़ेगी। मज़दूरी का उतार-चढ़ाव, मोटे तौर पर, मालों के दामों के उतार-चढ़ाव के अनुरूप होगा। लेकिन इस उतार-चढ़ाव की सीमाओं में श्रम का दाम उत्पादन-व्यय द्वारा ही, श्रम-शक्ति नामक इस माल के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल द्वारा ही निर्धारित होगा।

तब फिर श्रम-शक्ति का उत्पादन-व्यय क्या है?

यह वह व्यय है जो मज़दूर को मज़दूर की हैसियत से ज़िन्दा रखने तथा उसे मज़दूर के रूप में विकसित करने में लगता है।

अतः किसी क़ाम के लिए अपेक्षित प्रशिक्षण में जितना ही कम समय लगता है, मज़दूर का उत्पादन-व्यय उतना ही कम होता है और उतनी ही कम उसके श्रम का दाम, यानी उसकी मज़दूरी होती है। उद्योग की उन शाखाओं में, जिनमें प्रशिक्षार्थियों की ख़ास ज़रूरत नहीं होती और जहां मज़दूर का केवल शारीरिक रूप में मौजूद रहना ही काफ़ी होता है, मज़दूर का उत्पादन-व्यय लगभग उन मालों तक ही सीमित रहता है जो उसे ज़िन्दा रखने और काम के योग्य बनाये रखने के लिए आवश्यक होते हैं। इसलिए, मज़दूर के श्रम का दाम जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के दाम से निर्धारित होता है।

लेकिन यहां एक और बात विचारणीय है।

कारख़ानेदार अपने उत्पादन-व्यय तथा उसके अनुसार मालों के दाम का हिसाब लगाते समय श्रम के औज़ारों की घिसाई का भी ख़याल रखता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी मशीन की लागत १,००० मार्क है और वह दस साल में घिसकर बेकार हो जाती है, तो कारख़ानेदार अपने माल के दाम में हर साल १०० मार्क जोड़ता जायेगा, ताकि दस साल बाद वह घिसी हुई मशीन की जगह एक नयी मशीन लगा सके। इसी प्रकार, साधारण श्रम-शक्ति के उत्पादन-व्यय का हिसाब लगाते समय उसमें उस पुनरुत्पादन का ख़र्च भी शामिल करना होगा, जिसके द्वारा मज़दूरों की नस्ल चलती रहती है और जीर्ण-शीर्ण मज़दूरों की जगह नये मज़दूर आते रहते हैं। इस प्रकार, मशीन की घिसाई की तरह मज़दूर के घिस जाने का भी ख़याल रखा जाता है।

इस प्रकार साधारण श्रम-शक्ति का उत्पादन-व्यय **मज़दूर के जीवन-यापन तथा पुनरुत्पादन के ख़र्च** के बराबर होता है। जीवन-यापन तथा पुनरुत्पादन के इस ख़र्च के दाम का ही नाम मज़दूरी है। इस प्रकार जो मज़दूरी निर्धारित होती है उसे **न्यूनतम मज़दूरी** कहते हैं। सामान्य रूप से उत्पादन-व्यय द्वारा मालों के दाम-निर्धारण की ही तरह, यह न्यूनतम मज़दूरी **अलग-अलग मज़दूरों** पर नहीं, बल्कि पूरे मज़दूर समुदाय पर लागू होती है। अलग-अलग मज़दूरों को, करोड़ों मज़दूरों को इतना भी नहीं मिलता कि वे ख़ुद ज़िन्दा रह सकें और अपनी नयी पौध तैयार कर सकें। लेकिन सारे उतार-चढ़ाव की सीमाओं में **पूरे मज़दूर वर्ग की मज़दूरी** का स्तर यही न्यूनतम स्तर है।

उन अत्यन्त सामान्य नियमों को समझ लेने के बाद, जो अन्य मालों के दामों की तरह मज़दूरी का भी नियमन करते हैं, अब हम अपने विषय की अधिक गहराई से चर्चा कर सकते हैं।

३

पूंजी में वह कच्चा माल, श्रम के वे औज़ार और जीवन-निर्वाह के वे सभी प्रकार के साधन शामिल हैं जो नया कच्चा माल, श्रम के नये औज़ार तथा जीवन-निर्वाह के नये साधन पैदा करने के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। पूंजी के ये सभी संघटक अंग श्रम की उपज हैं, श्रम की पैदावार हैं,

वे स्वयं संचित श्रम हैं। जब संचित श्रम का नये उत्पादन के साधन के रूप में उपयोग किया जाता है, तब वह पूंजी कहलाता है।

अर्थशास्त्रियों का कहना यही है।

एक नीग्रो ग़ुलाम क्या है? काली नस्ल का एक आदमी। यह व्याख्या भी वैसी ही है जैसी पूंजी की उपरोक्त व्याख्या।

नीग्रो सिर्फ़ नीग्रो होता है। केवल कुछ ख़ास सम्वन्धों की स्थिति में ही वह ग़ुलाम बन जाता है। रूई कातने की जेनी एक मशीन है जो रूई कातने के काम आती है। केवल कुछ ख़ास सम्बन्धों की स्थिति में ही वह पूंजी बन जाती है। जैसे सोना अपने आप मुद्रा नहीं होता और चीनी ख़ुद चीनी का दाम नहीं होती, वैसे ही इन ख़ास सम्बन्धों से विच्छिन्न होकर रूई कातने की जेनी-मशीन भी पूंजी नहीं रहती।

उत्पादन के सिलसिले में हम न केवल प्रकृति के ऊपर अपना प्रभाव डालते हैं, बल्कि आपस में एक दूसरे को भी प्रभावित करते हैं। एक ख़ास ढंग से आपस में सहयोग करके और अपने क्रियाकलाप का पारस्परिक विनिमय करके ही हम उत्पादन करते हैं। उत्पादन करने के लिए हमें एक दूसरे के साथ ख़ास ढंग के सम्बन्ध और रिश्ते क़ायम करने होते हैं, और केवल इन सामाजिक सम्बन्धों और रिश्तों के तहत काम करते हुए हम प्रकृति पर अपने प्रभाव का उपयोग करते हैं, यानी उत्पादन करने में सफल होते हैं।

वे सामाजिक सम्बन्ध, जो उत्पादनकर्त्ता एक दूसरे के साथ स्थापित करते हैं, वे परिस्थितियां जिन में वे अपने क्रियाकलाप का विनिमय करते हैं और उत्पादन के पूरे श्रम में भाग लेते हैं, उत्पादन के साधनों के स्वरूप के अनुसार स्वभावतः भिन्न-भिन्न होंगी। जब युद्ध के एक नये अस्त्र, आग्नेय अस्त्र, का आविष्कार हुआ तो सेना का पूरा भीतरी ढांचा लाज़िमी तौर से बदल गया। वे सम्बन्ध जिनके आधार पर अलग-अलग व्यक्ति एक सेना के रूप में संघटित हो सकते हैं, सेना के रूप में व्यवहार कर सकते हैं, बिलकुल बदल गये; साथ-साथ सेनाओं के एक दूसरे के साथ सम्बन्ध भी बदल गये।

इस प्रकार उत्पादन के भौतिक साधनों, उत्पादक शक्तियों, के परिवर्तन तथा विकास के साथ-साथ वे सामाजिक सम्बन्ध भी, जिनके अन्तर्गत अलग-अलग व्यक्ति उत्पादन करते हैं, उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध भी बदल

जाते हैं, रूपान्तरित हो जाते हैं। उत्पादन-सम्बन्धों को यदि समग्र रूप में लिया जाये तो वे ही सामाजिक सम्बन्ध हैं, समाज हैं और विशेष रूप से वह समाज हैं, जो ऐतिहासिक विकास की एक ख़ास मंज़िल पर क़ायम है और जिसका एक विशिष्ट पृथक् चरित्र है। प्राचीन समाज, सामन्ती समाज, पूंजीवादी समाज—ये सब उत्पादन-सम्बन्धों के इस प्रकार के समाहार हैं और साथ ही, इनमें से हर एक मानव-जाति के ऐतिहासिक विकास की एक ख़ास मंज़िल का द्योतक है।

पूंजी भी उत्पादन का एक सामाजिक सम्बन्ध है। यह पूंजीवादी उत्पादन-सम्बन्ध है, पूंजीवादी समाज का उत्पादन-सम्बन्ध है। जीवन-निर्वाह के साधन, श्रम के औज़ार, और कच्चा माल—यानी वे तमाम चीज़ें जो पूंजी में शामिल हैं—क्या इनका उत्पादन और संचय कुछ विशेष सामाजिक परिस्थितियों में, कुछ निश्चित प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत नहीं होता? नये उत्पादन के लिए इन सब चीज़ों का इस्तेमाल क्या कुछ विशेष सामाजिक परिस्थितियों में, कुछ निश्चित प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत नहीं होता? और क्या यह निश्चित प्रकार का सामाजिक स्वरूप उन मालों को, जो एक नया माल बनाने में काम आते हैं, पूंजी के रूप में नहीं परिवर्तित कर देता?

पूंजी में केवल जीवन-निर्वाह के साधन, श्रम के औज़ार और कच्चा माल, अर्थात् भौतिक पदार्थ ही नहीं शामिल होते; उसमें उतने ही विनिमय-मूल्य भी शामिल रहते हैं। पूंजी में जितनी भी चीज़ें शामिल हैं वे सब माल हैं। इसलिये पूंजी केवल भौतिक पदार्थों का संकलन नहीं है; वह मालों का, विनिमय-मूल्यों का, सामाजिक परिमाणों का भी संकलन है।

हम चाहे ऊन की जगह कपास, गेहूं की जगह चावल, या रेलगाड़ी की जगह जहाज़ रख दें; पर पूंजी वही रहेगी, बशर्ते कि पूंजी के नये रूप—कपास, चावल और जहाज़—का विनिमय-मूल्य, अर्थात् दाम, वही रहे जो ऊन, गेहूं और रेलगाड़ी—यानी पूंजी के पुराने रूप—का था। पूंजी के रूप में लगातार तबदीली होने के बावजूद पूंजी में ज़रा भी परिवर्तन न होगा।

लेकिन जहां समस्त पूंजी मालों, अर्थात् विनिमय-मूल्यों का संकलन होती है, वहां मालों का, अर्थात् विनिमय-मूल्यों का, प्रत्येक संकलन पूंजी नहीं होता।

विनिमय-मूल्यों का प्रत्येक संकलन विनिमय-मूल्य होता है। प्रत्येक अलग-अलग विनिमय-मूल्य विनिमय-मूल्यों का संकलन होता है। उदाहरण के लिए, १००० मार्क का एक मकान १००० मार्कों के विनिमय-मूल्य का द्योतक है। एक काग़ज़ का टुकड़ा, जिसकी क़ीमत एक फ़ेनिग है, वह एक फ़ेनिग के सौ शतांशों के विनिमय-मूल्यों का जोड़ है। जिन उत्पादित वस्तुओं का एक दूसरे से विनिमय किया जा सकता है, उन्हें **माल** कहते हैं। जिस ख़ास अनुपात में उनका विनिमय किया जा सकता है, वह उनका **विनिमय-मूल्य**, या मुद्रा रूप में उनका **दाम** कहलाता है। इन वस्तुओं का परिमाण चाहे जो भी हो, उससे उनके **माल** होने के, या एक **विनिमय-मूल्य** का द्योतक होने के, अथवा एक निश्चित **दाम** का होने के गुण में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। पेड़ चाहे बड़ा हो या छोटा, वह रहता पेड़ ही है। अन्य चीज़ों के साथ लोहे का हम आउंसों में विनिमय करते हैं, या हंड्रेडवेटों में, क्या इससे माल या विनिमय-मूल्य होने की उसकी विशेषता में कोई अन्तर पड़ेगा? हां, मात्रा जितनी होगी, उसके अनुसार इस माल का मूल्य कम होगा या ज़्यादा, उसका दाम कम होगा या ज़्यादा।

तब फिर मालों या विनिमय-मूल्यों की कोई निश्चित मात्रा किस प्रकार पूंजी बन जाती है?

प्रत्यक्ष, जीवित श्रम-शक्ति के साथ विनिमय द्वारा अपने को एक स्वतन्त्र सामाजिक **शक्ति**, अर्थात् **समाज के एक हिस्से** की शक्ति के रूप में क़ायम रख और अपनी वृद्धि कर। एक ऐसे वर्ग का अस्तित्व जिसके पास श्रम-शक्ति के सिवा और कुछ नहीं है पूंजी के लिए पूर्वापेक्षित है।

पूर्वसंचित, फलीभूत श्रम का प्रत्यक्ष, जीवित श्रम के ऊपर आधिपत्य ही संचित श्रम को पूंजी के रूप में बदल देता है।

पूंजी का अर्थ यह नहीं है कि पूर्वसंचित श्रम नये उत्पादन के साधन के रूप में जीवित श्रम के काम आये। पूंजी का अर्थ है जीवित श्रम पूर्वसंचित श्रम के विनिमय-मूल्य का क़ायम रखने और बढ़ाने के साधन के रूप में उसके काम आये।

पूंजीपति और उजरती मज़दूर के बीच विनिमय होने पर क्या होता है?

मज़दूर को उसकी श्रम-शक्ति के बदले में जीवन-निर्वाह के साधन मिलते हैं, लेकिन पूंजीपति को इस जीवन-निर्वाह के साधन के बदले में श्रम, अर्थात् मज़दूर की उत्पादक क्रिया प्राप्त होती है, वह सृजनात्मक शक्ति प्राप्त होती है

जिससे मज़दूर केवल उतना ही नहीं पैदा करता जितना वह उपभोग करता है, बल्कि वह पूर्वसंचित श्रम में नया मूल्य जोड़ देता है जो उसमें पहले नहीं था। पूंजीपति द्वारा मज़दूर को जीवन-निर्वाह के सुलभ साधनों का एक भाग मिल जाता है। जीवन-निर्वाह के ये साधन मज़दूर के किस काम आते हैं? तात्कालिक उपभोग के काम आते हैं। लेकिन जैसे ही मैं जीवन-निर्वाह के इन साधनों का उपभोग कर लेता हूं, वैसे ही मेरे लिए वे नष्ट हो जाते हैं, बशर्ते कि मैं उनके उपभोग पर ज़िन्दा रहने का समय नये जीवन-निर्वाह के साधन पैदा करने में—उपभोग में नष्ट हुए मूल्यों के स्थान पर, अपने श्रम द्वारा नये मूल्य पैदा करने में—न लगाऊं। परंतु मज़दूर ठीक अपनी इसी महान् पुनरुत्पादक शक्ति को, जीवन-निर्वाह के साधनों के बदले पूंजीपति के हवाले कर देता है; अतः वह अपने लिये उससे हाथ धो बैठता है।

एक मिसाल लीजिये। एक पट्टेदार किसान, मान लीजिये, अपने खेत-मज़दूर को चांदी के ५ सिक्के प्रतिदिन देता है। इन ५ सिक्कों के बदले खेत-मज़दूर दिन भर भूमिधर किसान के खेत पर काम करता है और भूमिधर किसान के लिए १० सिक्कों का मूल्य पैदा कर देता है। भूमिधर किसान को न केवल वह मूल्य वापस मिल जाता है जो उसने खेत-मज़दूर को दिया था, बल्कि वह दुगुना हो जाता है। फलतः भूमिधर किसान ने उन पांच सिक्कों का, जो उसने खेत-मज़दूर को दिये थे लाभदायक तथा उत्पादक ढंग से इस्तेमाल किया। चांदी के ५ सिक्के देकर उसने खेत-मज़दूर की इतनी मेहनत और शक्ति ख़रीद ली है जो दुगुने मूल्य की खेती की पैदावार पैदा कर देती है और चांदी के पांच सिक्कों को दस बना देती है। दूसरी ओर, खेत-मज़दूर को अपनी उत्पादक-शक्ति के बदले में, जिसका फल उसने भूमिधर किसान के हाथ बेच डाला है, चांदी के पांच सिक्के मिलते हैं जिनका वह जीवन-निर्वाह के साधनों से विनिमय कर लेता है, और इन साधनों को वह कमोबेश तेज़ी के साथ ख़र्च कर डालता है। अतएव, चांदी के पांच सिक्के यहां दो तरह से इस्तेमाल होते हैं—पूंजी के लिए पुनरुत्पादक ढंग से, इसलिए कि उनका विनिमय ऐसी श्रम-शक्ति* के साथ हुआ है जिसने १० सिक्के पैदा कर दिये;

---

* "श्रम-शक्ति" शब्द यहां एंगेल्स ने नहीं जोड़ा है, बल्कि वह उस पाठ में ही था जो मार्क्स ने «*Neue Rheinische Zeitung*» में प्रकाशित किया था।—सं०

और मज़दूर के लिये अनुत्पादक ढंग से, इसलिये कि उनका विनिमय जीवन-निर्वाह के साधनों के साथ हुआ है जो सदा के लिये विलीन हो गये हैं और जिनका मूल्य भूमिधर किसान के साथ बराबर उसी प्रकार के विनिमय द्वारा ही प्रतिलब्ध हो सकता है। इस प्रकार पूंजी के लिए मजदूरी-व्यवस्था पूर्वापेक्षित है और मज़दूरी-व्यवस्था के लिए—पूंजी; दोनों एक दूसरे के अस्तित्व को निश्चित करते हैं; दोनों एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं।

सूती मिल में काम करनेवाला एक मज़दूर क्या सिर्फ़ सूती कपड़ा तैयार करता है? नहीं, वह पूंजी तैयार करता है। वह इस प्रकार के मूल्य उत्पन्न करता है जिनके द्वारा उसकी मेहनत फिर से इस्तेमाल में लाई जाती है जिसके फलस्वरूप वह और भी नये मूल्य पैदा करता है।

पूंजी श्रम-शक्ति के साथ अपना विनिमय करके, अर्थात् उजरती श्रम को गतिशील करके ही, बढ़ सकती है। उजरती मज़दूर की श्रम-शक्ति का पूंजी के साथ विनिमय पूंजी को बढ़ाकर ही हो सकता है, उस शक्ति को मज़बूत बनाकर ही हो सकता है जिसका वह ग़ुलाम है। अतएव पूंजी के बढ़ने का मतलब है सर्वहारा का बढ़ना—यानी मज़दूर वर्ग का बढ़ना।

पूंजीपति और उनके अर्थशास्त्री चीख़-चीख़ कर कहते हैं—इसी लिए तो पूंजीपति और मज़दूर दोनों के हित बिलकुल एक हैं। बेशक! यदि पूंजीपति मज़दूर को काम पर न लगाये तो मज़दूर ज़िन्दा नहीं रह सकता और यदि पूंजी श्रम-शक्ति का शोषण न करे तो वह ज़िन्दा नहीं रह सकती। अतः श्रम-शक्ति का शोषण करने के लिए आवश्यक है कि पूंजी उसे ख़रीदे। उत्पादन के लिए उद्दिष्ट पूंजी, अर्थात् उत्पादक पूंजी, जितनी तेज़ी से बढ़ती है, उतनी ही तेज़ी से उद्योग फूलता-फलता है; पूंजीपति जितना ही मालामाल होता है और रोज़गार जितना ही चमकता है, पूंजीपति को उतने ही अधिक मज़दूरों की आवश्यकता होती है और मज़दूर अपने को उतने ही महंगे दामों में बेचता है।

इसलिए मज़दूर की संतोषजनक स्थिति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उत्पादक पूंजी की अधिक से अधिक तेज़ी के साथ बढ़ती हो।

लेकिन उत्पादक पूंजी की बढ़ती का क्या अर्थ है? जीवित श्रम पर पूर्वसंचित श्रम के प्रभुत्व का बढ़ना। मज़दूर वर्ग पर पूंजीपति वर्ग के प्रभुत्व का बढ़ना। जब उजरती श्रम दूसरों की उस दौलत को पैदा करता है, जो स्वयं

उसपर शासन करती है—पूंजी को, अर्थात् उस शक्ति को पैदा करता है जो उसकी शत्रु है, तभी यह शत्रु-शक्ति उसे श्रम के साधन, जीवन-निर्वाह के साधन पुनः देती है, इस शर्त पर देती है कि वह अपने को फिर पूंजी का एक भाग वना ले, वह उत्तोलक वना ले जो पूंजी को पुनः त्वरित विकास की वेगवती धारा में डाल सके।

यह कहने का अर्थ कि पूंजी और मजदूरों के हित बिलकुल एक हैं वास्तव में यही है कि पूंजी और उजरती श्रम एक ही सम्बन्ध के दो पहलू हैं। एक पर दूसरा उसी प्रकार अवस्थित रहता है जिस प्रकार सूदख़ोर और फ़ज़ूलख़र्च एक दूसरे पर रहते हैं।

जब तक उजरती मज़दूर उजरती मज़दूर है तब तक उसका भाग्य पूंजी पर निर्भर करता है। यही मज़दूर और पूंजीपति के हितों की वह एकता है जिसका इतना ढोल पीटा जाता है।

४

यदि पूंजी में वृद्धि होती है तो उजरती श्रम का परिमाण भी बढ़ता है और उजरती मज़दूरों की संख्या में भी बढ़ती होती है—संक्षेप में, पूंजी का प्रभुत्व पहले से अधिक संख्या में लोगों में फैल जाता है। आइये, हम इस परिस्थिति के सबसे अनुकूल पहलू की कल्पना करें: जब उत्पादक पूंजी बढ़ती है तो श्रम की मांग भी बढ़ती है और फलस्वरूप श्रम का दाम यानी मज़दूरी भी बढ़ जाती है।

घर चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, जब तक उसके आसपास के घर भी उतने ही छोटे होते हैं, तब तक घर के लिए समस्त सामाजिक मांग उससे पूरी हो जाती है। लेकिन इस छोटे से घर की बग़ल में एक महल खड़ा हो जाने दीजिए, तब वह छोटा-सा घर न रहकर झोंपड़ा बन जायेगा। अब यह छोटा-सा घर यह ज़ाहिर करेगा कि उसके मालिक की मांग बहुत कम है, या नहीं के बराबर है। और फिर, सभ्यता के विकास के साथ-साथ, यह छोटा घर चाहे जितना ऊंचा उठ जाये, यदि वह पड़ोस का महल भी उतना ही, या उससे भी अधिक ऊपर उठता जाता है, तो इस अपेक्षाकृत छोटे घर में रहनेवाला व्यक्ति उसकी चहारदीवारी के भीतर अपने को अधिकाधिक बेचैन, असंतुष्ट और जकड़ा हुआ महसूस करेगा।

मज़दूरी में किसी प्रकार की दृष्टव्य वढ़ती होने के पहले यह आवश्यक है कि उत्पादक पूंजी में तेज़ी से वढ़ती हो। उत्पादक पूंजी की तेज़ी से वढ़ती होने पर धन-दौलत, ऐश-आराम के सामान, सामाजिक आवश्यकताओं तथा सामाजिक आमोद-प्रमोद के साधनों की भी उसी गति से वढ़ती होती है। इस प्रकार, यद्यपि मज़दूरों के उपभोग के साधनों में वृद्धि हो जाती है, लेकिन उनसे जो सामाजिक सन्तोष होता है वह—पूंजीपतियों के पहले से वढ़े हुए उपभोग की तुलना में, जो मज़दूर की पहुंच के बाहर रहता है, और समाज के सामान्य विकास-स्तर की तुलना में, पहले से कम हो जाता है। हमारी अभिलाषायें और हमारे आनन्द की कल्पनायें समाज से उत्पन्न होती हैं, इसलिए हम उनकी माप समाज से करते हैं न कि उन साधनों से जिनके द्वारा उनकी पूर्त्ति होती है। चूंकि उनका स्वरूप सामाजिक है इसी लिए सापेक्षिक भी है।

आम तौर पर मज़दूरी केवल मालों के उन परिमाणों द्वारा निश्चित नहीं होती, जिनसे हम मज़दूरी का विनिमय कर सकते हैं। मज़दूरी में अनेक प्रकार के सम्वन्ध निहित होते हैं।

मज़दूरों को अपनी श्रम-शक्ति के बदले में जो मिलता है, वह सबसे पहले मुद्रा की एक निश्चित रक़म होती है। क्या मज़दूरी केवल इस मुद्रारूपी दाम से निश्चित होती है?

सोलहवीं सदी में अमरीका में सोने-चांदी की अधिक उर्वर और आसानी से प्रयोग में लाई जानेवाली खानों के निकल आने के कारण यूरोप में सोने-चांदी के परिचलन की मात्रा वढ़ गयी। अस्तु, दूसरे मालों के सम्वन्ध में सोने और चांदी का मूल्य घट गया। मज़दूरों को अपनी श्रम-शक्ति के बदले में पहले जितने ही चांदी के सिक्के मिलते रहे। मुद्रारूप में उनके श्रम का दाम वही था, मगर वास्तव में उनकी मज़दूरी कम हो गयी थी, क्योंकि उतनी ही चांदी के वदले में अव मज़दूरों को पहले से कम मात्रा में दूसरे माल मिलने लगे। सोलहवीं सदी में पूंजी के अधिक वढ़ने और पूंजीपति वर्ग के उदय का यह भी एक कारण था।

एक दूसरी मिसाल लीजिए। १८४७ के जाड़ों में फ़सल मारी जाने के कारण अनाज, मांस, मक्खन, पनीर, आदि जीवन-निर्वाह के अत्यन्त आवश्यक साधनों के दाम बहुत काफी बढ़ गये। अब मान लीजिए कि मज़दूरों

को उनकी श्रम-शक्ति के बदले में पहले की ही रक़म मिलती रही, तब क्यां उनकी मज़दूरी में कमी नहीं आयी? ज़ाहिर है, आ गयी। अब उन्हें उतनी ही रक़म के बदले में पहले से कम रोटी, मांस आदि मिलता है। अवश्य ही उनकी मज़दूरी में कमी हो गयी; वह इसलिए नहीं कि चांदी का मूल्य घट गया, बल्कि इसलिए कि जीवन-निर्वाह के साधनों का मूल्य बढ़ गया।

अन्त में, मान लीजिए कि श्रम का मुद्रारूपी दाम वही रहता है, लेकिन नई मशीनों का प्रयोग होने तथा मौसम के अनुकूल होने आदि के कारण खेती तथा उद्योग-धन्धों की हर प्रकार की उपज के दाम गिर जाते हैं। ऐसी हालत में मज़दूर उतनी ही मुद्रा से सभी तरह के माल पहले से ज्यादा मात्रा में ख़रीद सकेंगे। अस्तु, मज़दूरों की मज़दूरी में बढ़ती हो जायेगी, ठीक इसलिए कि उनकी मज़दूरी के मुद्रारूपी मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

इस प्रकार, श्रम का मुद्रारूपी दाम, अभिहित मज़दूरी असल मज़दूरी से, अर्थात् मज़दूरी के बदले में वास्तव में प्राप्य तमाम मालों से, मेल नहीं खाती। इसलिए यदि हम मज़दूरी के घटने-बढ़ने की चर्चा करें, तो यह ज़रूरी है कि हम केवल श्रम के मुद्रारूपी दाम का, सिर्फ़ अभिहित मज़दूरी का ही ध्यान न रखें।

लेकिन मज़दूरी में निहित संबंधों की इति न तो अभिहित मज़दूरी, अर्थात् उस रक़म से होती है जिसके लिए मज़दूर अपने को पूंजीपति के हाथ बेच देता है, और न असल मज़दूरी, अर्थात् मालों के उस परिमाण से होती है जो इस रक़म से वह ख़रीद सकता है।

मज़दूरी—तुलनात्मक, सापेक्ष मज़दूरी—सर्वप्रथम लाभ के साथ यानी पूंजीपति के मुनाफ़े के साथ उसके सम्बन्ध द्वारा भी निर्धारित होती है।

असल मज़दूरी अन्य मालों के दामों के सम्बन्ध में श्रम का दाम ज़ाहिर करती है; दूसरी ओर सापेक्ष मज़दूरी, नये मूल्य में, जिसे प्रत्यक्ष श्रम ने पैदा किया है, उस श्रम के भाग को उस दूसरे भाग के सम्बन्ध में ज़ाहिर करती है जो संचित श्रम—अर्थात् पूंजी—के हिस्से में आता है।

पहले पृ० १४ पर* हमने कहा था—"मज़दूरी, मज़दूर द्वारा उत्पादित

---

* प्रस्तुत खण्ड, पृष्ठ ६६।—सं०

माल में, मज़दूर का हिस्सा नहीं है। मज़दूरी पहले से मौजूद मालों का वह भाग है जिसके द्वारा पूंजीपति अपने लिए एक निश्चित मात्रा में उत्पादक श्रम-शक्ति ख़रीदता है।" लेकिन पूंजीपति के लिए यह लाज़िमी है कि वह मज़दूर द्वारा पैदा किये हुए माल को बेचकर उसके दाम से मज़दूरी की पुनःपूर्त्ति कर ले, और मज़दूरी की पूर्त्ति वह इस प्रकार करे कि, आम तौर पर, उसके लिए उसके द्वारा लगाये हुए उत्पादन-व्यय से ऊपर, कुछ अतिरिक्त मूल्य – मुनाफ़ा – बच जाये। पूंजीपति के लिए मज़दूर द्वारा तैयार किये हुए मालों के दाम तीन भागों में बंटे होते हैं: पहला, पूंजीपति द्वारा लगाये हुए कच्चे माल और साथ-साथ औज़ारों, मशीनों तथा श्रम के अन्य साधनों के मूल्यह्रास की पूर्त्ति; दूसरा, पूंजीपति द्वारा दी गयी मज़दूरी की पूर्त्ति और तीसरा, बाक़ी बचा अतिरिक्त मूल्य, अर्थात् पूंजीपति का मुनाफ़ा। जहां पहला भाग, केवल पहले से मौजूद मूल्यों की पूर्त्ति करता है, वहीं यह स्पष्ट है कि मज़दूरी की पूर्त्ति और पूंजीपति का मुनाफ़ा दोनों ही, मोटे तौर पर, उस नये मूल्य से आते हैं जिसे मज़दूर के श्रम ने उत्पन्न किया है और कच्चे माल में जोड़ दिया है। और इस अर्थ में मज़दूरी और मुनाफ़े की एक दूसरे के साथ तुलना करने के लिए हम मज़दूरी और मुनाफ़ा दोनों को मज़दूर की मेहनत की उपज के हिस्से मान सकते हैं।

यह संभव है कि असल मज़दूरी उतनी ही रहे या बढ़ भी जाये और फिर भी सापेक्ष मज़दूरी घट जाये। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि जीवन-निर्वाह के सभी साधनों के दाम दो-तिहाई घट गये हैं जब कि रोज़ाना मज़दूरी केवल एक-तिहाई कम हुई है। यानी अगर किसी मज़दूर की रोज़ाना मज़दूरी पहले ३ मार्क थी तो अब वह २ मार्क रह गयी है। ऐसी दशा में मज़दूर पहले ३ मार्क में माल की जितनी मात्रा प्राप्त कर सकता था अब वह २ मार्क में ही उससे ज्यादा हासिल कर सकता है; मगर फिर भी, पूंजीपति के मुनाफ़े के मुक़ाबले में मज़दूर की मज़दूरी कम हो गयी। पूंजीपति (उदाहरणार्थ, कारख़ानेदार) के मुनाफ़े में एक मार्क की बढ़ती हुई, अर्थात् विनिमय-मूल्यों की घटी हुई रक़म जो अब वह मज़दूर को देगा उसके एवज़ में मज़दूर को पहले की अपेक्षा अधिक विनिमय-मूल्य पैदा करना होगा। श्रम के हिस्से की तुलना में पूंजी का हिस्सा बढ़ जायेगा और पूंजी और श्रम के बीच सामाजिक सम्पदा का बंटवारा पहले से भी अधिक असमान हो

जायेगा। उतनी ही पूंजी द्वारा अब पूंजीपति पहले से ज्यादा श्रम को अपने अधीन कर सकेगा। अतः मज़दूर वर्ग पर पूंजीपति वर्ग का प्रभुत्व बढ़ जायेगा, मज़दूर की सामाजिक स्थिति और ख़राब हो जायेगी और पूंजीपति के मुक़ाबले में एक दर्जा और नीचे गिर जायेगी।

तब फिर वह सामान्य नियम क्या है जो मज़दूरी और मुनाफ़े के पारस्परिक सम्बन्ध के अंतर्गत उनका उतार-चढ़ाव निर्धारित करता है?

मज़दूरी और मुनाफ़ा एक दूसरे के उल्टे अनुपात में घटते-बढ़ते हैं। पूंजी का हिस्सा, यानी मुनाफ़ा, उसी अनुपात में बढ़ जाता है जिस अनुपात में श्रम का हिस्सा, यानी मज़दूरी, कम हो जाती है और इसी प्रकार पूंजी का हिस्सा घटने पर उसी अनुपात में श्रम का हिस्सा बढ़ता है। जिस हद तक मज़दूरी घट जाती है, उस हद तक मुनाफ़ा बढ़ जाता है और जिस हद तक मज़दूरी बढ़ जाती है, उस हद तक मुनाफ़ा घट जाता है।

इसपर शायद आपत्ति हो सकती है कि पूंजीपति दूसरे पूंजीपतियों के साथ अधिक अनुकूल विनिमय करके, नये बाज़ारों के खुल जाने या पुराने बाज़ारों में तात्कालिक मांग बढ़ जाने, इत्यादि से फ़ायदा उठा सकता है; और फलतः यह कि मज़दूरी में घटती-बढ़ती, अर्थात् श्रम-शक्ति के विनिमय-मूल्य में घटती-बढ़ती से सर्वथा स्वतन्त्र रूप से, अन्य पूंजीपतियों से बाज़ी मार ले जाकर मुनाफ़ा बढ़ा सकता है। या पूंजीपति का मुनाफ़ा श्रम के औज़ारों में सुधार होने के कारण या प्राकृतिक शक्तियों के नये ढंग के प्रयोग, आदि के कारण भी बढ़ सकता है।

पहले तो हमें मानना होगा कि इस हालत में भी परिणाम वही हुआ, हालांकि वह उल्टी तरह से हुआ। यह सच है, मुनाफ़ा इसलिए नहीं बढ़ा कि मज़दूरी कम हो गयी, मगर मज़दूरी इसलिए घटी है कि मुनाफ़ा बढ़ गया है। दूसरे लोगों के उतने ही श्रम द्वारा पूंजीपति ने, मज़दूर को उसके लिए अधिक भुगतान किये बग़ैर, अधिक मात्रा में विनिमय-मूल्य हासिल किया है; अतः मज़दूर के श्रम द्वारा प्राप्त पूंजीपति के शुद्ध मुनाफ़े के अनुपात में मज़दूर को कम मज़दूरी मिली है।

इसके अलावा, हमें यह भी याद है कि मालों के दामों में उतार-चढ़ाव होने के बावजूद हर माल का औसत दाम, यानी वह अनुपात जिसमें दूसरे मालों के साथ उसका विनिमय होता है, सदा उत्पादन-व्यय से निर्धारित होता

है। इसलिए, पूंजीपति वर्ग के अन्दर की पारस्परिक धोखाधड़ी अनिवार्य रूप से पलड़ा बराबर कर देती है। मशीनों में सुधार, उत्पादन में प्राकृतिक शक्तियों के नवीन उपयोग द्वारा उतने ही समय में और उतने ही श्रम और पूंजी से अधिक उत्पादन होने लगता है, लेकिन पहले से अधिक विनिमय-मूल्य उससे हरगिज़ नहीं पैदा होते। यदि कातने की जेनी-मशीन का इस्तेमाल करके मैं एक घंटे के अन्दर पहले के मुक़ाबले में दुगुना सूत—मान लीजिए पचास पौंड की जगह सौ पौंड—तैयार करने लगता हूं, तो अन्त में चलकर मुझे इस सौ पौंड के बदले में उससे अधिक मात्रा में अन्य माल नहीं मिलेंगे जितनी मात्रा में पहले पचास पौंड सूत के बदले में मिलते थे; इस कारण कि अब उत्पादन-व्यय पहले से आधा हो गया है, अर्थात् मैं उसी लागत पर पहले से दूना उत्पादन करने लगा हूं।

अन्तिम बात यह है कि एक देश का पूंजीपति वर्ग या पूरे विश्व-बाज़ार का पूंजीपति वर्ग उत्पादन से होनेवाले शुद्ध मुनाफ़े को अपने बीच चाहे किसी भी अनुपात में बांटे, लेकिन इस शुद्ध मुनाफ़े का कुल परिमाण केवल उतना ही होगा जितना कुल मिलाकर प्रत्यक्ष श्रम ने संचित श्रम में जोड़ दिया है। इसलिए, यह कुल परिमाण उसी अनुपात में बढ़ता है जिस अनुपात में श्रम पूंजी की बढ़ती करता है, अर्थात् जिस अनुपात में मज़दूरी की तुलना में मुनाफ़ा बढ़ता है।

इस भांति हम देखते हैं कि अगर हम **पूंजी और मज़दूरी के सम्बन्ध के भीतर रहते हैं तो भी पूंजी के और मज़दूरी के हित एक दूसरे के बिलकुल विरोधी होते हैं।**

पूंजी के तेज़ी से बढ़ने का मतलब मुनाफ़े का तेज़ी से बढ़ना है। मुनाफ़ा तेज़ी से तभी बढ़ सकता है जब श्रम का दाम, सापेक्ष मज़दूरी, उसी तेज़ी से घटे। अभिहित मज़दूरी के साथ-साथ, श्रम के मुद्रारूपी मूल्य के साथ-साथ असल मज़दूरी के बढ़ने पर भी अगर उसकी वृद्धि उसी अनुपात में नहीं होती जिसमें मुनाफ़े की होती है, तो सापेक्ष मज़दूरी में गिरावट आ सकती है। उदाहरणार्थ, जब रोज़गार चमका हो, उस समय यदि मज़दूरी में ५ प्रतिशत की बढ़ती होती है और, दूसरी ओर, मुनाफ़े में ३० प्रतिशत की, तब तुलनात्मक, सापेक्ष मज़दूरी में **बढ़ती नहीं बल्कि घटती हुई।**

इस प्रकार, यद्यपि पूंजी के तेज़ी से बढ़ने के साथ ही मज़दूर की आमदनी बढ़ती है, तथापि उसके साथ-साथ वह सामाजिक खाई और भी गहरी हो

जाती है जो मज़दूर को पूंजीपति से अलग करती है। इसी प्रकार श्रम पर पूंजी का प्रभुत्व और बढ़ जाता है और श्रम, पहले से भी अधिक, पूंजी पर निर्भर हो जाता है।

यह कहना कि पूंजी के तेज़ी से बढ़ने में मज़दूर का भी हित है सिर्फ़ यही कहने के बराबर है कि मज़दूर जितनी शीघ्रता के साथ दूसरों की दौलत बढ़ायेगा, उतने ही ज़्यादा दूसरों के खाने से बचे रोटी के टुकड़े उसके सामने फेंके जायेंगे, उतनी ही अधिक तादाद में मज़दूरों को नौकर रखा जा सकेगा, मज़दूरों की संख्या में उतनी ही वृद्धि होगी,—यानी पूंजी पर निर्भर रहनेवाले ग़ुलामों की तादाद उतनी ही बढ़ जायेगी।

इस प्रकार हमने देखा कि:

मज़दूर वर्ग के लिए **सबसे अधिक अनुकूल परिस्थिति** होने पर भी, यानी **पूंजी के ज़्यादा से ज़्यादा तेज़ी से बढ़ने** की हालत में भी, मज़दूर की आर्थिक दशा में भले ही चाहे जितना सुधार हो जाये, पर उसके हितों तथा पूंजीपति के हितों का विरोध नहीं मिटता। **मुनाफ़ा और मज़दूरी** तब भी **एक दूसरे के उल्टे अनुपात में ही घटते-बढ़ते हैं।**

यदि पूंजी तेज़ी से बढ़ रही है तो मज़दूरी भी बढ़ सकती है; लेकिन पूंजी का मुनाफ़ा इतनी तेज़ी से बढ़ता है कि दोनों की तुलना नहीं हो सकती। मज़दूर की आर्थिक स्थिति कुछ सुधर जाती है, मगर उसकी सामाजिक स्थिति और बिगड़ जाती है। उसे पूंजीपति से अलग करनेवाली सामाजिक खाई और भी चौड़ी हो जाती है।

अन्त में:

यह कहना कि उजरती श्रम के लिए सबसे अनुकूल स्थिति उत्पादक पूंजी की शीघ्रतम वृद्धि है यही कहने के बराबर है कि मज़दूर वर्ग जितनी शीघ्रता के साथ और विस्तृत रूप में उस शक्ति को बढ़ाता है जो उसकी शत्रु है, उस दौलत को बढ़ाता है जो उसकी नहीं है और जो उसपर शासन करती है, उतना ही अधिक मज़दूर को पूंजीपतियों की दौलत बढ़ाने के लिए, पूंजी की शक्ति का विस्तार करने के लिए अधिक अनुकूल सुविधाओं के साथ पुनः काम करने का अवसर मिलेगा; और वह उन सुनहरी जंजीरों को गढ़कर संतोष करेगा जिनसे बांधकर पूंजीपति उसे अपने पीछे घसीटता है।

५

क्या उत्पादक पूंजी की बढ़ती और मजदूरी के बढ़ने में सचमुच वैसा ही अटूट सम्बन्ध है जैसा पूंजीवादी अर्थशास्त्री बताते हैं? उनके कथन पर ही हमें विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। हमें उनकी इस बात पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए कि पूंजी का मोटापा जितना बढ़ेगा, उतना ही अधिक उसके ग़ुलामों को भी खाना मिलेगा। पूंजीपति वर्ग इस क़द्र होशियार है, इस क़द्र हिसाव करना जानता है कि वह सामन्ती राजा-नवावों की तरह झूठी शान में आकर अपने नौकर-चाकरों को ठाटबाट के साथ रखनेवाला नहीं है। पूंजीपति वर्ग के जीवन की परिस्थितियां ही ऐसी हैं जो उसे हिसाव जोड़कर चलने पर मजबूर करती हैं।

इसलिए हमें इसकी अधिक छानवीन करनी होगी: **उत्पादक पूंजी की बढ़ती का मजदूरी पर क्या प्रभाव पड़ता है?**

यदि पूंजीवादी समाज की उत्पादक पूंजी की, आम तौर पर, वढ़ती हो रही है तो श्रम का अधिक बहुविध संचय होगा। पूंजी की संख्या और आकार, दोनों ही दृष्टियों से वृद्धि होती है। पूंजियों की संख्या में बढ़ती होने से पूंजीपतियों के बीच होड़ वढ़ जाती है। पूंजियों के विस्तार में बढ़ती होते रहने से वे साधन तैयार हो जाते हैं जिनसे मजदूरों की पहले से अधिक शक्तिशाली सेनाओं को और भी विराट अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करके औद्योगिक युद्ध-क्षेत्र में उतारा जा सकता है।

यदि एक पूंजीपति दूसरे पूंजीपति को मैदान से भगाकर उसकी पूंजी पर क़ब्ज़ा कर लेना चाहता है, तो इसका केवल एक यही उपाय है कि वह उससे सस्ता माल वेचे। यदि विना अपने को वर्वाद किये वह माल सस्ता बेचना चाहता है, तो उसके लिए ज़रूरी है कि वह अपना माल भी अधिक सस्ते में तैयार करे, यानी श्रम की उत्पादक शक्ति को अधिक से अधिक वढ़ाये। लेकिन श्रम की उत्पादक शक्ति को वढ़ाने का प्रधान उपाय यह है कि श्रम का पहले से अधिक विभाजन किया जाये, मशीनों का और सार्वत्रिक प्रयोग किया जाये और उनमें लगातार सुधार किये जायें। मज़दूरों की वह सेना जितनी ही वड़ी होगी, जिसमें श्रम का विभाजन किया जायेगा, जितने ही विशाल पैमाने पर मशीनों का प्रयोग किया जायेगा, उतना ही और उसी अनुपात में उत्पादन-व्यय कम हो जायेगा और श्रम उतना ही अधिक फलप्रद

होगा। इसलिए, पूंजीपतियों के बीच, श्रम का विभाजन करने तथा मशीनों का इस्तेमाल करने, और दोनों तरीक़ों का बड़े से बड़े पैमाने पर उपयोग करने की आम होड़ आरम्भ हो जाती है।

अब यदि कोई पूंजीपति श्रम का अधिक विभाजन करके, नई-नई मशीनें इस्तेमाल करके तथा उनमें सुधार करके, और प्राकृतिक शक्तियों का अधिक लाभदायक एवं व्यापक ढंग से उपयोग करके, उतने ही श्रम से या उतने ही संचित श्रम से अपने प्रतिद्वंद्वियों के मुक़ाबले में ज्यादा माल तैयार करने में कामयाब होता है, उदाहरणार्थ, यदि उतने ही श्रम-काल में जितने में उसके प्रतिद्वंद्वी आधा गज़ कपड़ा तैयार करते हैं, वह एक गज़ तैयार करने लगता है, तो वह किस प्रकार व्यवहार करेगा?

वह अब भी पुराने बाज़ार-भाव पर आधा गज़ कपड़ा बेच सकता है; लेकिन इस तरह वह अपने प्रतिद्वंद्वियों को मैदान से नहीं भगा पायेगा और न अपनी बिक्री ही बढ़ा सकेगा। किन्तु जिस हद तक उसका उत्पादन बढ़ा है, उसी हद तक उसकी अपना माल बेचने की आवश्यकता भी बढ़ गयी है। उसने उत्पादन के जिन अधिक शक्तिशाली और महंगे साधनों को गतिशील किया है, उनकी बदौलत वह निश्चय ही अपना माल पहले से अधिक सस्ते दामों में बेचने में समर्थ हो जाता है; लेकिन साथ ही ये साधन उसे पहले से कहीं ज्यादा माल बेचने पर मजबूर करते हैं। वे उसे अपने माल के लिए पहले से कहीं ज्यादा बड़े बाज़ार पर अपना प्रभुत्व स्थापित के लिए बाध्य करते हैं। फलतः हमारा यह पूंजीपति अपना आधा गज़ कपड़ा अपने प्रतिद्वंद्वियों से अधिक सस्ते दामों में बेचने लगता है।

परन्तु, जिस दाम पर उसके प्रतिद्वंद्वी आधा गज़ कपड़ा बेचते हैं, उस दाम पर वह पूरा एक गज़ कपड़ा नहीं बेंचेगा, हालांकि उसके पूरे गज़ के उत्पादन में उससे अधिक लागत नहीं बैठी है जितनी दूसरों के आधे गज़ के उत्पादन में बैठी है। क्योंकि यदि वह ऐसा करेगा तो उसे कोई अतिरिक्त मुनाफ़ा नहीं मिलेगा, बस, केवल विनिमय द्वारा उत्पादन-व्यय वापस मिल जायेगा। उसकी आमदनी, सम्भव है, बढ़ जायेगी, लेकिन वह इस कारण बढ़ेगी कि उसने औरों से अधिक पूंजी गतिशील की है, इस कारण नहीं कि उसने अपनी पूंजी से औरों के मुक़ाबले में ज्यादा लाभ उठाया है। इसके अलावा अपने माल का दाम अपने प्रतिद्वंद्वियों के माल की अपेक्षा कुछ प्रतिशत कम कर देने से ही उसका उद्देश्य पूरा हो जाता है। अपना माल उनसे सस्ता

बेचकर वह उनको मैदान से भगा देता है, या, कम से कम, उनसे उनकी बिक्री का एक भाग अवश्य छीन लेता है। और अन्त में हमें याद रखना होगा कि किसी भी माल का बाज़ार-भाव उसके उत्पादन-व्यय से हमेशा कुछ कम या ज्यादा रहता है, जो इस पर निर्भर करता है कि आया उस माल की बिक्री उद्योग की अनुकूल अवस्था में हो रही है या प्रतिकूल अवस्था में। उत्पादन के नये तथा अधिक लाभकर साधनों का प्रयोग करनेवाला पूंजीपति अपने माल को असली उत्पादन-व्यय से कितने प्रतिशत अधिक में बेचेगा, यह इस पर निर्भर करेगा कि एक गज़ कपड़े का बाज़ार-भाव, अभी तक आम तौर पर जो उसका उत्पादन-व्यय हुआ करता था, उससे कम है या ज्यादा।

परन्तु हमारे पूंजीपति की यह विशेष सुविधापूर्ण स्थिति बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रहती। दूसरे प्रतिद्वंद्वी पूंजीपति भी उन्हीं मशीनों का, उसी तरह के श्रम-विभाजन का, उसी या उससे भी बड़े पैमाने पर प्रयोग करने लगते हैं और ये तरीक़े इतने सामान्य हो जाते हैं कि कपड़े का दाम उसके पुराने ही नहीं, बल्कि उसके नये उत्पादन-व्यय से भी नीचे गिर जाता है।

इसलिए पूंजीपतियों की एक दूसरे की निस्वत फिर वही हालत हो जाती है जो उत्पादन के नये साधनों के प्रयोग में आने के पहले थी। इन साधनों से यदि वे उतने ही दामों में पहले से दूना उत्पादन कर सकते थे तो अब उन्हें इस दूनी पैदावार को पहले के दाम से कम पर बेचना होता है। इस नये उत्पादन-व्यय के आधार पर फिर वही पुराना खेल शुरू हो जाता है। श्रम का और अधिक विभाजन होता है, और नई मशीनें आती हैं, पहले से भी बड़े पैमाने पर मशीनों का तथा श्रम-विभाजन का इस्तेमाल किया जाता है। और होड़, फलस्वरूप, इस परिणाम के विरुद्ध, फिर उसी प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पादन की प्रणाली और उत्पादन के साधन कैसे लगातार बदलते रहते हैं, क्रान्तिकारी ढंग से रूपान्तरित होते रहते हैं; और कैसे लाज़िमी तौर पर, श्रम-विभाजन के बाद और भी ज्यादा श्रम-विभाजन होता है; मशीनों के प्रयोग के बाद और भी ज्यादा मशीनों का प्रयोग होता है, और बड़े पैमाने पर उत्पादन होने के बाद और भी बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है।

यही वह नियम है जो बार-बार पूंजीवादी उत्पादन को अपनी पुरानी लीक से हटा देता है और पूंजी को इसके लिए बाध्य करता है कि चूंकि उसने श्रम की उत्पादक शक्तियों को तीव्र किया है, इसलिए वह उनको और भी तीव्र करे। यही वह नियम है जो पूंजी को तनिक भी विश्राम नहीं लेने देता और उसके कानों में सदा गुनगुनाया करता है: "और बढ़ो! और बढ़ो!"

यह वही नियम है जो व्यापार के उतार-चढ़ाव की अवस्थाओं में हर माल के दाम को अनिवार्यतः उसके उत्पादन-व्यय के स्तर पर ला पटकता है।

कोई पूंजीपति उत्पादन के कितने ही शक्तिशाली साधनों को मैदान में क्यों न लाये, होड़ इन साधनों को सार्वत्रिक बना देगी, और जिस क्षण ये साधन सार्वत्रिक हो जायेंगे उसी क्षण से उस पूंजीपति की पूंजी के अधिक फलदायक होने का केवल यही परिणाम होगा कि अब उसे उतने ही दामों में पहले से दस गुना, बीस गुना या सौ गुना माल प्रस्तुत करना होगा। लेकिन अधिक बिक्री द्वारा बिक्री के घटे हुए दामों को बराबर करने के लिए, अब चूंकि पहले के मुक़ाबले में, उसे शायद एक हज़ार गुना अधिक माल बेचने की आवश्यकता होगी, अब चूंकि अधिक मुनाफ़ा कमाने के लिए ही नहीं बल्कि उत्पादन-व्यय को पूरा करने के लिए भी (जैसा कि आपने देखा है, उत्पादन के औज़ार अधिकाधिक महंगे होते जाते हैं) उसे बिक्री और भी बढ़ानी होगी, और चूंकि बिक्री का यह विस्तार न केवल उसके लिए बल्कि उसके प्रतिद्वन्द्वियों के लिए भी जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता है, इसलिए उत्पादन के आविष्कृत साधन जितने ही फलदायी सिद्ध होंगे, पूंजीपतियों का पुराना संघर्ष उतने ही भीषण रूप में फिर छिड़ जायेगा। इस प्रकार श्रम का विभाजन और मशीनों का उपयोग एक बेअंदाज़ बड़े पैमाने पर होने लगेगा।

उत्पादन के प्रयुक्त साधनों की शक्ति चाहे जितनी हो, होड़ मालों के दामों को फिर उत्पादन-व्यय के स्तर पर खींचकर और इस प्रकार, जिस हद तक उत्पादन सस्ता बनाया जा सकता है, अर्थात् जिस हद तक उतने ही श्रम से पहले से अधिक उत्पादन किया जा सकता है, उस हद तक उत्पादन को सस्ता करने—यानी उतने ही कुल दाम में अधिकाधिक मात्रा में माल प्रस्तुत करने—को एक अनिवार्य नियम बनाकर पूंजी को इस शक्ति के सुनहरे

फल से वंचित कर देती है। इस प्रकार पूंजीपति को उसकी सारी कोशिशों का केवल यह फल मिलता है कि उसे उतने ही श्रम-काल में पहले से अधिक माल प्रस्तुत करना होता है, यानी संक्षेप में कहा जाये तो अपनी पूंजी का मूल्य बढ़ाने का काम अब उसे और कठिन परिस्थितियों में करना होता है। इसलिए जहां एक तरफ़ होड़, अपना उत्पादन-व्यय का नियम लेकर, सदा पूंजीपति के पीछे पड़ी रहती है और अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर प्रहार के लिए जो अस्त्र भी वह गढ़ता है वह पलट कर उसी पर चोट करता है, वहीं दूसरी ओर बराबर और नई मशीनें लगाकर—गोकि वे ज़्यादा महंगी होती हैं, पर वे उत्पादन सस्ता कर देती हैं—तथा श्रम का पुराने की जगह नया विभाजन करके, बिना इस बात का इन्तज़ार किये हुए कि होड़ उसकी नई मशीनों को गतप्रयोग बना दे, पूंजीपति होड़ के ऊपर क़ाबू पाने की सतत चेष्टा करता है।

अब यदि हम एकसाथ विश्व-बाज़ार में होनेवाली इस ज़बरदस्त हलचल की कल्पना करें, तो हम समझ सकेंगे कि पूंजी के विकास, संचय और केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप किस प्रकार श्रम का निरंतर विभाजन होता रहता है और किस प्रकार नई मशीनों का प्रयोग और पुरानी मशीनों का नवीकरण नित्य बढ़ते हुए पैमाने पर होता रहता है।

लेकिन इन परिस्थितियों का, जिनका उत्पादक पूंजी की बढ़ती के साथ अटूट सम्बन्ध है, मज़दूरी के निर्धारण पर क्या प्रभाव पड़ता है?

श्रम-विभाजन की वृद्धि की बदौलत एक मज़दूर पांच, दस या बीस मज़दूरों का काम करने लगता है। इसलिए, उसकी वजह से मज़दूरों के बीच चलनेवाली होड़ पहले से पांच गुनी, दस गुनी या बीस गुनी बढ़ जाती है। मज़दूर इस तरह ही आपस में होड़ नहीं करते कि प्रत्येक अपने को दूसरे से अधिक सस्ते दामों में बेचने की कोशिश करने लगे, बल्कि वे इस तरह भी आपस में होड़ करते हैं कि सिर्फ़ एक मज़दूर पांच, दस या बीस मज़दूरों का काम करने लगता है। पूंजी द्वारा लागू किया हुआ और निरंतर बढ़ता हुआ **श्रम-विभाजन** मज़दूरों को इस प्रकार की होड़ के लिए मजबूर करता है।

इसके अलावा, जैसे-जैसे **श्रम-विभाजन** बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे श्रम अधिकाधिक सरल होता जाता है। मज़दूर की विशेष निपुणता बेकार हो जाती है। वह एक ऐसी सरल, नीरस और यंत्रवत् उत्पादक शक्ति बन जाता है

जिसे तीव्र शारीरिक अथवा बौद्धिक क्षमताओं का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उसका श्रम ऐसा श्रम बन जाता है जिसे कोई भी कर सकता है। इसलिए, उसे चारों ओर से प्रतिद्वंद्वी आकर घेर लेते हैं। और इसके अलावा, हम पाठकों को यह भी याद दिला दें कि श्रम जितना सहज-साध्य है, उसे सीखना जितना सरल है, उसमें निपुणता प्राप्त करने के लिए जितना कम उत्पादन-व्यय आवश्यक है, उतनी ही मज़दूरी में भी कमी होती है, क्योंकि अन्य माल की तरह मज़दूरी भी उसके उत्पादन-व्यय द्वारा ही निर्धारित होती है।

इसलिए, **जैसे-जैसे श्रम अधिकाधिक असंतोषप्रद और अरुचिकर बनता जाता है, वैसे-वैसे होड़ बढ़ती जाती है और मज़दूरी कम होती जाती है।** मज़दूर पहले से ज़्यादा काम करके अपनी मज़दूरी बरक़रार रखने की कोशिश करता है; इसके लिए चाहे वह ज़्यादा घंटे काम करे या एक घंटे में अधिक माल तैयार करे। अभाव द्वारा प्रेरित होकर वह श्रम-विभाजन के बुरे परिणामों को और भी बढ़ा देता है। नतीजा यह होता है कि **वह जितना ज़्यादा काम करता है, उतनी ही कम मज़दूरी पाता है।** और यह सिर्फ़ इसलिए कि वह जितना ज़्यादा काम करता है, उतना ही अधिक अपने साथी मज़दूरों के साथ होड़ करता है और इसलिए वह उन सब को प्रतिद्वंद्वी बना लेता है जो उतनी ही बुरी शर्तों पर काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं, जितनी बुरी शर्तों पर वह ख़ुद काम करने के लिए तैयार हो गया है। और इसलिए, अन्ततोगत्वा मज़दूर ख़ुद अपना, **मज़दूर वर्ग के एक सदस्य के रूप में ख़ुद अपना प्रतिद्वंद्वी बन जाता है।**

मशीन कुशल की जगह अकुशल मज़दूरों को, मर्दों की जगह औरतों को, और वयस्कों की जगह बच्चों को लाकर और भी बड़े पैमाने पर इसी तरह के परिणाम उत्पन्न करती है। जहां कहीं मशीनों का प्रयोग शुरू होता है, वहां वे हाथ से काम करनेवाले मज़दूरों के पूरे के पूरे समुदायों को बेकार कर, और जहां मशीनों में विकास या सुधार होता है और पुरानी की जगह नई, अधिक उत्पादक मशीनें लगायी जाती हैं, वहां वे मज़दूरों की अपेक्षाकृत छोटी टोलियों को बेकार कर इसी तरह के परिणाम उत्पन्न करती हैं। ऊपर हमने पूंजीपतियों के बीच आपस में चलनेवाले औद्योगिक युद्ध का जल्दी-जल्दी में एक चित्र उपस्थित किया है। **इस युद्ध की विशेषता यह है कि इसकी लड़ाइयां उतनी मज़दूरों की फ़ौज भर्ती करके नहीं, जितनी उन्हें बर्ख़ास्त करके**

जीती जाती हैं। इन फ़ौजों के सेनापति, अर्थात् पूंजीपति, इस बात में एक दूसरे से होड़ करते हैं कि उद्योग के सबसे ज्यादा सैनिकों को कौन बर्ख़ास्त कर सकता है।

यह सच है कि अर्थशास्त्री हमें यह बताते हैं कि जो मज़दूर मशीनों की वजह से फ़ालतू हो जाते हैं उन्हें उद्योग-धंधों की नई शाखाओं में काम मिल जाता है।

वे सीधे-सीधे यह कहने की हिम्मत नहीं करते कि जो मज़दूर निकाले जाते हैं उन्हीं को श्रम की नई शाखाओं में काम मिलता है। वास्तविकता इस झूठ का प्रबल रूप से खंडन करती है। असल में वे केवल यह कहते हैं कि **मज़दूर वर्ग के दूसरे संघटक भागों** के लिए नौकरी के नये रास्ते खुल जायेंगे— मसलन् मज़दूरों की नौजवान पीढ़ी के एक हिस्से के लिए जो उद्योग की उस शाखा में प्रवेश करने के लिए तैयार खड़ा था जो अब चौपट हो गयी है। अभागे मज़दूरों के लिए निःसंदेह यह एक बहुत बड़ी दिलासा है। धर्मपरायण पूंजीपतियों को दोहन के लिए रक्त और मांस की कमी कभी न होगी और जो बीत गयी है वे उसे भूल जायेंगे। यह वह दिलासा है जो पूंजीपति अपने को देता है, न कि मज़दूरों को। यदि मशीनों की वजह से उजरती मज़दूरों का पूरा वर्ग ही मिट जाये, तो पूंजी के लिए यह कितनी भयानक बात होगी— उजरती श्रम न हो तो पूंजी पूंजी न रहेगी!

परन्तु मान लीजिये कि जिन लोगों की रोज़ी मशीनों ने सीधे-सीधे छीन ली है उन्हें, और नई पीढ़ी के मज़दूरों के उस हिस्से को जो इन नौकरियों पर पहले से आंख लगाये था, **नया धंधा मिल जाता है**, तो क्या कोई यह विश्वास कर सकता है कि इस नये काम के लिए भी मज़दूरों को उतनी ही ऊंची मज़दूरी मिलेगी जितनी उनको पुराने काम के लिए मिलती थी, जो उनके हाथ से अब जाता रहा है? यदि ऐसा होने लगे तो **अर्थशास्त्र के सारे नियम** झूठे पड़ जायें। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार आधुनिक उद्योग सदा अधिक संश्लिष्ट तथा उच्चतर कार्य को निम्नतर तथा अधिक सहजसाध्य कार्य से बदल देता है।

तब फिर मशीनों के कारण उद्योग की एक शाखा से निकाला हुआ मज़दूरों का एक बड़ा दल उद्योग की दूसरी शाखा में कैसे खप सकता है, जब तक कि यह दूसरी शाखा **निम्नतर** न हो **और उसमें मज़दूरी कम न हो?**

कहा जाता है कि ख़ुद मशीन बनाने के उद्योग में जो मज़दूर काम करते हैं, वे इस नियम के अपवाद हैं। कहा जाता है कि उद्योग में जब मशीनों की मांग और उनका इस्तेमाल बढ़ता है तब लाज़िमी तौर पर मशीनों की संख्या में और फलतः मशीनों के उत्पादन में बढ़ती होती है, और फलतः मशीन बनाने के उद्योग में अधिक मज़दूरों को नौकर रखा जाता है। और यह भी दावा किया जाता है कि उद्योग की इस शाखा में काम करनेवाले मज़दूर निपुण और यहां तक कि पढ़े-लिखे होते हैं।

वैसे तो पहले भी यह दावा केवल आधा सच था, लेकिन १८४० के बाद से तो इसमें सचाई का लेश भी नहीं रह गया है, क्योंकि तब से मशीन बनाने के उद्योग में ठीक उसी प्रकार अधिकाधिक नयी और विभिन्न प्रकार का काम करनेवाली मशीनों का प्रयोग होने लगा है, जिस प्रकार सूत तैयार करने के उद्योग में होता है। और मशीन बनाने के कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूर, अत्यन्त पेचीदा मशीनों के सामने, स्वयं ग़ैर-पेचीदा मशीनों का ही पार्ट अदा कर सकते हैं।

लेकिन मशीन के कारण जो आदमी नौकरी से निकाल दिया गया है, उसकी जगह पर कारख़ाना सम्भवतः तीन लड़कों और एक औरत को नौकर रख लेता है! क्या उस मज़दूर की मज़दूरी का इतना होना ज़रूरी नहीं था कि उससे तीन बच्चों और एक औरत का भरण-पोषण हो सके? क्या न्यूनतम मज़दूरी का इतना होना ज़रूरी नहीं था कि उससे वंश की रक्षा और वृद्धि हो सके? तब फिर पूंजीपतियों को प्रिय फ़िक़रे से क्या सिद्ध होता है? इससे अधिक और कुछ नहीं कि एक मज़दूर परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए अब पहले से चौगुने मज़दूरों को अपना जीवन खपाना होगा।

पूरी बात को एक बार फिर संक्षेप में कह दें: उत्पादक पूंजी जितनी ज़्यादा बढ़ती है, उतना ही श्रम-विभाजन और मशीनों का प्रयोग बढ़ता जाता है। श्रम-विभाजन और मशीनों का प्रयोग जितना अधिक बढ़ता है, उतनी ही मज़दूरों के बीच चलनेवाली होड़ बढ़ती और उनकी मज़दूरी घटती है।

इसके अलावा, मज़दूर वर्ग में समाज के अधिक ऊंचे स्तरों से भी बहुत से रंगरूट भर्ती हो जाते हैं। छोटे-छोटे उद्योगपतियों और छोटे लगानभोगियों की एक बड़ी संख्या को मज़दूरों की पांतों में ढकेल दिया जाता है और उनके सामने इसके सिवा और कोई चारा नहीं रहता है कि मज़दूरों के साथ वे भी आग्रह के साथ अपना हाथ फैलायें। इस प्रकार काम की याचना करनेवाले

इन बढ़े हुए हाथों का जमघट दिन-ब-दिन घना होता जाता है, परन्तु ये हाथ स्वतः निरंतर दुबले होते जाते हैं।

यह बात स्वतःसिद्ध है कि जिस होड़ में कामयाब होने की पहली शर्त यह है कि अधिकाधिक बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाये, अर्थात् उद्योगपति छोटा न हो बल्कि बड़ा हो, उस होड़ में छोटा उद्योगपति मैदान में नहीं ठहर सकता।

पूंजियों की संख्या और आकार में जितनी बढ़ती होती है उतनी ही सूद की दर कम होती जाती है; अतः अब छोटा लगानभोगी अपने सूद पर नहीं ज़िन्दा रह सकता और उसे उद्योग के क्षेत्र में कूदना होता है, और इस प्रकार वह छोटे उद्योगपतियों और अंततोगत्वा सर्वहारा वर्ग के उम्मीदवारों की संख्या बढ़ाता है—निश्चय ही इन सब बातों को और समझाने की आवश्यकता नहीं है।

अन्तिम बात यह है कि चूंकि पूंजीपतियों को, ऊपर बताई हुई क्रिया के कारण, पहले से विद्यमान् उत्पादन के विराट साधनों का अधिकाधिक बड़े पैमाने पर प्रयोग करने के लिए और इसके लिए ऋण के सभी मुख्य साधनों को गतिशील करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, इसलिए उन औद्योगिक भूचालों की संख्या भी तदनुरूप बढ़ती जाती है, जिनमें वाणिज्य-जगत् के लिए अपने को क़ायम रखने का इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं रह जाता कि सम्पदा के एक भाग की, उत्पादन के एक भाग की, और यहां तक कि उत्पादक शक्तियों के भी एक भाग की वह पाताल लोक के देवताओं को संतुष्ट करने के वास्ते आहुति दे दे। सारांश यह कि संकट बढ़ते जाते हैं। वे पहले से अधिक जल्दी-जल्दी आने लगते हैं और उनकी भयंकरता और भी बढ़ जाती है, और किसी कारण नहीं तो इस कारण कि जैसे-जैसे उत्पादन का परिमाण और फलतः नये और अधिकाधिक बड़े बाज़ारों की आवश्यकता बढ़ती है, वैसे-वैसे विश्व-बाज़ार अधिकाधिक सिकुड़ता जाता है और शोषण करने के लिए उपलब्ध बाज़ारों की संख्या अधिकाधिक घटती जाती है; क्योंकि पहले जितने भी संकट आ चुके हैं उनमें से प्रत्येक एक न एक ऐसे बाज़ार को विश्व-व्यापार के अधीन बना चुका है जो उस वक़्त तक अछूता था या जिसका शोषण केवल सतही ढंग से हुआ था। परन्तु पूंजी केवल श्रम पर जीती ही नहीं है। वह मरती है तो बर्बर और अभिजातीय महाप्रभु की तरह अपने गुलामों की लाशों को, संकटों में मर-मिटने वाले मज़दूरों की लाशों

के अम्बार को, अपने साथ क़ब्र में लेती जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं: यदि पूंजी तेज़ी से बढ़ती है तो मज़दूरों के बीच चलनेवाली होड़ उससे कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ती है, अर्थात् मज़दूर वर्ग की रोज़ी के साधन, उसके जीवन-निर्वाह के साधन उतने ही अधिक कम हो जाते हैं; मगर फिर भी यह बात सच है कि उजरती श्रम के लिए सबसे अनुकूल अवस्था यही है कि पूंजी की तेज़ी से बढ़ती हो।

मार्क्स द्वारा १४ से ३० दिसम्बर १८४७ तक दिये गये भाषण। सबसे पहले १८४९ में «*Neue Rheinische Zeitung*» के ५ से ८ अप्रैल तक और ११ अप्रैल के अंकों में प्रकाशित। अलग पुस्तिका के रूप में १८९१ में बर्लिन से प्रकाशित, जिसका संपादन एंगेल्स ने किया और उसकी भूमिका लिखी।

पुस्तिका के मूलपाठ के अनुसार मुद्रित। मूल जर्मन।

कार्ल मार्क्स

लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर[39]

१८८५ के तृतीय जर्मन संस्करण में फ़्रेडरिक एंगेल्स की भूमिका

'अठारहवीं ब्रूमेर' के प्रथम प्रकाशन के ३३ वर्षों के बाद इसके नये संस्करण की आवश्यकता होना यह सिद्ध करता है कि इस पुस्तक के मूल्य में आज भी कोई कमी नहीं आयी है।

यह कृति सचमुच महान् प्रतिभा की ही देन थी। समस्त राजनीतिक जगत् को वज्रपात की तरह स्तम्भित कर देनेवाली उस घटना के फ़ौरन बाद – जिसकी कुछ लोगों ने नैतिक रोष के साथ ज़ोर-शोर से निन्दा की थी और जिसको कुछ ने क्रांति से उद्धार तथा उसकी भूलों का दण्ड मानकर स्वीकार किया था, जिस पर चकित तो सभी थे किन्तु जिसको कोई समझ नहीं पा रहा था, – मार्क्स ने उसकी एक संक्षिप्त और अत्यन्त मार्मिक व्याख्या पेश की, जिसने फ़रवरी के दिनों से फ़्रांस के पूरे इतिहास-क्रम को उसके आंतरिक अंतःसम्बन्धों के साथ अनावृत किया, और २ दिसम्बर की घटना[40] को इस अंतःसम्बन्ध का एक क़ुदरती लाज़िमी नतीजा साबित कर उसके ऊपर से चमत्कार का आवरण हटा दिया, और ऐसा करते हुए उनके लिए यह भी आवश्यक नहीं हुआ कि वह राज्य-पर्युत्क्षेपण के नायक को सिवा तिरस्कार के, जिसका वह सर्वथा पात्र था, किसी अन्य भाव से दर्शाते। जो चित्र उन्होंने खींचा वह इतने कुशल हाथों से खींचा गया था कि उसके बाद

होनेवाले प्रत्येक रहस्योद्घाटन ने सदा इस बात का नया प्रमाण ही प्रस्तुत किया है कि यह चित्र वास्तविकता का कितना सच्चा प्रतिबिंब था। जीवित और सामयिक इतिहास की ऐसी असामान्य समझ, घटनाओं के घटने के क्षण में ही उनका ऐसा सुलझा हुआ मूल्यांकन सचमुच बेजोड़ है।

किन्तु इसके लिए फ़्रांसीसी इतिहास का ऐसा सर्वांगपूर्ण ज्ञान अपेक्षित था जैसा ज्ञान मार्क्स रखते थे। फ़्रांस वह देश है जहां अन्य किसी भी देश से अधिक, ऐतिहासिक वर्ग-संघर्ष हर बार अंतिम निर्णय तक लड़े गये हैं; और जहां, इसके फलस्वरूप, बदलते हुए राजनीतिक रूप, जिन रूपों में ये संघर्ष चलते हैं और जिनमें इन संघर्षों के परिणाम सार रूप में प्रस्तुत होते हैं, सुस्पष्ट आकार ग्रहण करते हैं। मध्ययुग में सामंतवाद के केन्द्र, रेनासांस (पुनर्जागृति)[41] के बाद से सामाजिक श्रेणी-व्यवस्था पर आश्रित, एकताबद्ध राजतन्त्र के आदर्श देश फ़्रांस ने महान् क्रांति में सामंतवाद का सफ़ाया कर दिया और पूंजीपति वर्ग का अमिश्रित शासन स्थापित किया जिसकी अपूर्व विशुद्धता का किसी भी अन्य यूरोपीय देश में जोड़ नहीं मिलता। और अपनी उन्नति के लिए सचेष्ट सर्वहारा का शासक पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध संघर्ष भी फ़्रांस में इतने तीव्र रूप में प्रगट हुआ कि अन्यत्र उसकी मिसाल नहीं मिलती। यही कारण है कि मार्क्स ने न केवल फ़्रांस के विगत इतिहास का विशेष लगन के साथ अध्ययन किया, वरन् उसके वर्तमान इतिहास की प्रत्येक गतिविधि का भी अनुसरण किया और भविष्य में उपयोग के लिए प्रचुर सामग्री एकत्रित की। फलतः घटनाएं उन्हें चकित-विमूढ़ नहीं कर सकीं।

किन्तु इसके अतिरिक्त एक और भी चीज़ थी। मार्क्स ही ने सर्वप्रथम इतिहास की गति के उस महान् नियम का पता लगाया जिसके अनुसार सभी ऐतिहासिक संघर्ष, चाहे वे राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक क्षेत्र में अथवा किसी अन्य बौद्धिक क्षेत्र में हों, वस्तुतः सामाजिक वर्गों के संघर्षों की न्यूनाधिक स्पष्ट अभिव्यक्तियां होते हैं, और इन वर्गों का अस्तित्व और फलतः इन वर्गों के बीच आपसी टक्करें भी उनकी आर्थिक स्थिति के विकास की अवस्था द्वारा, उनके उत्पादन की प्रणाली और तद्विध विनिमय-प्रणाली द्वारा निश्चित होती हैं। इस नियम ने, जिसका इतिहास के लिए वही महत्व है जो प्राकृतिक विज्ञान के लिए ऊर्जा के रूपांतर के नियम का है, मार्क्स को

यहां भी द्वितीय फ़्रांसीसी जनतंत्र[42] के इतिहास को समझने की कुंजी प्रदान की। उन्होंने अपने नियम को इन ऐतिहासिक घटनाओं की कसौटी पर परखा और हमें यह कहना होगा कि तैंतीस वर्षों के वाद आज भी यह नियम इस कसौटी पर वड़े शानदार ढंग से खरा उतरता है।

फ़्रेडरिक एंगेल्स

१८८५ में लिखित।
Karl Marx. «*Der Achtzehnte Brumaire des Louis Bonaparte*». Hamburg, 1885, में प्रकाशित।

पुस्तक के मूलपाठ के अनुसार मुद्रित।
मूल जर्मन।

लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर

१

हेगेल ने एक जगह कहा है कि ऐसा लगता है कि विश्व-इतिहास में वे सभी घटनाएं और हस्तियां, जिनका भारी महत्त्व है दो बार आविर्भूत हुई हैं। वे इतना और कहना भूल गये: पहली बार दुःखान्त नाटक के रूप में, और दूसरी बार प्रहसन के रूप में। जैसे, दांतों की जगह कोसीदियेर, रोबेसपियेर की जगह लूई ब्लां, १७९३–१७९५ के पर्वत-दल[43] की जगह १८४८–१८५१ का पर्वत-दल; चाचा की जगह उसका भतीजा। इसी प्रकार अठारहवीं ब्रूमेर का द्वितीय संस्करण जिन परिस्थितियों में हुआ है वे उसे प्रथम संस्करण का कार्टून बना देती हैं![44]

मानव-जन अपना इतिहास स्वयं बनाते हैं, पर अपने मनचाहे ढंग से नहीं। वे उसे अपनी मनचाही परिस्थितियों में नहीं, अपितु ऐसी परिस्थितियों में बनाते हैं जो उन्हें अतीत से प्राप्त और अतीत द्वारा सम्प्रेषित होती हैं और जिनका उन्हें सीधे सीधे सामना करना पड़ता है। सभी मृत पीढ़ियों की परम्परा जीवित मानव के मस्तिष्क पर एक दुःस्वप्न के समान सवार रहती है। और ठीक ऐसे समय, जब ऐसा लगता है कि वे अपने को तथा अपने इर्द-गिर्द की सभी चीज़ों को क्रांतिकारी रूप से बदल रहे हैं, और किसी ऐसी वस्तु का सृजन कर रहे हैं जिसका आज तक अस्तित्व न था, क्रांतिकारी संकट के ठीक ऐसे अवसरों पर वे अतीत के प्रेतों को अपनी सेवा के लिए उत्कण्ठापूर्वक बुलावा दे बैठते हैं और उनसे अतीत के नाम, अतीत के रणनाद और अतीत के परिधान मांगते हैं ताकि विश्व-इतिहास की नवीन रंगभूमि को इस प्राचीन सम्मानित वेष में और इस मंगनी की भाषा में सजाकर पेश करें। इस तरह लूथर ने ईशदूत पॉल का बाना ओढ़ा, १७८९–१८१४ की क्रांति ने रोमन गणराज्य और रोमन साम्राज्य का बारी-बारी

से परिधान धारण किया और १८४८ की क्रांति को कुछ न मिला तो उसने कभी १७८९ की और कभी १७९३–१७९५ की क्रांतिकारी परम्परा की भोंडी नक़ल की। यह उसी तरह है जिस तरह अभी-अभी कोई नई भाषा सीखनेवाला मनुष्य सदा अपनी मातृभाषा में उसका उलथा करता रहता है, और नयी भाषा की आत्मा वह तभी हृदयंगम करता है और उसमें अबाध रूप से अपने विचारों को तभी अभिव्यक्त कर सकता है जब उस भाषा में उसकी ऐसी गति हो जाती है कि पुरानी भाषा की याद करने की आवश्यकता नहीं पड़ती और वह नयी भाषा का उपयोग करते समय अपनी मातृभाषा को भूल जाता है।

विश्व-इतिहास की मृतात्माओं के इस आह्वान पर विचार करने से हमें तत्काल एक प्रत्यक्ष अंतर दिखाई देता है। कैमिले देमूलैं, दान्तों, रोबेसपियेर, सेंट-जूस्त, नेपोलियन,–पुरानी फ़्रांसीसी क्रांति के शूरवीर और उसकी पार्टियां एवं उसके जन-समुदाय, इन सबने अपने युग का कार्य–आधुनिक पूंजीवादी समाज को बंधन-मुक्त करने तथा उसे अपने पैरों पर खड़ा करने का कार्य–रोमन परिधान धारण कर और रोमन नारे देकर संपन्न किया। इनमें से पहले वालों ने सामंती आधार को चकनाचूर किया और इस आधार को ग्रहण कर जो सामंत पनपे थे, उनके सिर उतार लिये। दूसरे ने फ़्रांस के अंदर उन अवस्थाओं का सृजन किया जिनके अंतर्गत ही स्वतंत्र होड़ का विकास किया जा सकता था, टुकड़ों में बांटी गयी भू-सम्पत्ति का इस्तेमाल किया जा सकता था और राष्ट्र की बंधन-मुक्त औद्योगिक उत्पादक शक्ति उपयोग में लायी जा सकती थी। और फ़्रांस के बाहर सब जगह उसने सामंती संस्थाओं को उस हद तक उखाड़ फेंका जिस हद तक फ़्रांस में पूंजीवादी समाज को यूरोपीय महाद्वीप में एक उपयुक्त, आधुनिक परिवेश प्रदान करने की आवश्यकता थी। नवीन सामाजिक ढांचा जब स्थापित हो चुका तो पुरातन काल के दिग्गज, और उनके साथ ही रोमन साम्राज्य की पुनरुत्थापित विभूतियां–ब्रूटस और ग्राक्ख़ी, पुब्लिकोलस, ट्रिब्यून, सेनेटर, और स्वयं सीज़र–ग़ायब हो गये। पूंजीवादी समाज ने जब होश संभाला तो उसने सेय, कूज़ैं, राइये-कोलार, बेंजामिन कांस्तां और गीज़ो जैसे व्यक्तियों के रूप में अपने असली व्याख्याता और प्रवक्ता उत्पन्न किये। उसके असली सेनानायक व्यापारिक कोठियों की गद्दियों पर बैठे थे। लूई अठारहवें, जिसके दिमाग़ में सूअर की चर्बी भरी थी, उस पूंजीवादी समाज का राजनीतिक मुखिया बना।

धन के उत्पादन तथा शांतिपूर्ण होड़ के संघर्ष में पूर्णतया तल्लीन इस समाज को अब यह बात समझ में नहीं आती थी कि उसका जन्म रोम के ज़माने की मृतात्माओं के संरक्षण में हुआ था। किन्तु पूंजीवादी समाज यद्यपि वीरत्वशून्य है, फिर भी उसे अस्तित्व में लाने के लिए वीरत्व, त्याग, आतंक, गृहयुद्ध और जन-संघर्षों की आवश्यकता पड़ी थी। और उसके सूरमाओं को रोमन गणराज्य की प्राचीन प्रतिष्ठित, कठोर परम्परा से वे आदर्श एवं कला-रूप, वे आत्म-प्रवंचनाएं प्राप्त हुईं, जिनकी उन्हें ख़ुद अपने से अपने संघर्ष के अन्तर्य की पूंजीवादी सीमाओं को छिपाने के लिए और अपने उत्साह को महान् ऐतिहासिक दु:खांत नाटक के उच्च धरातल पर रखने के लिए आवश्यकता थी। इसी तरह, एक शताब्दी पूर्व, विकास की एक अन्य मंज़िल में, क्रॉमवेल और अंग्रेज़ जनता ने अपनी पूंजीवादी क्रांति[45] के लिए पुरानी इंजील[46] से भाषण, आवेग एवं प्रवंचनाएं ग्रहण की थीं। जब उनका असली लक्ष्य प्राप्त हो गया, जब इंगलैंड के समाज का पूंजीवादी रूपान्तरण पूरा हो गया, तब हवाकुम का स्थान लाक ने ले लिया।

इस प्रकार उन क्रांतियों में मृतात्माओं को पुनरुज्जीवित करने से जो प्रयोजन सिद्ध हुआ वह था नये संघर्षों को गौरवमंडित करना, न कि पुरानों की भोंडी नक़ल करना; सम्मुख उपस्थित कार्यभार को कल्पना में वृहद् आकार देना, न कि असलियत में उसे हल करने से भागना; एक बार फिर क्रान्ति की आत्मा को जागृत करना, न कि उसकी प्रेतात्मा को मंडराने देना।

पुराने बैली का छद्मवेश धारण करनेवाले मारास्त से लेकर, उस républicain en gants jaunes* से लेकर, उस दु:साहसी तक, जो अपना मामूली सा कुरूप चेहरा मृत नेपोलियन के लौह-मुखावरण के पीछे छिपाता है, पुरानी क्रांति की केवल प्रेतात्मा ही १८४८ से १८५१ तक मंडराती रही। एक पूरी की पूरी जाति, जो यह कल्पना किये हुए थी कि उसने क्रांति द्वारा त्वरित ऐतिहासिक गति की क्षमता प्राप्त कर ली है, सहसा अपने को एक मृत युग में प्रत्यावर्तित पाती है। और मानों इसलिए कि इसमें कोई भी संदेह न रह जाये कि पुरानी दशा ने उसे फिर ग्रस लिया है, तमाम पुरानी तारीख़ें, पुराना इतिवृत्तक्रम, पुराने नाम और पुरानी राजाज्ञाएं, जिनको लेकर एक

---

* पीले दस्तानेवाला जनतन्त्रवादी। – सं०

अरसे से केवल प्राचीन इतिहास के पण्डितगण ही सिर खपाया करते थे, और क़ानून के वे सभी अलमबरदार, जो न जाने कब के मर-गल चुके ज्ञात होते थे, फिर उठ खड़े होते हैं। राष्ट्र की भावना बेडलम के पागलख़ाने में[47] उस अंग्रेज़ जैसी है जो सोचता है कि वह प्राचीन फ़राऊनों के युग में रह रहा है, यह ख़याल कर आहें भरता है कि उसे एथियोपिया की खानों में सोना निकालनेवाले खनक के रूप में भीषण श्रम करना पड़ रहा है, कि वह इस ज़मींदोज़ जेल में बंद है, एक टिमटिमाती लालटेन उसके सिर पर बंधी हुई है, दासों का निरीक्षक लम्बा कोड़ा लिये उसके सिर पर खड़ा है, और बाहर निकलने के रास्तों पर बर्बर सैनिकों – भाड़े के टट्टुओं– की एक भीड़ हंगामा मचाए हुए है, और ये सैनिक न तो खान में बेगार करनेवाले मज़दूरों की बात समझते हैं और न एक दूसरे की बात, क्योंकि उनकी कोई समान भाषा नहीं है। पागल अंग्रेज़ आह भरकर कहता है, "और यह सारा काम मुझसे, एक स्वतंत्रजात अंग्रेज़ से करवाया जा रहा है ताकि पुराने फ़राऊनों को स्वर्ण लाभ हो।" और फ़्रांसीसी राष्ट्र आह भरकर कहता है, "ताकि बोनापार्त परिवार के क़र्ज़ों की अदायगी हो।" वह अंग्रेज़, जब तक उसका दिमाग़ दुरुस्त था, इस बद्धमूल विचार से छुटकारा न पा सका कि किस तरह सोना पैदा किया जाये। फ़्रांसीसी, जब तक वे क्रांति में लगे हुए थे, नेपोलियन की स्मृति से छुटकारा न पा सके थे, जैसा कि १० दिसम्बर, १८४८ के निर्वाचन से सिद्ध हो गया[48]। वे क्रांति की जोखिम से निकलकर मिस्र के "शराब-कबाब"[49] को फिर से प्राप्त करने को लालायित थे, और २ दिसम्बर, १८५१ की घटना में उनकी यह आकांक्षा प्रतिफलित हुई। उन्हें पुराने नेपोलियन की एक भद्दी नक़ल ही नहीं मिल गयी, बल्कि स्वयं पुराना नेपोलियन, उस विकृत रूप में जिसमें उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में वह दिखाई देता, मिल गया।

उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक क्रांति अतीत से नहीं वरन् भविष्य से ही अपनी प्रेरणा प्राप्त कर सकती है। वह उस समय तक अपना समारम्भ नहीं कर सकती जब तक अतीत सम्बन्धी अपने सभी मूढ़ विश्वासों को दूर न कर ले। पहले की क्रांतियों को स्वयं अपनी अंतर्वस्तु के सम्बन्ध में अपने को मदहोश करने के लिए विगत विश्व-इतिहास की स्मृतियों की आवश्यकता पड़ती थी। उन्नीसवीं शताब्दी की क्रांति के लिए जरूरी है कि अपनी अंतर्वस्तु प्राप्त करने के लिए जो बीत गया है, उसे भुला दे। पहली क्रांतियों के

नारे उनकी अंतर्वस्तु से आगे निकल गये थे; यहां अंतर्वस्तु नारों से आगे निकल जाती है।

फ़रवरी क्रांति पुराने समाज पर एक आकस्मिक आक्रमण थी, उसने उसे बेख़बरी की हालत में पकड़ लिया था और जनता ने इस अप्रत्याशित प्रहार को एक नये युग का सूत्रपात करनेवाली विश्वव्यापी महत्त्व की घटना घोषित किया। २ दिसम्बर को ताश के किसी जादूगर ने मानो फ़रवरी क्रांति को छूमन्तर कर दिया, और अब ज़ाहिर हुआ कि जिस चीज़ का सफ़ाया हुआ, वह राजतंत्र नहीं, बल्कि वे उदारतावादी छूटें हैं जो सदियों के संघर्ष द्वारा राजतंत्र से प्राप्त की गयी थीं। समाज ने अपने लिए एक नयी अन्तर्वस्तु प्राप्त नहीं की वरन् ऐसा लगता है कि राज्य अपनी प्राचीनतम अवस्था में, जब त्रिशूल और काषाय का सीधा-सीधा और नग्न राज था, वापस पहुंच गया। फ़रवरी, १८४८ के Coup de main* का जवाब दिसम्बर १८५१ के Coup de tête** से दिया गया। जो आसानी से हाथ में आता है, वह उतनी ही आसानी से हाथ से जाता भी है। किन्तु बीच की अवधि बेकार नहीं गयी है। १८४८ से १८५१ के दौरान फ़्रांसीसी समाज ने उन अध्ययनों और अनुभवों की कमी पूरी कर ली, और वह भी एक संक्षिप्त तरीक़े से क्योंकि वह क्रांतिकारी तरीक़ा था, जिन्हें, यदि फ़रवरी क्रांति महज़ सतही लहर न होती, तो उसके लिए, विकास के नियमित प्रक्रम में, अथवा यूं कहें कि उसके पाठ्य-पुस्तक में निरूपित प्रक्रम में, पूर्वापेक्षित होना चाहिए था। अब ऐसा लगता है कि समाज अपने प्रस्थान-बिंदु से भी पीछे चला गया है; दरअसल उसे अपने लिए पहले क्रांतिकारी प्रस्थान-बिंदु को उत्पन्न करना, उस परिस्थिति, उन सम्बन्धों और उन अवस्थाओं को उत्पन्न करना होगा जिनके अंतगत ही आधुनिक क्रांति गम्भीर वस्तु बनती है।

अठारहवीं शताब्दी की क्रांतियों जैसी पूंजीवादी क्रांतियां तूफ़ानी चाल से कामयाबियों पर कामयाबियां हासिल करती हैं; उनकी प्रत्येक नाटकीय निष्पत्ति दूसरी को मात करती है; मनुष्य और वस्तुएं दोनों जगमगाते दिखाई देते हैं; उल्लास की भावना प्रतिदिन की भावना बन जाती है; किन्तु ये

---

* आकस्मिक प्रहार। – सं०

** उद्दंड कार्रवाई। – सं०

सारी बातें अल्पजीवी होती हैं, वे शीघ्र ही अपने शिरोविन्दु तक पहुंच चुकती हैं; समाज पर, इसके पहले कि वह अपने तूफ़ानी दौर के परिणामों को गम्भीरतापूर्वक आत्मसात् करना सीखे, एक ख़ुमारी-भरा अवसाद छा जाता है। दूसरी ओर, उन्नीसवीं शताब्दी की क्रांतियों जैसी सर्वहारा क्रांतियां निरंतर अपनी आलोचना करती हैं, आगे बढ़ते-बढ़ते स्वयं ही बार-बार रुक जाती हैं, ज़ाहिरा तै किये हुए रास्ते पर फिर लौट आती हैं ताकि अपनी यात्रा दोबारा शुरू करें, अपने प्रथम प्रयासों की अपर्याप्तताओं, कमज़ोरियों और तुच्छताओं की निर्मम आद्यंत भर्त्सना करती हैं, शत्रु को मानो इसी लिए पटकती हैं कि वह धरती से नवीन बल प्राप्त कर और अधिक विराट होकर फिर उनके सामने आये; स्वयं अपने लक्ष्यों के अस्पष्ट से विराट आकार से बारंबार झिझककर पीछे हट जाती हैं — तब तक जब तक कि ऐसी परिस्थिति तैयार नहीं हो जाती जिसमें पीछे हटना बिलकुल असम्भव होता है और अवस्थाएं स्वयं पुकारकर कहती हैं :

Hic Rhodus, Hic salta!
यहां रोड्स, कूदो यहां![50]

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त, प्रत्येक पर्याप्त योग्य प्रेक्षक को, चाहे उसने फ़्रांसीसी घटनाक्रम का प्रत्येक पग पर निरीक्षण न भी किया हो, यह पूर्वाभास अवश्य हुआ होगा कि क्रांति टांय-टांय फिस होकर रह जायेगी, जैसा कि पहले कभी देखा भी न गया हो। मई १८५२ के द्वितीय रविवार[51] के प्रत्याशित सुखद परिणामों के बारे में जनवादी महानुभावों ने आत्मसंतोष से एक दूसरे को बधाइयां देते हुए विजयोल्लास से भर कर जो कोलाहल मचाया उसे सुनना ही इसके लिए काफ़ी था। जिस तरह किलिआस्टों[52] के मस्तिष्क में उस दिन का विचार बद्धमूल धारणा की तरह, अंधमत की तरह बैठ गया था, जिस दिन ईसा मसीह फिर अवतरित होंगे, और एक सहस्राब्दी का सुख-शान्ति का काल आरम्भ हो जायेगा, उसी प्रकार इन लोगों के मस्तिष्क में मई १८५२ के द्वितीय रविवार का विचार बैठ गया था। जैसा कि सदा होता है, दुर्बलता ने चमत्कारों में विश्वास का आश्रय लिया था। उन्होंने यह कल्पना कर ली थी कि शत्रु पराजित हो गया है जब कि वस्तुतः उसे केवल कल्पना में फूंककर उड़ा दिया गया था। और उन्होंने भविष्य के तथा उन कारनामों के

निष्क्रिय गौरवान्वयन में, जिनकी उन्होंने अपने मन में योजनाएं तैयार कर रखी थीं, पर जिन्हें वे अभी पूरा करना नहीं चाहते थे, वर्तमान का समस्त अवबोध भुला दिया था। वे सूरमा, जो एक दूसरे के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करके और एक मजमे में इकट्ठा हो करके यह साबित करना चाहते थे कि वे सचमुच अयोग्य नहीं हैं, जब कि उनकी अयोग्यता प्रत्यक्ष हो चुकी थी, अपना बोरिया-बिस्तर बांध चुके थे तथा पहले ही कीर्त्ति के अपने पुष्पहारों को समेट चुके थे। तत्काल वे सराफ़े में in partibus[53] उन जनतंत्रों को जिस दाम पर भी हो भुना लेने में व्यस्त थे जिनकी सरकारों के सदस्य, अपनी सरल चित्तवृत्ति की समस्त निश्चिंतता के साथ वे दूरदर्शितापूर्वक पहले ही तय कर चुके थे। २ दिसम्बर उनके लिए ऐसा था जैसे मेघहीन आकाश से बिजली गिरी हो। और उन लोगों को, जो बुज़दिली और पस्ती के समय अपने दिल की धुकधुकाहट को सबसे ज़ोर से चिल्लानेवालों के स्वर में प्रसन्नतापूर्वक डूब जाने देते हैं, शायद यह यक़ीन हो गया होगा कि वह ज़माना कभी का लद गया जब बत्तख़ों की कुड़-कुड़ कैपिटोल को बचा सकती थी[54]।

संविधान, राष्ट्रीय सभा, राजवंशीय पार्टियां, नीले और लाल जनतंत्रवादी, अफ़्रीका के सूरमा[55], सभा मंच पर वक्ताओं का कड़कना, दैनिक पत्रों का बिजलियां चमकाना, पूरा साहित्य, राजनीतिक नाम और बौद्धिक ख्यातियां, दीवानी क़ानून और दंड-विधान, liberté, égalité, fraternité* और मई १८५२ का द्वितीय रविवार – ये सभी किसी मायारूपी दृश्य की भांति एक ऐसे आदमी के जादू के ज़ोर से छूमंतर हो गये जिसको उसके शत्रु भी जादूगर नहीं बताते थे। ऐसा लगता है कि सर्व-मताधिकार केवल कुछ क्षणों के लिए इसलिए बचा रहा ताकि सारी दुनिया के सामने वह अपने हाथों से अपना अंतिम मृत्युपत्र और वसीयतनामा तैयार करे और स्वयं जनता के नाम पर घोषणा करे कि: "जो कुछ भी अस्तित्वमान् है, वह सब विनाशयोग्य है!"**

यह कहना – जैसा कि फ़्रांसीसी लोग कहते हैं – काफ़ी नहीं है कि उनका राष्ट्र ग़फ़लत का शिकार हुआ। राष्ट्र और नारी के लिए असजगता की वह

---

*स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व। – सं०

** गेटे के 'फ़ाउस्ट' में मेफ़िस्टोफ़ीलीस की उक्ति। – सं०

घड़ी कभी क्षम्य नहीं जिसमें कोई भी दुस्साहसपूर्ण व्यक्ति आकर बलात्कार करे। ऐसी उक्तियों से पहेली हल नहीं होती, केवल भिन्न ढंग से निरूपित होती है। यह व्याख्या शेष रह जाती है कि किस प्रकार तीन ठग तीन करोड़ साठ लाख जनगण के एक राष्ट्र को चौंका सकते हैं और विना किसी प्रतिरोध के वंदी वना सकते हैं।

आइये, उन दौरों पर मोटे तौर पर एक नज़र डालें जिनसे होकर फ़्रांसीसी क्रांति २४ फ़रवरी १८४८ से २ दिसम्बर १८५१ के बीच गुज़री है।

तीन मुख्य दौर सुस्पष्ट हैं जिनके वारे में कोई ग़लती नहीं की जा सकती: **फ़रवरी काल**; ४ मई १८४८ से २८ मई १८४९: **जनतंत्र के गठन, अथवा राष्ट्रीय संविधान सभा का काल**; २८ मई १८४९ से २ दिसम्वर १८५१: **वैधानिक जनतंत्र अथवा राष्ट्रीय विधान सभा का काल।**

प्रथम काल, अर्थात् २४ फ़रवरी से (जिस दिन लूई फ़िलिप गद्दी से उतारा गया) ४ मई १८४८ तक के काल को (जब संविधान सभा वैठी), अर्थात् असली **फ़रवरी काल** को हम क्रांति की **प्रस्तावना** कह सकते हैं। इस काल का स्वरूप आधिकारिक रूप में इस बात द्वारा व्यक्त होता है कि उसमें जो सरकार वनायी गई, उसने स्वयं घोषित किया कि वह एक **अस्थायी** सरकार है; और उस सरकार की ही भांति इस काल में जिस चीज़ की भी प्रस्तावना, प्रयास अथवा निरूपण किया गया, उसने पुकार-पुकार कर कहा कि वह केवल **अस्थायी** है। कोई भी और कुछ भी जीने और वास्तव में कुछ करने के अधिकार का दावा करने का साहस न कर सकता था। उन सभी तत्वों को जिन्होंने क्रांति को आयोजित अथवा निर्धारित किया था—राजवंशीय विरोध-पक्ष[56], जनतंत्रवादी पूंजीपति, जनवादी-जनतंत्रवादी निम्न-पूंजीपति और समाजवादी-जनवादी मज़दूरों को—फ़रवरी की सरकार में आरज़ी तौर पर जगह मिली थी।

अन्यथा हो भी नहीं सकता था। शुरू-शुरू में फ़रवरी की घटनाओं का लक्ष्य इस प्रकार का निर्वाचन-सुधार सम्पन्न करना था, जिसके द्वारा स्वामी-वर्ग के ही अंदर राजनीतिक विशेषाधिकार-सम्पन्न लोगों का दायरा बढ़ाया जा सके और केवल वित्तीय महाप्रभुओं का आधिपत्य समाप्त किया जा सके। किन्तु जव संघर्ष वस्तुतः आरम्भ हो गया, जव जनता वैरिकेडों पर आ डटी,

राष्ट्रीय गार्ड ने प्रतिकारशून्य रुख़ अख़्तियार किया, सेना ने कोई वास्तविक प्रतिरोध न किया और राजशाही भाग खड़ी हुई, तब ऐसा लगा कि जनतंत्र की स्थापना अवश्यम्भावी है। हर पार्टी ने इस जनतंत्र की अपने-अपने ढंग से व्याख्या की। शस्त्रबल से उसे प्राप्त कर सर्वहारा ने उसके ऊपर अपनी छाप डाली और उसे **सामाजिक जनतंत्र** घोषित किया। इस प्रकार आधुनिक क्रांति की सामान्य अंतर्वस्तु का निर्देश हुआ, उपलब्ध सामग्री तथा आम जनता की चेतना के विकास को देखते हुए, वर्तमान परिस्थितियों और सम्बन्धों के अंतर्गत, जो कुछ भी तत्काल व्यवहार-साध्य था, यह अंतर्वस्तु उसके सर्वथा प्रतिकूल थी, दूसरी ओर, फ़रवरी क्रांति में सहयोग करनेवाले तत्त्वों में एक सर्वहारा को छोड़ कर बाक़ी सभी के दावे माने गये; यह इस बात से स्पष्ट है कि सरकार में उन्हें ही सबसे बड़ा हिस्सा मिला। अतएव अन्य किसी काल में हमें लम्बी-चौड़ी बातों के साथ वास्तविक अनिश्चयता और अपटुता की, परिवर्तन के लिए उत्साहपूर्ण प्रयास के साथ पुरानी बद्धमूल परिपाटी के गहरे प्रभाव की, पूरे समाज के प्रतीयमान सामंजस्य के साथ उसके तत्त्वों की गहरी अनबन की ऐसी विचित्र मिलावट नहीं मिलती। जब कि पेरिस का मज़दूर वर्ग अपने सामने उन्मुक्त, व्यापक सम्भावनाओं की कल्पनाओं में लीन था और सामाजिक समस्याओं पर गम्भीरतापूर्ण वादानुवाद में लगा हुआ था, समाज की पुरातन शक्तियों ने अपने को जत्थेबन्द कर लिया था। वे सब इकट्ठा हुईं, उन्होंने सोचा-विचारा और राष्ट्र के जनसमुदाय – किसानों और निम्न-पूंजीपतियों – से, जो जुलाई के राजतंत्र[57] की प्राचीरों के ढहते ही, राजनीतिक रंगमंच पर चढ़ आये थे, उन्हें अप्रत्याशित समर्थन प्राप्त हुआ।

दूसरा काल (४ मई १८४८ से १८४९ की मई के अंत तक) **पूंजीवादी जनतंत्र के गठन का, संस्थापन** का काल है। फ़रवरी-काण्ड के बाद न केवल राजवंशीय विरोध-पक्ष को जनतंत्रवादियों ने और जनतंत्रवादियों को समाजवादियों ने अचानक चौंका दिया था, वरन् पूरे फ़्रांस को पेरिस ने चौंका दिया था। राष्ट्रीय सभा, जिसकी बैठक ४ मई १८४८ को आरम्भ हुई, राष्ट्रीय निर्वाचन से उत्पन्न हुई थी और राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती थी। वह सभा फ़रवरी के दिनों के मिथ्या दावों के प्रति मूर्त्तिमान प्रतिरोध थी और वह क्रांति के परिणामों को हीन कर उन्हें पूंजीवादी स्तर पर ले आनेवाली थी। पेरिस के सर्वहारा ने, जिसने इस राष्ट्रीय सभा के चरित्र को फ़ौरन

ही पहचान लिया था, उसके अधिवेशन के आरम्भ होने के कुछ ही दिनों बाद, १५ मई को[58], उसके अस्तित्व का बलपूर्वक निषेध करने, उसे भंग करने, उस जैविक रूप को, जिसे धारण कर राष्ट्र की प्रतिक्रियाशील भावना सर्वहारा के लिए ख़तरा पैदा कर रही थी, फिर से उसके संघटक भागों में विघटित कर देने का विफल प्रयत्न किया। पर जैसा कि विदित है, १५ मई की घटनाओं का एकमात्र परिणाम यह हुआ कि ब्लांकी और उनके साथी, अर्थात् सर्वहारा पार्टी के असली नेतागण इस पूरे कालचक्र के लिए, जिसकी हम यहां विवेचना कर रहे हैं, सार्वजनिक रंगमंच से हटा दिये गये।

लूई फ़िलिप के **पूंजीवादी राजतंत्र** के बाद **पूंजीवादी जनतंत्र** का ही अस्तित्व हो सकता है, अर्थात् जहां पूंजीपति वर्ग का एक सीमित भाग राजा के नाम पर राज्य किया करता था वहां अब पूरा पूंजीपति वर्ग जनता के नाम पर शासन करेगा। पेरिस के सर्वहारा की मांगें कल्पना-जगत् की उड़ानें हैं, कोरी बकवास हैं, जिनका ख़ातमा करना होगा—राष्ट्रीय संविधान सभा की इस घोषणा का जवाब पेरिस के सर्वहारा ने जून की बग़ावत द्वारा दिया जो यूरोपीय गृहयुद्धों के इतिहास की सबसे विराट घटना है। पूंजीवादी जनतंत्र विजयी हुआ। उसके पक्ष में थे वित्तीय महाप्रभु, औद्योगिक पूंजीपति, मध्यम वर्ग, निम्न पूंजीपति, सेना, गश्ती गार्ड के रूप में संगठित लंपट-सर्वहारा[59], बुद्धिजीवी, विभूतियां, पादरी और गांवों की आबादी। पेरिस के सर्वहारा के पक्ष में और कोई नहीं था। तीन हज़ार से अधिक बाग़ी जीत के बाद क़त्ल किये गये और पन्द्रह हज़ार को बिना मुक़दमा चलाये काला पानी भेजा गया। इस हार के साथ मज़दूर वर्ग क्रांतिकारी रंगमंच की पृष्ठभूमि में चला गया। हर मौक़े पर जहां आन्दोलन नये सिरे से उठता दिखायी देता है, वह फिर आगे बढ़ने की कोशिश करता है—परन्तु निरन्तर अल्पतर शक्ति और तुच्छतर सफलता के साथ। ज्यूं ही उससे ऊपर अवस्थित सामाजिक स्तरों में से किसी में क्रांतिकारी उफान आने लगता है, मज़दूर वर्ग झट उसके साथ गठबन्धन कर लेता है। फलतः वह विभिन्न पार्टियों की हार में एक के बाद दूसरी का साझीदार बनता है। पर बाद के ये प्रहार, समाज के जितने ही बड़े धरातल पर फैले होते हैं, उतने ही कमज़ोर पड़ते जाते हैं। राष्ट्रीय सभा और समाचारपत्र-जगत् के अंदर सर्वहारा के अधिक महत्वपूर्ण नेता एक के बाद एक अदालतों के शिकार बनते जाते हैं और

अधिकाधिक संदिग्ध प्रकार के व्यक्ति उसका नेतृत्व ग्रहण करते हैं। अंशतः वह अपने को मतवादी प्रयोगों, विनिमय बैंकों और मजदूर संघों में फंसा देता है, जिसका मतलब यह है कि वह अपने को ऐसे आंदोलन में फंसा देता है जिसमें वह पुरानी दुनिया का स्वयं उस दुनिया के महान्, संयुक्त साधनों द्वारा क्रांतिकारीकरण करने का लक्ष्य त्याग देता है और समाज के पीठ-पीछे, निजी तौर पर, अपने अस्तित्व की सीमित अवस्थाओं के भीतर, अपना उद्धार करने का प्रयास करता है, और परिणामस्वरूप उसका बेड़ा अनिवार्य रूप से ग़र्क़ हो जाता है। ऐसा लगता है कि वह अपने में फिर क्रांतिकारी महानता नहीं देख पाता, या नये संश्रयों से नयी स्फूर्ति प्राप्त करने में असमर्थ रहता है; अंततः सभी वर्ग, जिनके साथ जून में उसका मुक़ाबला हुआ था, स्वयं धराशायी होकर उसके पार्श्व में पहुंच जाते हैं। पर वह हारा तो कम से कम महान् विश्व-ऐतिहासिक संघर्ष के सम्मान से मण्डित होकर हारा, केवल फ़्रांस ही नहीं वरन् पूरा यूरोप जून के भूकम्प से कांप उठा। इसके विपरीत, ऊपरी वर्गों की इसके बाद आनेवाली हारों में इतना कम मोल चुकाया गया था कि बिना विजयी पक्ष की निर्लज्ज ढिंढोरेबाज़ी के उन्हें घटनाओं का भी नाम नहीं दिया जा सकता; पराजित पार्टी सर्वहारा पार्टी से जितनी ही अधिक दूर थी, उतनी ही अधिक अपमानपूर्ण उसकी हार हुई।

इसमें संदेह नहीं कि जून के बाग़ियों की हार ने वह ज़मीन तैयार और चौरस कर दी थी जिस पर पूंजीवादी जनतंत्र की नींव डाली जा सकती थी और उसका निर्माण किया जा सकता था, पर साथ ही उसने यह भी दिखा दिया था कि यूरोप के सामने जो सवाल है वह यह नहीं है कि "जनतंत्र हो या राजतंत्र रहे" वरन् कुछ और ही है। उसने यह प्रगट किया था कि पूंजीवादी जनतंत्र का यहां अर्थ है, एक वर्ग का अन्य वर्गों पर अबाध स्वेच्छाचारी शासन। उसने सिद्ध किया था कि पुरानी सभ्यता वाले देशों में, जहां वर्गों का गठन विकसित अवस्था में है, उत्पादन की आधुनिक अवस्थाएं विद्यमान हैं और जहां बौद्धिक चेतना ऐसी है जिसमें शताब्दियों के कार्य के फलस्वरूप सभी परम्परागत धारणाएं घुल गयी हैं, जनतंत्र का अर्थ सामान्यतः पूंजीवादी समाज की क्रांति का राजनीतिक रूप मात्र होता है, उसके जीवन का रूढ़िगत रूप नहीं, जैसा कि, मसलन्, उत्तर अमरीका के संयुक्त राज्यों में है, जहां वर्ग यद्यपि अस्तित्व में आ गये हैं पर वे अभी स्थिर नहीं हुए

हैं वरन् अपने सतत प्रवहमान तत्त्वों का निरंतर परिवर्तन और अंतर्विनिमय कर रहे हैं, जहां उत्पादन के आधुनिक साधन स्थिर, अप्रवहमान फ़ालतू आवादी के साथ साथ होने के बदले, हाथों और मस्तकों के आपेक्षिक अभाव की पूर्ति करते हैं, और अंतिम बात यह कि जहां भौतिक उत्पादन, जिसे एक नई दुनिया को अपना बनाना है, की प्रचंड, युवावस्था जैसी गति ऐसी है कि पुराने प्रेत-जगत् का उन्मूलन करने का न तो समय है और न अवसर।

जून के दिनों में सभी वर्ग और पार्टियां सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध, जिसे वे **अराजकता की**, समाजवाद की, कम्युनिज़्म की **पार्टी** समझती थीं, **अमन की पार्टी** में संयुक्त हो गयी थीं। उन्होंने "**समाज के शत्रुओं**" से समाज को "बचाया" था। अपनी सेना को उन्होंने बताया था कि पुराने समाज का मूल-मन्त्र "**सम्पत्ति, परिवार, धर्म और व्यवस्था**" शत्रु-मित्र की पहचान बतानेवाला उसका संकेत-शब्द होगा; तथा क्रांति-विरोधी धर्मयुद्ध के योद्धाओं के बीच घोषणा की थी: "यह सलीब तुमको जितायेगा!"[60] उस समय से ऐसा हुआ कि उन बहुत सी पार्टियों में से, जो जून के बाग़ियों के ख़िलाफ़ इस झण्डे के नीचे इकट्ठा हुई थीं, जब भी कोई पार्टी स्वयं अपने वर्ग-हित के लिए क्रांतिकारी रणक्षेत्र में आने का प्रयत्न करती तो वह इस नारे—"सम्पत्ति, परिवार, धर्म और व्यवस्था!"—के सम्मुख धराशायी हो जाती थी। समाज का उतनी ही बार उद्धार होता है जितनी बार उसके शासकों का मण्डल संकुचित होता है, जितनी बार उसके अधिक विस्तृत हितों के विरुद्ध अधिक संकीर्ण हित बरक़रार रखे जाते हैं। मामूली से मामूली पूंजीवादी वित्तीय सुधार की, साधारणतम उदारतावाद की, औपचारिक से औपचारिक जनतंत्रवाद की, उथले से उथले जनवाद की मांग को "समाज पर प्रहार" कहकर दण्डित और साथ ही "समाजवाद" कहकर लांछित किया जाता है। और अंततः "धर्म और व्यवस्था" के पण्डे स्वयं लात मारकर अपनी पिथियन तिपाइयों[61] से नीचे ढकेल दिये जाते हैं, रात के अंधेरे में वे अपनी चारपाइयों से घसीट लाये जाते हैं और जेल की गाड़ियों में भरकर काल-कोठरियों में बंद कर दिये जाते हैं अथवा निर्वासित कर दिये जाते हैं। उनका मंदिर ढहा दिया जाता है, उनकी ज़बानों पर ताले जड़ दिये जाते हैं, उनकी क़लमें तोड़ दी जाती हैं और उनके क़ानूनों की धज्जियां उड़ा दी जाती हैं। और यह सब धर्म, सम्पत्ति, परिवार और व्यवस्था के नाम पर! कट्टर व्यवस्था-पंथी पूंजीपति सड़कों पर शराब पीकर मटरगश्ती करनेवाले

सिपाहियों की टोलियों द्वारा अपने घरों के छज्जों पर गोली का निशाना बनाये जाते हैं। सिपाही उनके घरों में घुसकर निभृत कक्षों को भी रौंद डालते हैं, उनके घरों पर मनोरंजन के लिए गोलियों की बौछार करते हैं। और यह सब सम्पत्ति, परिवार, धर्म और व्यवस्था के नाम पर! अंत में, पूंजीवादी समाज के निकृष्टतम लोग **"व्यवस्था का पवित्र व्यूह"** क़ायम करते हैं और सूरमा क्रापुलिन्स्की* **"समाज का उद्धारक"** बनकर तूलरी** में आसीन हो जाता है।

२

आइये, घटनाक्रम पर एक बार फिर दृष्टिपात करें।

जून की घटनाओं के बाद से **राष्ट्रीय संविधान सभा** का इतिहास **पूंजीपति वर्ग के जनतंत्रवादी गुट के प्रभुत्व और विघटन का इतिहास** है। यह उस गुट के प्रभुत्व और विघटन का इतिहास है जिसे तिरंगा जनतंत्रवादी, विशुद्ध जनतंत्रवादी, राजनीतिक जनतंत्रवादी, औपचारिक जनतंत्रवादी, आदि नामों से पुकारते हैं।

लूई फ़िलिप के पूंजीवादी राजतंत्र के दिनों में यही गुट **अधिकृत** जनतंत्रवादी **विरोध दल** था, और इसलिए उस समय के राजनीतिक जगत् का एक माना हुआ अंशभूत भाग था। सदनों में उसके प्रतिनिधि थे तथा अख़बारी दुनिया में उसका एक बहुत बड़ा प्रभाव-क्षेत्र था। उसका पेरिस का मुखपत्र *«National»*[62], अपने ढंग का, उतना ही सम्भ्रांत पत्र माना जाता था जितना *«Journal des Débats»*[63]। वैधानिक राजतंत्र के अंतर्गत उसका स्वरूप इस स्थिति के अनुरूप था। यह पूंजीपति वर्ग का कोई ऐसा गुट न था जो किन्हीं महत्त्वपूर्ण समान स्वार्थों के आधार पर एकताबद्ध हो और उत्पादन की विशेष अवस्थाओं द्वारा दूसरों से पृथक् किया गया हो। यह जनतांत्रिक विचारों वाले पूंजीपतियों, लेखकों, वकीलों, फ़ौजी और सरकारी अफ़सरों का एक संकीर्ण गुट था जिसके प्रभाव का कारण लूई फ़िलिप के विरुद्ध लोगों की वैयक्तिक नाराज़ी, पुराने जनतंत्र की

---

* लूई बोनापार्त। – सं०

** तूलरी (Tuileries) – पेरिस का एक पुराना शाही महल, जो उस समय फ़्रांसीसी सरकार के प्रधान का निवास-स्थल था। – सं०

स्मृतियां, अनेक उत्साही जनों का जनतांत्रिक विश्वास, पर सबसे अधिक फ़्रांसीसी राष्ट्रवाद था जिसकी वियेना संधियों[64] और इंगलैंड के साथ गठवन्धन के प्रति घृणा को यह गुट लगातार उभाड़ा करता था। लूई फ़िलिप के समय में «National» की नीति पर जो लोग चला करते थे, उनका एक बड़ा भाग इस छिपे हुए साम्राज्यवाद के कारण उसकी ओर आकर्षित हुआ था, और फलतः वही जनतंत्र काल में लूई बोनापार्त के रूप में स्वयं «National» का एक ख़तरनाक प्रतियोगी बनकर सामने आकर खड़ा हो सकता था। सभी पूंजीवादी विरोधी दलों की भांति «National» के गुट ने भी वित्तीय महाप्रभुओं से संघर्ष किया। बजट की तीव्र आलोचना द्वारा, जिसका उन दिनों फ़्रांस में वित्तीय महाप्रभुओं के विरुद्ध संघर्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध था, इतनी आसानी से लोकप्रियता तथा शुद्धाचारवादी leading articles (अग्रलेखों) के लिए प्रचुर सामग्री प्राप्त होती थी, कि इस अस्त्र का इस्तेमाल न करना असंभव था। औद्योगिक पूंजीपति उसके इसलिए आभारी थे कि वह फ़्रांस की संरक्षण-प्रणाली की आंख मूंद कर हिमायत करता था, यद्यपि संरक्षण को वह राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के ख़याल से उतना नहीं जितना राष्ट्रवाद की भावना से प्रेरित होकर मानता था। समस्त पूंजीपति वर्ग उसका इसलिए आभारी था कि वह कम्युनिज़्म और समाजवाद को पानी पी-पी कर गालियां देता था। किन्तु इन बातों को छोड़ दें तो, «National» की पार्टी विशुद्ध जनतंत्रवादी पार्टी थी, अर्थात् वह पूंजीवादी शासन के राजतांत्रिक रूप की नहीं वरन् जनतांत्रिक रूप की मांग करती थी और सर्वोपरि यह मांग करती थी कि इस शासन में मुख्य साझा उसी का हो। राजनीतिक शासन के जनतांत्रिक शासन में इस रूपांतरण की शर्तें क्या होंगी, इसके सम्बन्ध में उसका दिमाग़ ख़ुद क़तई साफ़ न था। दूसरी ओर जो चीज़ उसके लिए एकदम साफ़ थी और जिसे लूई फ़िलिप के शासन के अंतिम दिनों के सुधार-आन्दोलन के प्रीतिभोजों में सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया गया था, वह थी जनवादी निम्न-पूंजीपतियों के तथा ख़ासकर क्रांतिकारी सर्वहारा के बीच उसकी अलोकप्रियता। ये विशुद्ध जनतंत्रवादी, जैसा कि वस्तुतः सभी विशुद्ध जनतंत्रवादियों का क़ायदा है, प्रथमतः आर्लियां की डचेस की रीजेन्सी पर संतोष करने जा ही रहे थे, कि इतने में फ़रवरी क्रांति भड़क उठी और उसने इनके सबसे मशहूर प्रतिनिधियों को अस्थायी सरकार में गद्दीनशीं कर दिया। इन जनतंत्रवादियों को आरम्भ से ही स्वभावतः पूंजीपति

वर्ग का विश्वास तथा संविधान सभा में वहुमत प्राप्त था। राष्ट्रीय सभा ने अपनी बैठक होने पर जो कार्यकारी आयोग बनाया था उससे अस्थायी सरकार के **समाजवादी** तत्त्व उसी समय बाहर रखे गये थे। *«National»* की पार्टी ने जून की बग़ावत से लाभ उठाकर कार्यकारी आयोग को भी वर्ख़ास्त कर दिया और इस प्रकार अपने निकटतम प्रतियोगी, **निम्न-पूंजीवादी** अथवा जनवादी **जनतंत्रवादियों** (लेद्रू-रोलें, आदि) से छुटकारा पा लिया। पूंजीवादी-जनतंत्रवादी पार्टी के जनरल कैवेन्याक ने, जिसकी कमान में जून का क़त्ले आम हुआ था, कार्यकारी आयोग का स्थान ग्रहण कर एक प्रकार से अपना एकाधिपत्य स्थापित किया। *«National»* का भूतपूर्व प्रधान सम्पादक मारास्त राष्ट्रीय संविधान सभा का एक प्रकार से स्थायी अध्यक्ष बन गया तथा मंत्रालय और अन्य सभी महत्त्वपूर्ण पद विशुद्ध जनतंत्र-वादियों के हाथों में आ गये।

इस प्रकार, जनतांत्रिक पूंजीवादी गुट की, जो बहुत दिनों से अपने को जुलाई राजतंत्र का वैध उत्तराधिकारी माने हुए था, गहनतम आकांक्षाएं आशातीत रूप में पूर्ण हुईं। किन्तु जैसी कि लूई फ़िलिप के ज़माने में उसकी उत्कट मनोकांक्षा थी, कि वह राज-सिंहासन के विरुद्ध पूंजीपति वर्ग के उदारतावादी विद्रोह द्वारा सत्ता प्राप्त करे, वैसी बात नहीं हुई, वरन् उसे पूंजी के विरुद्ध सर्वहारा के विद्रोह द्वारा, जिसे गोलियों की बौछार द्वारा दबाया गया था, सत्ता प्राप्त हुई। जिसे उसने अपने मस्तिष्क में **सबसे क्रांतिकारी** घटना के रूप में चित्रित किया था, वह वस्तुतः सबसे **प्रतिक्रांतिकारी** घटना सिद्ध हुई। फल उसके हाथ में आ टपका ज़रूर, पर वह ज्ञान-वृक्ष से टपक पड़ा था, जीवन-वृक्ष से नहीं।

पूंजीवादी जनतंत्रवादियों का पूर्ण शासन केवल २४ जून से १० दिसम्बर १८४८ तक चला। उसकी सम्पूर्ण उपलब्धि थी, एक **जनतंत्रवादी संविधान का मसविदा तैयार करना और पेरिस में घेरे की स्थिति क़ायम रखना।**

नया **संविधान** मूलतः १८३० के संविधानी चार्टर[65] का जनतंत्रीकृत संस्करण मात्र था। जुलाई राजतंत्र के समय की संकीर्ण मताधिकार-योग्यता, जो पूंजीपति वर्ग के एक बड़े भाग को भी राजनीतिक शासन से वंचित कर देती थी, पूंजीवादी जनतंत्र के अस्तित्व के साथ मेल नहीं खाती थी। फ़रवरी क्रांति ने उस मताधिकार-योग्यता के स्थान पर प्रत्यक्ष सर्व-मताधिकार की तत्काल घोषणा की थी। पूंजीवादी जनतंत्रवादी इस किये को अनकिया नहीं

कर सकते थे। उन्हें निर्वाचनक्षेत्र में छः महीने के निवास की पाबन्दी लगाकर ही संतोष कर लेना पड़ा। प्रशासन की पुरानी व्यवस्था, नगरपालिका की प्रणाली, न्याय-व्यवस्था और सेना आदि का पुराना संगठन अक्षुण्ण रहने दिया गया, अथवा, यदि संविधान ने उसमें कहीं परिवर्तन किया भी तो यह परिवर्तन विषय-सूची तक ही सीमित था, वह विषय को नहीं छूता था; केवल नाम वदला गया था न कि विषयवस्तु।

१८४८ के स्वातंत्र्यों में जो निश्चय ही सर्वोच्च थे जैसे व्यक्तिस्वातंत्र्य, प्रेस, वाक्, संघ तथा सभा स्वातंत्र्य, शिक्षा और धर्म स्वातंत्र्य आदि, उन्हें संविधानी लिबास पहनाया गया, जिसके कारण वे उल्लंघ्य न रह गये। इनमें से प्रत्येक स्वातंत्र्य फ़्रांसीसी नागरिक का **पूर्ण** अधिकार घोषित किया गया परन्तु साथ ही, हाशिये में, यह टिप्पणी लगाकर कि यह अधिकार उसी सीमा तक प्राप्त रहेगा जहां तक यह "**अन्य लोगों के समान अधिकार तथा जन-सुरक्षा**" अथवा उन "क़ानूनों" द्वारा परिसीमित नहीं होता जिनका उद्देश्य इन अलग-अलग स्वातंत्र्यों में तथा इनमें और जन-सुरक्षा में तालमेल वनाये रखना है। उदाहरणार्थ, "नागरिकों को संघवद्ध होने, शांतिपूर्ण तथा विना हथियार के सभा करने, आवेदन करने तथा अपने मतों को समाचारपत्रों में या अन्य प्रकार से व्यक्त करने का अधिकार प्राप्त है। **इन अधिकारों के उपभोग पर अन्य लोगों के समान अधिकारों तथा जन-सुरक्षा को छोड़कर और कोई बन्धन नहीं है।**" (फ़्रांस के संविधान का दूसरा अध्याय, धारा ८।)—"शिक्षा पर कोई रोक नहीं है। शिक्षा-स्वातंत्र्य का **उपभोग क़ानून द्वारा निर्धारित अवस्थाओं के तथा राज्य के सर्वोच्च नियंत्रण के अंतर्गत किया जायेगा।**" (संविधान का वही अध्याय, धारा ९।) —"प्रत्येक नागरिक का घर, क़ानून द्वारा विहित रूपों के अतिरिक्त, **अनतिक्रमणीय** है।" (अध्याय २, धारा ३।) आदि, आदि। इस प्रकार संविधान में वरावर उन भावी **संघटनात्मक** क़ानूनों का ज़िक्र है जो हाशिये में लिखी उन टिप्पणियों को कार्य रूप देंगे और इन असीमित स्वातंत्र्यों के उपभोग का इस ढंग से नियमन करेंगे कि वे आपस में या जन-सुरक्षा के साथ नहीं टकरायेंगे। वाद में शांति और सुव्यवस्था के पक्षधरों ने ये संघटनात्मक क़ानून तैयार किये और इन सभी स्वातंत्र्यों का इस ढंग से नियमन किया कि इनका उपभोग करने में पूंजीपति वर्ग को अन्य वर्गों के समान अधिकारों से कोई बाधा नहीं पड़ती है। जहां यह इन स्वातंत्र्यों का "अन्य लोगों" के

लिए पूर्ण निषेध कर देता है या केवल ऐसी शर्तों के साथ इनका उपभोग करने की अनुमति देता है जो महज़ पुलिस के फंदे हैं, वहां यह संविधान द्वारा विहित रूप में सदा केवल "जन-सुरक्षा" के हित में, यानी पूंजीपति वर्ग की सुरक्षा के हित में किया जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों ही पक्ष—अमन की पार्टी के पक्षधर, जिन्होंने इन सभी स्वातंत्र्यों को मंसूख़ किया, और जनवादी, जिन्होंने इन सबके सब स्वातंत्र्यों की मांग की—बिलकुल वाजिब तौर पर संविधान की दुहाई देने लगे थे। संविधान के हर पैरा में अपनी ही काट मौजूद है, उसके अंदर अपने उपरि और अवर सदन हैं, अर्थात् एक आम शब्दावली है जिसमें स्वातंत्र्य लिखा है और एक हाशिये का नोट है जिसमें स्वातंत्र्य की मंसूख़ी लिखी हुई है। अतः जब तक स्वतंत्रता के नाम का आदर किया जाता रहा और केवल उसका चरितार्थ होना रोका जाता रहा—बेशक यह काम क़ानूनी तरीक़े से किया जाता था—तब तक स्वातंत्र्य का वैधानिक अस्तित्व अनतिक्रम्य और यथावत रहा, भले ही वास्तविक जीवन में उसके ऊपर घातक से घातक प्रहार किये गये।

किंतु यह संविधान, जिसे इतनी चतुरता के साथ अनतिक्रमणीय बनाया गया था, एकिलीज़ की एड़ी की तरह, एक स्थल पर भेद्य था। वह जगह एड़ी न थी, बल्कि मस्तक था, या यूं कहें कि दो मस्तक थे जिन में संविधान की परिणति हुई थी—एक मस्तक था विधान सभा और दूसरा था राष्ट्रपति। संविधान को देख जाइए, आप पायेंगे कि उसके केवल वे अनुच्छेद परम, सुनिश्चित, विरोधाभासरहित और विकृति के अयोग्य हैं, जिनमें राष्ट्रपति और विधान सभा के सम्बन्ध की परिभाषा की गयी है। इसका कारण यह है कि यहां सवाल पूंजीवादी जनतंत्रवादियों की अपनी हिफ़ाज़त का था। संविधान की धारा ४५ से धारा ७० तक की धाराओं को इस प्रकार सूत्रबद्ध किया गया है कि विधान सभा राष्ट्रपति को वैधानिक रूप से पदच्युत कर सकती है पर राष्ट्रपति विधान सभा को केवल अवैधानिक रूप में ही, स्वयं संविधान को परे करके ही, भंग कर सकता है। अतः संविधान का यह स्थल उसे बलात् भंग करने की एक चुनौती है। वह १८३० के चार्टर की ही भांति, न केवल सत्ता-विभाजन को प्रतिष्ठित करता है, अपितु उसे एक असह्य अन्तर्विरोध के रूप में एक और भी व्यापक रूप देता है। वैधानिक शक्तियों का खेल, जैसा कि गीज़ो ने विधायी और कार्यकारी सत्ताओं के संसदीय झगड़े के बारे में एक बार कहा था, १८४८ के संविधान में

लगातार, सब कुछ दांव पर लगाकर, खेला जाता है। एक ओर जनता के साढ़े सात सौ प्रतिनिधि हैं जो सर्वमताधिकार के आधार पर चुने गये हैं और फिर चुनाव में खड़े हो सकते हैं। वे एक राष्ट्रीय सभा गठित करते हैं जो नियंत्रित नहीं की जा सकती, भंग नहीं की जा सकती और विभाजित नहीं की जा सकती। वह ऐसी राष्ट्रीय सभा है जो क़ानून बनाने के मामले में सर्व-शक्तिमान् है, जो युद्ध, शांति और वाणिज्य संधियों के सम्बन्ध में अंतिम निर्णय करती है, जो क्षमादान के अधिकार की एकमात्र स्वामिनी है और जो अपने स्थायित्व द्वारा राजनीतिक रंगमंच पर सदा सबसे आगे रहती है। दूसरी तरफ़ राष्ट्रपति है, जो राजसी सत्ता के सभी लक्षणों से विभूषित है, जो राष्ट्रीय सभा से स्वतंत्र रूप में अपने मंत्रियों को नियुक्त और बर्ख़ास्त करने का अधिकार रखता है, जिसके हाथों में कार्यकारी सत्ता के सभी साधन हैं, जो सभी नियुक्तियां करता है और इस प्रकार, जिसके हाथों में फ़्रांस में कम से कम पन्द्रह लाख लोगों की आजीविका है, क्योंकि देश के पांच लाख सरकारी कर्मचारियों और सभी श्रेणी के पदाधिकारियों के ऊपर इतने लोग आश्रित हैं। पूरी सेना उसके इशारे पर चलती है। उसे अपराधी व्यक्तियों को क्षमादान देने, राष्ट्रीय गार्ड वालों को मुअत्तल करने, स्वयं नागरिकों द्वारा निर्वाचित साधारण, कैन्टन और नगर परिषदों को, राज्य परिषद की सहमति से, बर्ख़ास्त करने का विशेषाधिकार प्राप्त है। अन्य देशों के साथ की जानेवाली सभी संधियों में पेशक़दमी करने और निर्देशन करने का उसका अधिकार आरक्षित है। जब कि राष्ट्रीय सभा को निरंतर दर्शकों के समक्ष रंगमंच पर अपनी भूमिका अदा करनी पड़ती है और प्रतिदिन सार्वजनिक रूप से की जानेवाली आलोचना का सामना करना पड़ता है, राष्ट्रपति एलीज़े में,[66] जनता की आंखों से दूर, निवास करता है और संविधान की धारा ४५ सदा उसकी आंखों के सामने हमेशा नाचती रहती है और उसके मन से क्षण भर के लिए भी नहीं उतरती और उससे रोज पुकार-पुकारकर कहती है: «Frère, il faut mourir!»* आपकी सत्ता आपके निर्वाचन के बाद चौथे वर्ष के सुंदर मई मास के द्वितीय रविवार को समाप्त हो जायेगी! तब आपके गौरव का अंत हो जायेगा, यह खेल दुबारा खेलने को नहीं मिलेगा, और यदि आपको क़र्ज़ उतारना है तो चेतकर, समय रहते, उसे उन छ: लाख फ़्रैन्कों से उतार

* "मेरे भाई, तुम मौत से नहीं बच सकते!" —सं०

डालिये जो संविधान द्वारा आप को मिले हुए हैं; हां यदि सुन्दर मई मास के द्वितीय सोमवार को आप को क्लीशी[67] जाना ही पसंद हो, तो बात दूसरी है! इस प्रकार संविधान जहां वास्तविक सत्ता राष्ट्रपति के हाथों में देता हैं, वहां राष्ट्रीय सभा को नैतिक सत्ता प्रदान करने का प्रयास करता है। इसके अलावा कि क़ानून के अनुच्छेदों द्वारा नैतिक सत्ता की सृष्टि नहीं की जा सकती, यह उल्लेखनीय है कि संविधान सभी फ़्रांसीसियों द्वारा राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष निर्वाचन कराकर एक बार फिर स्वयं अपना ही निषेध करता है। फ़्रांस के सारे वोट एक ओर राष्ट्रीय सभा के साढ़े सात सौ प्रतिनिधियों में बंटते हैं और दूसरी ओर वे एक ही व्यक्ति में संकेन्द्रित होते हैं। जब कि जनता का हर अलग-अलग प्रतिनिधि केवल इस या उस पार्टी का, इस या उस नगर का, इस या उस सीमांत स्थित चौकी का प्रतिनिधित्व करता है, और कभी-कभी तो केवल इस आवश्यकता का प्रतिनिधित्व करता है कि साढ़े सात सौ में से किसी एक को चुनना ही है, और ऐसी हालत में न उम्मीदवार के व्यक्तित्व की और न उस ध्येय की, जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, जांच की जाती है, तो दूसरी ओर, राष्ट्रपति संपूर्ण राष्ट्र द्वारा चुना गया व्यक्ति होता है और उसे चुनने का कार्य तुरुप का वह पत्ता है जिसे सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न जनता प्रत्येक चार वर्ष में एक बार फेंकती है। निर्वाचित राष्ट्रीय सभा का राष्ट्र के साथ अमूर्त्त सम्बन्ध होता है, पर राष्ट्रपति का मूर्त्त, व्यक्तिगत सम्बन्ध होता है। राष्ट्रीय सभा, वस्तुतः, अपने अलग-अलग प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय आत्मा के नाना पहलुओं को प्रदर्शित करती है, किन्तु राष्ट्रपति में यह राष्ट्रीय आत्मा स्वयं साकार होती है। राष्ट्रीय सभा के मुक़ाबले में उसे एक प्रकार का दिव्य अधिकार प्राप्त है, वह जनता के अनुग्रह से राष्ट्रपति बनता है।

सागर-देवी थीटिस ने एकिलीज़ के सम्मुख भविष्यवाणी की थी कि उसकी भरी जवानी में मौत होगी। संविधान को, जिसका एकिलीज़ की भांति एक विशेष मर्म-स्थल था, एकिलीज़ की ही भांति यह पूर्वाभास हुआ था कि उसकी मौत जल्द आनेवाली है। थीटिस को इस बात की ज़रूरत न थी कि वह सागर से बाहर निकलकर उन्हें इस रहस्य से अवगत करे, विधान बनानेवाले विशुद्ध जनतंत्रवादियों का अपने आदर्श जनतंत्र के उच्चाकाश से एक दृष्टि पार्थिव जगत् पर डाल लेना ही यह देखने के लिए पर्याप्त था कि जैसे-जैसे उसकी महान् विधायी कलाकृति पूरी होने को आ रही थी वैसे-वैसे

ही राजतंत्रवादियों, बोनापार्तपंथियों, जनवादियों और कम्युनिस्टों की उद्धतता तथा उनकी अपनी बदनामी बराबर, दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही थीं। उन्होंने संविधान में एक अर्गला लगाकर, उसकी धारा १११ के ज़रिये, नियति को ठगने का प्रयत्न किया, जिसके अनुसार संविधान में किसी संशोधन के लिए कम से कम तीन-चौथाई वोट, लगातार तीन बहसों में जिनके बीच एक पूरे मास का अंतर होना चाहिए, प्राप्त करना आवयश्क था और साथ ही यह अतिरिक्त उपबंध था कि राष्ट्रीय सभा के कम से कम पांच सौ सदस्य मतदान में भाग लें। ऐसा करके उन्होंने केवल यह अशक्त प्रयास किया कि संसद में अल्पमत में ही रह जाने के बाद भी—और वे अभी से अपने मानस-चक्षु से अपना यह भविष्य देख पा रहे थे—वे उस शक्ति का उपभोग करते रहें, जो इस समय, जब कि संसद में उनका बहुमत था और शासन-सत्ता के सभी साधन उनके हाथों में थे, दिनोंदिन उनके निर्बल हाथों से अधिकाधिक खिसकती जा रही थी।

अंत में संविधान ने, एक नाटकीय अनुच्छेद में, अपने को "समस्त फ़ांसीसी जनता और प्रत्येक फ़ांसीसी की जागरूकता और देशभक्ति" के हवाले किया। और यह उसने, इससे पहले के एक अन्य अनुच्छेद में, "जागरूक" और "देशभक्तिपूर्ण" जनों को अपने द्वारा इसी प्रयोजन के लिए आविष्कृत, हाईकोर्ट, «haute Cour», की कृपापूर्ण और उद्यमपूर्ण देख-रेख में छोड़ने के बाद किया।

ऐसा था १८४८ का संविधान जो २ दिसम्बर १८५१ को उलट दिया गया, लेकिन किसी के सिर के ज़ोर से नहीं, वह तो एक हैट के स्पर्श मात्र से धराशायी हो गया। हां, वह हैट तिकोना नेपोलियनी हैट ज़रूर था।

जिस समय राष्ट्रीय सभा के अंदर पूंजीवादी जनतंत्रवादी इस संविधान को बनाने, उस पर विचार-विमर्श करने और मतदान देने में व्यस्त थे, उसी समय राष्ट्रीय सभा के बाहर कैवेन्याक पेरिस में घेरे की स्थिति बरक़रार रखे हुए था। यह घेरे की स्थिति जनतन्त्र को जन्म देने में संविधान सभा की धात्री थी। यदि संविधान की जीवन-लीला बाद में संगीनों से समाप्त कर दी गयी, तो इसे न भूलना चाहिए कि संगीनों के ही ज़ोर से—जनता की ओर तनी हुई संगीनों के ज़ोर से—मां के गर्भ में उसकी रक्षा करनी पड़ी थी और संगीनों के ज़ोर से ही उसका जन्म कराया गया था। "सम्भ्रान्त जनतंत्रवादियों" के पूर्वजों ने अपने प्रतीक, तिरंगे झंडे को[68] यूरोप

के दौरे पर भेजा था और स्वयं उन्होंने एक ऐसे आविष्कार को जन्म दिया जिसने अपने-आप पूरे यूरोप का चक्कर लगाया, और सदा अभिनव प्रेमभावना लेकर फ़्रांस लौटा। यहां तक कि वह अब फ़्रांस के आधे ज़िलों में अंगीकृत पद्धति बन गया है। वह आविष्कार है—घेरे की स्थिति। यह एक शानदार ईजाद है, जिसका फ़्रांसीसी क्रांति के प्रक्रम में उपस्थित होनेवाले हर संकट में समय-समय पर इस्तेमाल किया गया। किन्तु इस प्रकार समय-समय फ़ौजी बारिक और पड़ाव का दबाव समाज के मस्तिष्क पर डालकर उसे ठंडा कर देना; इस प्रकार तलवार और बंदूक़ को समय-समय पर न्यायाधीश और प्रशासक, अभिभावक और सेंसर बनने देना, उन्हें पुलिसमैन और रात के संतरी का काम करने देना; इस प्रकार फ़ौजी मूंछ और फ़ौजी वर्दी को समय-समय पर, ढिंढोरा पीटकर, समाज की सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता एवं समाज का उपदेष्टा घोषित करना—यह सब करने के बाद क्या अंत में यह लाज़िमी न था कि फ़ौजी बारिक और पड़ाव, तलवार और बंदूक़, मूंछ और वर्दी को एक दिन यह सूझ पैदा होती कि क्यों न अपने शासन को सर्वोच्च घोषित करके एक ही बार समाज का उद्धार कर दिया जाये तथा नागरिक समाज को अपना शासन आप करने की चिंता से सब दिनों के लिए मुक्त कर दिया जाये? फ़ौजी बारिक और पड़ाव, तलवार और बंदूक़, मूंछ और वर्दी को यह सूझ आना और भी लाज़िमी इसलिए था कि ऐसी हालत में, अपनी उच्चतर सेवाओं के लिए, उन्हें अधिक नगद-नारायण की प्राप्ति की आशा हो सकती थी, जब कि केवल समय-समय पर घेरे की स्थिति घोषित किये जाने और इस या उस पूंजीवादी गुट के हुक्म पर समाज की रक्षा के लिए अस्थायी रूप से बुलाये जाने में सिवा इसके कि उनमें से कुछ मारे जाते हैं और कुछ घायल होते हैं और कुछ पूंजीपति दोस्ताना अन्दाज़ से पेश आते हैं, अन्य किसी सारपूर्ण वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। क्या यह लाज़िमी न था कि एक दिन सैनिक स्वयं, अपने हित के लिए, अपने लाभार्थ, घेरे की स्थिति का खेल खेलते, और लगे हाथ नागरिकों की थैलियों पर भी घेरा डाल देते? इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि सैनिक आयोग का अध्यक्ष कर्नल बेर्नार, जिसने कैवेन्याक की मातहती में १५,००० बाग़ियों को बिना मुक़दमा चलाये निर्वासित किया था, फिर उन सैनिक आयोगों का अध्यक्ष है जो आज पेरिस में सरगर्मी से काम कर रहे हैं।

जहां "सम्भ्रांत" विशुद्ध जनतंत्रवादियों ने पेरिस में घेरे की स्थिति

क़ायम करके वह शिशुशाला स्थापित की, जिसमें २ दिसम्बर १८५१ के प्रीटोरियन[69] पलनेवाले थे, वहीं उनकी इस बात के लिए प्रशंसा करनी पड़ेगी कि लूई फ़िलिप के शासनकाल की तरह राष्ट्रीय भावना को अतिरंजित करने के बजाय, अब, जब राष्ट्रीय सत्ता उनके हाथ में थी, वे अन्य देशों के समक्ष घुटनों के बल रेंग रहे थे और इटली को आज़ाद करने के बदले उन्होंने उसे आस्ट्रियनों और नियापोलिटनों द्वारा[70] पुनर्विजित होने दिया। १० दिसम्बर १८४८ को लूई बोनापार्त के राष्ट्रपति पद पर निर्वाचन ने कैवेन्याक के एकाधिपत्य का और संविधान सभा का अन्त कर दिया।

संविधान की धारा ४४ में कहा गया है: "फ़्रांसीसी जनतंत्र का राष्ट्रपति वही व्यक्ति हो सकता है जिसने फ़्रांसीसी नागरिक की अपनी हैसियत को हमेशा बरक़रार रखा हो।" फ़्रांसीसी जनतंत्र का प्रथम राष्ट्रपति लूई नेपोलियन बोनापार्त केवल फ़्रांसीसी नागरिक की अपनी हैसियत ही नहीं खो चुका था, वह एक अंग्रेज कोतवाल ही नहीं रहा था, अपितु स्विट्ज़रलैंड का देशीयकृत नागरिक भी था।[71]

मैंने अन्यत्र १० दिसम्बर के निर्वाचन का विश्लेषण किया है।* यहां मैं फिर उसे नहीं दुहराऊंगा। यहां इतना ही कह देना काफ़ी होगा कि यह बाक़ी वर्गों के विरुद्ध किसानों की, जिन्हें फ़रवरी क्रांति का व्यय वहन करना पड़ा था, प्रतिक्रिया थी; यह नगर के विरुद्ध देहात की प्रतिक्रिया थी। सेना ने इसकी तहेदिल से ताईद की, क्योंकि «*National*» के जनतंत्रवादियों ने उसे न गौरव दिया था और न वेतनवृद्धि। बड़े पूंजीपतियों ने इसकी ताईद की; उन्होंने राजतंत्र की स्थापना के लिए एक चौकी के रूप में बोनापार्त का स्वागत किया। सर्वहारा और निम्न-पूंजीपतियों ने इसकी ताईद की, उन्होंने बोनोपार्त का स्वागत कैवेन्याक के लिए एक दण्ड के रूप में किया। फ़्रांसीसी क्रांति के साथ किसानों के सम्बन्ध के विषय में अधिक विशद विवेचना करने का मेरे लिए आगे अवसर आयेगा।

२० दिसम्बर १८४८ से मई १८४९ तक का काल, जब संविधान सभा भंग हुई, पूंजीवादी जनतंत्रवादियों के पतन के इतिहास का काल है। पूंजीपतियों के लिए एक जनतंत्र की संस्थापना करने, क्रांतिकारी सर्वहारा को मैदान से खदेड़ देने और जनवादी निम्न-पूंजीपतियों को फ़िलहाल ख़ामोश कर

---

*का० मार्क्स, 'फ्रांस में वर्ग-संघर्ष, १८४८-१८५०'। —सं०

देने के वाद, वे ख़ुद पूंजीवादी समुदाय द्वारा, जिसने विलकुल उचित ही इस जनतंत्र को अपनी जायदाद मानकर इस पर क़ब्ज़ा जमा लिया, ढकेलकर किनारे कर दिये गये। किन्तु यह पूंजीवादी समुदाय राजतंत्रवादी था। उसके एक भाग – वड़े भूस्वामियों – ने पुनःस्थापना के ज़माने में राज किया था और इसलिए वह लेजिटिमिस्ट था। दूसरे हिस्से – वित्तीय महाप्रभुओं और बड़े उद्योगपतियों – ने जुलाई राजतंत्र के ज़माने में राज किया था, अतः वह आर्लिंयानिस्ट[72] था। सेना, विश्वविद्यालय, चर्च, वकालत पेशे, अकादमी तथा अख़वारों के उच्चपदस्थ व्यक्ति दोनों पक्षों में पाये जाते थे, यद्यपि अनुपात भिन्न-भिन्न थे। यहां पूंजीवादी जनतंत्र में, जिस पर न बूर्बों नाम की मुहर थी न आर्लियां की अपितु जिस पर पूंजी की मुहर थी, उन्हें राज्य का वह रूप उपलब्ध हो गया था जिसमें वे मिलकर राज कर सकते थे। जून की बग़ावत ने उन्हें पहले ही "अमन की पार्टी"[73] में एकताबद्ध कर दिया था। अव, पूंजीवादी जनतंत्रवादियों के उस संकीर्ण गुट को हटाना आवश्यक था जो राष्ट्रीय सभा की सीटों पर अव भी विराजमान था। ये विशुद्ध जनतंत्रवादी जनता के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करते समय जितने निष्ठुर और निर्मम थे, उतने ही वे अब – जब उन्हें पीछे हटना पड़ रहा था और सवाल कार्यकारी सत्ता और राजतंत्रवादियों के मुक़ाबले में अपने जनतंत्रवाद को और अपने विधायी अधिकारों को वरक़रार रखने का था – कायर, मृदुभाषी, भग्नहृदय और लड़ने के अयोग्य निकले। उनके विघटन का शर्मनाक इतिहास बयान करने की ज़रूरत नहीं है। उनका अस्तित्व छिना नहीं, वरन् उन्होंने अपने अस्तित्व से ख़ुद हाथ धो लिया। उनके इतिहास का सदा के लिए अंत हो गया, और परवर्त्ती काल में राष्ट्रीय सभा के अंदर या बाहर, दोनों ही जगह, वे केवल परछाइयों के रूप में रह गये जिन परछाइयों में जीवन का संचार केवल उस समय होता है जब जनतंत्र का कोरे औपचारिक रूप में प्रश्न उपस्थित होता है और जब क्रांतिकारी संघर्ष निम्नतम स्तर पर पहुंचने को होता है। चलते हुए हम यह बता दें कि वह अख़बार, अर्थात् *«National»*, जिसके नाम पर यह पार्टी नेशनल-पंथी कहलाई, परवर्त्ती काल में समाजवाद का हामी बन गया।

इस काल की विवेचना समाप्त करने से पहले हमें फिर उन दो शक्तियों का पीछे मुड़कर सिंहावलोकन कर लेना चाहिए जिनमें से एक ने दूसरी को २ दिसम्बर १८५१ को समाप्त कर दिया, जब कि २० दिसम्बर १८४८ से संविधान सभा के विदा होने तक उनका चोली-

दामन का साथ था। हमारा तात्पर्य एक ओर लूई बोनापार्त और दूसरी ओर संयुक्त राजतंत्रवादियों, यानी अमन की पार्टी, बड़े पूंजीपतियों की पार्टी से है। राष्ट्रपति पद पर आसीन होने पर बोनापार्त ने तत्काल अमन की पार्टी का मंत्रिमण्डल बनाया, जिसका प्रधान उसने—ज़रा ग़ौर फ़रमाइये—संसदीय पूंजीपतियों के सबसे अधिक उदारतावादी गुट के पुराने नेता ओदिलां बारो को बनाया। बारो महोदय को आख़िरकार वह मंत्रिपद हासिल हुआ जिसका विचार १८३० से ही भूत की तरह उनके मन पर हावी था, और इससे भी बड़ी बात यह हुई कि वह मंत्रिमण्डल के प्रधान हो गये। किन्तु इस पद पर वह संसदीय विरोध-पक्ष के सबसे बड़े नेता के रूप में नहीं आये, जैसा कि वह लूई फ़िलिप के समय में कल्पना किया करते थे, वरन् संसद को मौत के घाट उतारने का परवाना लेकर और अपने तमाम जानी दुश्मनों, जेज़ुइटों और लेजिटिमिस्टों के संगी-संघाती बनकर आये। वह आख़िरकार दूल्हन को घर लाये, लेकिन तब जब वह भ्रष्ट की जा चुकी थी। बोनापार्त ने मानो अपने को मैदान से बिलकुल हटा लिया। यह पार्टी ही उसका काम कर रही थी।

मंत्रि-परिषद् की पहली ही बैठक ने फ़ैसला किया कि अभियान-सेना रोम भेजी जाये। इस सम्बन्ध में तय पाया कि यह काम राष्ट्रीय सभा के पीठ-पीछे करना होगा और इसके लिए साधन झूठे बहानों द्वारा हस्तगत करने होंगे। इस प्रकार श्रीगणेश राष्ट्रीय सभा को ठगने तथा विदेश की निरंकुश शक्तियों के साथ क्रांतिकारी रोमन जनतंत्र के विरुद्ध गुप्त षड्यंत्र द्वारा किया गया। बोनापार्त ने इसी तरीक़े से और इन्हीं हथकण्डों द्वारा शाहपरस्त विधान सभा और उसके वैधानिक जनतंत्र के विरुद्ध अपने २ दिसम्बर के राज्य-पर्युत्क्षेपण की तैयारी की। हमें यह न भूलना चाहिए कि जिस पार्टी ने २० दिसम्बर १८४८ को बोनापार्त का मंत्रिमण्डल गठित किया था, २ दिसम्बर १८५१ को उसी का राष्ट्रीय विधान सभा में बहुमत था।

अगस्त में संविधान सभा ने तय किया था कि वह संविधान के पूरक के रूप में संघटनात्मक क़ानूनों की एक पूरी माला तैयार और जारी करने के बाद ही अपने को भंग करेगी। ६ जनवरी १८४९ को अमन की पार्टी ने रातो नामक एक सदस्य द्वारा यह प्रस्ताव पेश कराया कि सभा संघटनात्मक क़ानूनों को छोड़ दे और स्वयं अपने को भंग करने का फ़ैसला करे। उस समय केवल मंत्रिमण्डल ने ही नहीं, जिसका प्रधान ओदिलां बारो था, वरन् राष्ट्रीय सभा के सभी राजतंत्रवादी सदस्यों ने धौंस जमाते हुए सभा से कहा कि उसका

भंग होना फिर से साख लौटाने के लिए, सुव्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए, अनिश्चित, अस्थायी वंदोवस्त का ख़ातमा करने के लिए और निश्चित प्रकार की स्थिति स्थापित करने के लिए आवश्यक है; कि वह नयी सरकार की सृजनात्मक क्रियाशीलता में बाधक हो रही है और केवल दुर्भावनापूर्ण हठ-वश अपना जीवन-काल वढ़ाना चाहती है, और यह कि देश उससे तंग आ चुका है। बोनापार्त ने विधायी सत्ता के विरुद्ध इन सारे अपशब्दों को गुना, इन्हें रट डाला और २ दिसम्बर १८५१ को उसने संसदीय राजतंत्रवादियों के सामने यह सिद्ध कर दिखाया कि उसने उनसे सबक़ हासिल किया था। उसने उनके विरुद्ध उन्हीं के नारों को दुहराया।

बारो मंत्रिमण्डल और अमन की पार्टी ने इससे भी आगे क़दम उठाया। उन्होंने फ़्रांस में सभी जगहों से राष्ट्रीय सभा के नाम अर्जियां भिजवानी शुरू कीं जिनमें वड़ी नरमी के साथ उस से कहा गया था कि वह वराय मेहरवानी अपने को विसर्जित कर ले। इस प्रकार उन्होंने असंगठित आम जनता को राष्ट्रीय सभा अर्थात् जनता की वैधानिक रूप से संगठित अभिव्यक्ति, के विरुद्ध घमासान युद्ध में उतारा। उन्होंने बोनापार्त को संसदीय सभाओं के विरुद्ध जनता से अपील करना सिखाया। आख़िरकार २९ जनवरी १८४९ को वह दिन आया जब संविधान सभा को स्वयं अपने विसर्जन के विषय में फ़ैसला करना था। उस दिन राष्ट्रीय सभा ने देखा कि जिस भवन में उसकी वैठकें होती थीं, उस पर फ़ौज ने क़ब्ज़ा कर लिया है; अमन की पार्टी के जनरल शांगार्नियें ने, जिसकी मातहती में राष्ट्रीय गार्ड की सर्वोच्च कमान और फ़ौजी दस्ते एकताबद्ध कर दिये गये थे, पेरिस में एक वड़ा सैनिक प्रदर्शन कराया, मानों कोई बड़ा युद्ध छिड़नेवाला हो, और संश्रयी राजतंत्रवादियों ने संविधान सभा को धमकाया कि यदि उसने अनिच्छा दिखायी तो ज़ोर-ज़वरदस्ती से काम लिया जायेगा। पर वह राज़ी थी, और उसे बस एक अल्प अतिरिक्त अवधि मिल गयी, जिसके लिए उसने मोल-तोल किया था। २९ जनवरी की घटना वही चीज़ थी जो २ दिसम्बर १८५१ का coup d'état* था; फ़र्क़ इतना ही था कि यह पर्युत्क्षेपण राजतंत्रवादियों ने, बोनापार्त के साथ मिलकर, जनतंत्रवादी राष्ट्रीय सभा के विरुद्ध सम्पन्न किया था। इन महानुभावों ने यह नहीं

* राज्य-पर्युत्क्षेपण। – सं०

देखा, या वे देखना नहीं चाहते थे, कि बोनापार्त ने २९ जनवरी १८४९ की घटना से फ़ायदा उठाकर तूलरी के सामने कुछ सैनिक टुकड़ियों से मार्च करवा कर सलामी ली और संसदीय सत्ता के विरुद्ध सैनिक सत्ता के इस प्रथम खुले प्रदर्शन को आग्रहपूर्वक ग्रहण कर कालीगुला के अवतरण का पूर्वाभास दिया[74]। उन बेचारों को केवल अपना शांगार्निये ही दिखायी दे रहा था।

जिस चीज़ ने संविधान सभा के जीवन-काल को संक्षिप्त करने में अमन की पार्टी को विशेष रूप से प्रेरित किया था वह थी विधान के पूरक के रूप में बनाये जानेवाले संघटनात्मक क़ानून, जैसे शिक्षा क़ानून, धार्मिक उपासना सम्बन्धी क़ानून, आदि। संश्रयी राजतंत्रवादियों के लिए यह बड़े महत्त्व की बात थी कि जनतंत्रवादियों को, जिनके अन्दर अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गयी थी, ये क़ानून न बनाने देकर, वे उन्हें ख़ुद बनायें। पर इन संघटनात्मक क़ानूनों में एक क़ानून राष्ट्रपति के उत्तरदायित्व के बारे में भी था। १८५१ में विधान सभा ठीक ऐसे ही एक क़ानून का मसविदा तैयार करने में लगी हुई थी जब इसके पहले कि यह coup* हो सके बोनापार्त ने २ दिसम्बर का अपना coup सम्पन्न कर डाला। यदि संश्रयी राजतंत्रवादियों को १८५१ के जाड़े के अपने संसदीय आंदोलन में "उत्तरदायित्व क़ानून" तैयार मिल सकता और वह भी एक अविश्वासपूर्ण, विरोधी, जनतंत्रवादी सभा द्वारा तैयार किया हुआ मिल सकता, तो ऐसा कौनसा मोल है, जो वे इसके लिए चुका नहीं सकते थे?

जब संविधान सभा ने २९ जनवरी १८४९ को अपना अंतिम आयुध स्वयं टूक-टूक कर दिया तो बारो मंत्रिमण्डल तथा अमन के तरफ़दारों ने उसे खदेड़कर मौत के कगार तक पहुंचा दिया, उसको अपमानित करने में कोई कसर न उठा रखी, और अशक्त और पस्तहिम्मत विधान सभा का गला दबाकर उस से ऐसे क़ानून बनवाये जिनसे जनता की आंखों में उसकी रही-सही इज़्ज़त भी जाती रही। बोनापार्त ने, जिसके मस्तिष्क में नेपोलियनशाही धारणा जमकर बैठी हुई थी, निस्संकोच भाव से संसदीय सत्ता की इस अधोगति से खुलकर लाभ उठाया। ८ मई १८४९ को जब राष्ट्रीय सभा ने जनरल ऊदिनो द्वारा चिविता-वेक्किया पर अधिकार किये

* प्रहार। — सं०

जाने के कारण मंत्रिमण्डल के विरुद्ध निन्दा का एक प्रस्ताव पास किया और मंत्रिमण्डल को रोमन अभियन को उसके तथाकथित लक्ष्य की ओर पुनः उन्मुख करने का आदेश दिया[75], तब बोनापार्त ने उसी शाम «Moniteur»[76] में ऊदिनों के नाम अपना एक पत्र छपवाया जिसमें उसने वीरतापूर्ण कारनामों के लिए ऊदिनो को बधाई दी और कीचड़ उछालनेवाले संसदवादियों की तुलना में स्वयं अपने को सेना के उदारचेता संरक्षक के रूप में उपस्थित किया। राजतंत्रवादी इस पर मुस्कराये थे। वे उसको अपना भोला शिकार समझते थे। इसके अलावा संविधान सभा के अध्यक्ष मारास्त को जब एक क्षण के लिए ऐसा लगा कि राष्ट्रीय सभा की सुरक्षा ख़तरे में है और उसने संविधान का आश्रय ले एक कर्नल को उसकी रेजीमेंट के साथ बुला भेजा, तो कर्नल ने आने से इनकार कर दिया; उसने अनुशासन की दुहाई दी और मारास्त को शांगार्निये से बात करने को कहा, जिसने यह कहकर कि मुझे «baïonnettes intelligentes»* पसंद नहीं हैं, इस अनुरोध को तिरस्कारपूर्वक अस्वीकार कर दिया। नवम्बर १८५१ में जब संश्रयी राजतंत्रवादी बोनापार्त से निर्णायक संघर्ष आरम्भ करना चाहते थे तो उन्होंने अपने कुख्यात **केस्टर्स बिल**[77] में राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष द्वारा सीधे सेना को बुला सकने के अधिकार के सिद्धांत को समाविष्ट कराना चाहा। उनके लेफ़्लो नामक एक जनरल ने विधेयक पर हस्ताक्षर किया। शांगार्निये ने इसके पक्ष में वोट दिया और थियेर ने भूतपूर्व संविधान सभा की दूरदर्शिता का प्रशंसापूर्वक उल्लेख किया; पर यह सब व्यर्थ हुआ। **युद्ध-मंत्री सेंट-आर्नो** ने इसका वही उत्तर दिया जो शांगार्निये ने मारास्त को दिया था – और जिसपर पर्वत-दल ने करतल-ध्वनि की थी!

अतः **अमन की पार्टी** ने उस समय, जब वह अभी राष्ट्रीय सभा नहीं बनी थी, जब वह अभी मंत्रि-परिषद् ही थी, स्वयं ही **संसदीय शासन-प्रणाली** की निन्दा की थी। और वही, जब २ दिसम्बर १८५१ के राज्य-पर्युत्क्षेपण ने इस प्रणाली को फ़्रांस से निर्वासित कर दिया, चीख़-पुकार मचाने लगी!

हम शुभकामना करते हैं कि उसका मार्ग अकंटक हो!

---

* बौद्धिक संगीनें। – सं०

३

२८ मई, १८४९ को राष्ट्रीय विधान सभा का अधिवेशन आरंभ हुआ। २ दिसम्बर १८५१ को वह बर्खास्त कर दी गयी। यही अवधि वैधानिक, अथवा संसदीय, जनतंत्र के जीवन की अवधि रही है।

प्रथम फ़्रांसीसी क्रांति में संविधानवादियों के शासन के बाद जीरांदों का और जीरांदों के बाद जैकोबिनों[78] का शासन हुआ था। इन में से हर पार्टी ने अपने से अधिक प्रगतिशील पार्टी के समर्थक का भरोसा किया। इनमें से एक पार्टी ज्यूं ही क्रांति को इतना आगे बढ़ा चुकती थी कि वह उसके पीछे चलने में—उससे आगे बढ़ जाने की बात तो दूर रही—असमर्थ हो जाती थी, त्यूं ही उसके पीछे खड़ी उससे अधिक साहसी मित्र-पार्टी उसे ढकेलकर किनारे कर देती थी और उसे गिलोटीन (सिर काटने के यंत्र) पर चढ़ा देती थी। इस प्रकार क्रांति बराबर ऊपर उठती गयी।

१८४८ की क्रांति में इसका उलटा हुआ। सर्वहारा पार्टी निम्न-पूंजीवादी जनवादी पार्टी के पुछल्ले के रूप में अवतरित होती है। निम्न-पूंजीवादी जनवादी पार्टी १६ अप्रैल[79], १५ मई और जून के दिनों में उसे धोखा देती है और उसका साथ छोड़ देती है। जनवादी पार्टी स्वयं पूंजीवादी-जनतंत्रवादी पार्टी के कंधों का सहारा लेती है। पूंजीवादी-जनतंत्रवादियों को ज्यूं ही यह विश्वास हो जाता है कि उनके पैर अच्छी तरह जम गये हैं, त्यूं ही वे अपने बखेड़िये साथी से पल्ला छुड़ा लेते हैं और अमन की पार्टी के कंधों का सहारा लेते हैं। अमन की पार्टी अपने कंधे झटकारती है, पूंजीवादी-जनतंत्रवादियों को भहरा जाने देती है और ख़ुद सेना के कंधों का सहारा लेती है। वह सोचती है कि वह अब तक सेना के कंधों के सहारे आराम से बैठी हुई है, लेकिन सहसा एक दिन वह अनुभव करती है कि फ़ौजी कन्धे संगीनों में बदल गये हैं। हर पार्टी पीछे वाली पार्टी पर, जो उसे आगे की ओर दबाती है, दुलत्ती मारती है; और आगे वाली पार्टी का, जो उसे पीछे की ओर ढकेलती है, सहारा लेती है। अतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि इस हास्यास्पद स्थिति में वह लड़खड़ा जाती है; और, अपने को संभालने की कोशिश में अजीब-अजीब ढंग की कलाबाज़ियां दिखाने के बाद, मुंह के बल गिर पड़ती है। इस प्रकार, क्रांति यहां नीचे की ओर गिरती चली जाती है। फ़रवरी के आख़िरी बैरिकेडों के हटाये जाने और प्रथम

क्रांतिकारी सत्ता गठित होने से पहले ही क्रांति की यह प्रतिगामी गति आरंभ हो जाती है।

हमारे सामने का यह काल अत्यन्त विविधतापूर्ण अनोखे और प्रचण्ड विरोधाभासों से भरा हुआ है। इसमें संविधानवादी हैं जो संविधान के ख़िलाफ़ खुली साज़िशें करते हैं, क्रांतिवादी हैं जो ख़ुद ही संविधानवादी होना क़बूल करते हैं; एक राष्ट्रीय सभा है जो सर्वशक्तिमान बनना चाहती है, पर सदा संसदीय बनी रहती है; एक पर्वत-दल है जिसका धंधा धीरज रखना है और जो अपनी वर्तमान पराजयों की काट आगे आनेवाली अपनी विजयों की भविष्यवाणियां करके करता है; राजतंत्रवादी हैं जो जनतंत्र के patres conscripti* हैं और जो परिस्थितियों द्वारा विरोधी राजवंशों को, जिनके वे अनुयायी हैं, फ़्रांस से बाहर तथा जनतन्त्र को, जिससे वे नफ़रत करते हैं, फ़्रांस के अंदर रखने को विवश हैं; एक कार्यकारी सत्ता है जिसकी दुर्बलता ही उसकी शक्ति है और वह तिरस्कार-भावना ही, जिसे वह अपने प्रति जगाती है, जिसकी सम्भ्रांतता है; एक जनतंत्र है जो शाही लेबुल के साथ, दो राजतंत्रों की, अर्थात्, पुनःस्थापना और जुलाई राजतंत्र की संयुक्त अपकीर्त्ति के सिवा और कुछ नहीं है—ऐसे संश्रय हैं जिनकी सबसे पहली शर्त अलगाव है; ऐसे संघर्ष हैं जिनका सबसे बड़ा नियम अनिर्णय है; अमन के नाम पर अनियंत्रित, छूंछा आंदोलन और क्रांति के नाम पर अमन के बड़े संजीदे उपदेश हैं; सत्यशून्य आवेग हैं और आवेगशून्य सत्य हैं; वीर नायक हैं पर वीरत्वपूर्ण कार्य नहीं, इतिहास है पर घटनाएं नहीं; विकास है जिसकी एकमात्र चालक शक्ति मानो कैलेण्डर है, और जो एक ही तनाव और एक ही ढील की निरंतर पुनरावृत्ति से क्लान्त है; विग्रह हैं जो समय-समय पर तेज़ी पर आते हैं और तेज़ी खोकर बिना समाधान प्राप्त किये ही बैठ जाते हैं; विश्व के विनाश के ख़तरे पर आडम्बरपूर्ण सरगर्मियों का दिखाया जाना और कूपमण्डूकों जैसा संत्रास प्रगट किया जाना है, पर साथ ही विश्व के उद्धारकों का, जिनका "हर चीज़ को अपने क्रम से चलने दो" का रुख़ उतनी क़यामत की नहीं जितनी फ़्रान्द[80] के समय की याद दिलाता है, ओछी दुरभिसन्धियों और दरबारी प्रहसनों में व्यस्त होना भी है—फ़्रांस की सरकारी सामूहिक प्रतिभा का एक व्यक्ति की धूर्त्ततापूर्ण मूर्खता द्वारा निराकृत होना; राष्ट्र की सामूहिक

* सिनेटर।—सं०

इच्छा का,–जब भी वह सर्व-मताधिकार द्वारा मुखरित होती हैं,–अपनी समुचित अभिव्यंजना की चेष्टा में, आम जनता के हितों के घोर शत्रुओं द्वारा अभिव्यक्त किया जाना, यहां तक कि अंत में उसका एक डकैत के दुराग्रह में अपनी अभिव्यक्ति पाना; यदि इतिहास का कोई भाग धौले पर धौला रंगा गया है, तो वह यह है। व्यक्ति और घटनाएं औंधे श्लेमीलों जैसी, परछाइयों जैसी, जिनका शरीर ग़ायब हो गया है, लगती हैं। क्रांति स्वयं ही अपने ही वाहकों को पक्षाघातग्रस्त कर देती है, और केवल अपने विरोधियों में आवेगपूर्ण ओज भरती है। जब "लाल हौआ" जिसे प्रतिक्रांतिकारी लगातार बुलाया और भगाया करते थे, अंततः प्रकट हुआ तो उसके सिर पर अराजकता की फ़्रीजियन टोपी[81] नहीं थी, वरन् वह अमन की वर्दी, लाल **बिर्जिस** पहने हुए था।

हम देख चुके हैं कि बोनापार्त ने अपने पदारूढ़ होने के दिवस, २० दिसम्बर १८४८ को जो मंत्रिमण्डल स्थापित किया, वह अमन की पार्टी का, गठबन्धनकारी लेजिटिमिस्टों और आर्लियानिस्टों का मंत्रिमण्डल था। यह बारो–फ़ालू मंत्रिमण्डल जनतंत्रवादी संविधान सभा के, जिसका जीवन उसने एक प्रकार से बलपूर्वक विच्छिन्न किया था, बाद तक जीवित था और अपने को अब भी स्थिति का सूत्रधार पा रहा था। गठबंधनकारी राजतंत्रवादियों का जनरल शांगार्निये, प्रथम सेना डिवीज़न और पेरिस के राष्ट्रीय गार्ड, दोनों की कमान संभाले हुए था। इसके अलावा आम चुनाव से अमन की पार्टी को राष्ट्रीय सभा में बड़ा बहुमत प्राप्त हुआ था। यहां लूई फ़िलिप के आदमियों–निर्वाचित प्रतिनिधियों तथा लार्डों का सामना लेजिटिमिस्टों की एक गौरवान्वित भीड़ से हुई, जिसके लिए राष्ट्र के बहुत से मतपत्र राजनीतिक रंगमंच के लिए प्रवेशपत्र के रूप में बदल गये थे। बोनापार्ती जन-प्रतिनिधि इतने थोड़े थे कि वे कोई स्वतंत्र संसदीय पार्टी नहीं बना सकते थे। वे केवल अमन की पार्टी के mauvaise queue* के रूप में सामने आये। अतः अमन की पार्टी के हाथ में सरकारी सत्ता थी, सेना थी और विधायी निकाय था, एक शब्द में उसके हाथ में सम्पूर्ण राज्य-सत्ता थी। आम चुनाव ने, जिसके फलस्वरूप उसका शासन जनता की इच्छा पर आश्रित दिखाई देता

* मनहूस पुछल्ले। – सं०

था, और सारे यूरोपीय महादेश में संग-संग प्रतिक्रान्ति की विजय ने उसे नैतिक बल प्रदान किया था।

इससे अधिक साधनों से लैस होकर तथा इससे अधिक शुभ मुहूर्त्त में कभी कोई पार्टी मैदान में नहीं उतरी थी।

विशुद्ध जनतंत्रवादी, जिनकी नैया डूब चुकी थी, राष्ट्रीय विधान सभा के अंदर कोई पचास आदमियों का एक छोटा-सा गुट बन कर रह गये, जिनके नेता अफ़्रीकी जनरल कैवेन्याक, लामारिसियेर और बीदो थे। पर महान् विरोधी पार्टी का काम **पर्वत-दल** कर रहा था। **सामाजिक-जनवादी** पार्टी ने अपना संसदीय बप्तिस्मा करके यही नामधारण किया था। राष्ट्रीय सभा के साढ़े सात सौ वोटों में से दो सौ से अधिक इस पार्टी के पास थे, अतः वह कम से कम उतनी ही शक्तिशाली थी, जितने अलग-अलग अमन की पार्टी के तीनों गुट थे। समूचे राजतंत्रवादी संश्रय की तुलना में संख्या की उसकी हीनता कुछ विशेष परिस्थितियों से निराकृत हो गयी प्रतीत होती थी। ज़िलों (डेपार्टमां) के चुनाव-फलों से यह सिद्ध तो हुआ ही था कि देहाती आबादी के अंदर उसे काफ़ी अनुयायी प्राप्त हो गये थे; साथ ही पेरिस से निर्वाचित सभी के सभी सदस्य इसी दल के थे। सेना ने भी तीन ग़ैर-कमीशनयाफ़्ता अफ़सरों को चुन कर अपनी जनवादी आस्था घोषित की थी। और पर्वत-दल का नेता लेद्रू-रोलें पांच ज़िलें द्वारा, जिन्होंने उसके लिए अपने वोट जोड़े थे, संसद के लार्ड सदस्य के पद पर आरूढ़ किया गया था, जब कि अमन की पार्टी के किसी भी प्रतिनिधि को ऐसी विशिष्टता प्राप्त नहीं थी। इस बात को दृष्टिगत रखते हुए कि राजतन्त्रवादियों में आपस में, तथा पूरी अमन की पार्टी का बोनापार्त के साथ संघर्ष होना अनिवार्य था, यह ज्ञात हो रहा था कि पर्वत-दल के पास, २८ मई १८४९ को, सफलता के सभी उपादान थे। पर वह एक पखवारे के अंदर ही सब कुछ, और यहां तक कि अपनी इज़्ज़त भी गंवा बैठा।

संसदीय इतिहास की और आगे विवेचना करने से पहले इस दौर के पूरे स्वरूप के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रांत धारणाओं से बचने के लिए कुछ बातें कह देना आवश्यक है। जनवादियों की आंखों से देखने पर, राष्ट्रीय संविधान सभा का काल उसी चीज़ से सम्बन्धित है जिससे विधान सभा का काल था, अर्थात् वह जनतंत्रवादियों और राजतंत्रवादियों के सीधे-सादे संघर्ष से सम्बन्धित था। किन्तु स्वयं आंदोलन को वे एक पिटे-पिटाये शब्द

में समेट लेते हैं : "**प्रतिक्रियावाद**" — यानी वह रात, जिसमें हर बिल्ली धौली होती है, और जिसकी बदौलत रात का संतरी अपनी घिसी-घिसायी कहानी बेधड़क दुहरा सकता है। और सचमुच प्रथम दृष्टि में अमन की पार्टी ऐसे विभिन्न राजतन्त्रवादी गुटों का गोरखधन्धा दिखाई देती है जो एक दूसरे के ख़िलाफ़ साज़िशें करते हैं — प्रत्येक गुट तख़्त के अपने दावेदार को गद्दी पर बिठाने और विरोधी गुट के दावेदार को दूर रखने की कोशिश करता है — किन्तु साथ ही "जनतंत्र" के प्रति समान घृणा रखने में तथा उस पर समान रूप से प्रहार करने में सब एकजुट हो जाते हैं। इस राजतंत्रवादी षड्यन्त्र के ख़िलाफ़ पर्वत-दल "जनतंत्र" का प्रतिनिधि प्रतीत होता है। अमन की पार्टी निरंतर "प्रतिक्रिया" में लग्न ज्ञात होती है, जिसका निशाना अख़बार, संगठन, तथा ऐसी अन्य चीज़ें होती हैं। यह काम वह उतने ही ज़्यादा या कम सरगर्मी के साथ करती है जैसे वह प्रशा में किया जाता है और, जो, प्रशा की ही भांति, नौकरशाही, राजनीतिक पुलिस और अदालतों के बर्बर हस्तक्षेप के रूप में किया जाता है। इधर पर्वत-दल इन प्रहारों का निराकरण करने में और इस प्रकार "मानव के शाश्वत स्वत्वों" की रक्षा करने में, जैसा कि डेढ़ शताब्दी से प्रत्येक तथाकथित लोक-पार्टी ने न्यूनाधिक किया है, निरंतर संलग्न ज्ञात होता है। किन्तु स्थिति को एवं इन पार्टियों को अधिक निकटता से देखने पर यह बाहरी दिखावा, जिसके पर्दे के भीतर **वर्ग-संघर्ष** तथा इस काल की विशिष्ट आकृति छिपी हुई है, ग़ायब हो जाता है।

जैसा कि हम बता चुके हैं, लेजिटिमिस्ट और आर्लियानिस्ट अमन की पार्टी के दो बड़े गुट थे। जिस चीज़ ने इन लोगों को तख़्त के अलग-अलग दावेदारों का वफ़ादार अनुयायी बना रखा था और उन्हें एक दूसरे से अलग कर रखा था, क्या वह केवल लिली[82] और तिरंगे का निशान था, बूर्बों और आर्लियां का राजवंश था, क्या वह राजतन्त्रवाद के भिन्न-भिन्न रंगों का अंतर था, क्या वह किसी भी प्रकार राजतंत्रवाद में विश्वास की स्वीकृति थी? बूर्बों के ज़माने में **बड़ी भूमि-सम्पत्ति** ने, अपने पण्डों-पुरोहितों और दरबारियों के साथ, राज किया था। आर्लियां राजवंश के शासन-काल में उच्च वित्त, बड़े पैमाने के उद्योग, बड़े पैमाने के व्यापार, अर्थात् पूंजी ने, वकीलों, प्रोफ़ेसरों और पालिशदार ज़बान वाले भाषणकर्त्ताओं के अपने दल-बल के साथ, राज किया। वैध राजतंत्र भू-स्वामियों के मौरूसी शासन की राजनीतिक अभिव्यक्ति

मात्र था; उसी प्रकार जैसे जुलाई राजतंत्र नौवढ़िये पूंजीपतियों की अनधिकृत रूप में हस्तगत सत्ता की राजनीतिक अभिव्यक्ति था। अतः जो चीज़ दोनों गुटों को अलग रखे हुई थी, वह कोई तथाकथित सिद्धान्त न थी, वह थी उनके अस्तित्व की भौतिक अवस्थाएं, दो भिन्न प्रकार की सम्पत्तियां; वह थी शहर और देहात का पुराना विरोध, पूंजी और ज़मींदारी की प्रतिद्वंद्विता। पुरानी स्मृतियां, व्यक्तिगत बैर, भय और आशाएं, पूर्वाग्रह और भ्रम, हमदर्दियां और अदावतें, विश्वास, आस्थाएं और सिद्धान्त, उन्हें इस या उस राजघराने के साथ बांधे हुए थीं—इससे कौन इनकार करता है? सम्पत्ति के भिन्न-भिन्न रूपों का, अस्तित्व की सामाजिक अवस्थाओं का आधार ग्रहण कर पृथग्भूत एवं विशिष्ट रूप से गठित भावनाओं, भ्रमों, विचार-पद्धतियों और जीवन-दर्शनों का एक पूरा ऊपरी ढांचा खड़ा होता है। सम्पूर्ण वर्ग अपनी भौतिक अवस्थाओं से तथा तदनुरूप सामाजिक सम्बन्धों से इनका सृजन और गठन करता है। एक पृथक् व्यक्ति जो परम्परा एवं शिक्षा द्वारा इन्हें प्राप्त करता है, सोच सकता है कि वास्तव में ये उसके कार्य-कलाप के वास्तविक प्रेरणा-स्रोत और प्रारम्भ-बिंदु हैं। आर्लियानिस्ट और लेजिटिमिस्ट, यानी दोनों गुटों में से प्रत्येक, हालांकि अपने को तथा औरों को यह विश्वास दिलाने की कोशिश करते थे कि अपने-अपने राजघराने के प्रति उनकी वफ़ादारी ही उन्हें अलग किये हुई थी, परन्तु तथ्यों ने बाद में यह सिद्ध कर दिया कि वस्तुतः ये उनके विभक्त हित थे जिन्होंने दोनों राजघरानों को एक होने से रोका था। और जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में मनुष्य क्या सोचता है और अपने बारे में क्या कहता है और वास्तव में वह क्या है और क्या करता है, इन दोनों में हम भेद करते हैं उसी प्रकार ऐतिहासिक संघर्षों में हमें पार्टियों के शब्दों तथा कल्पनाओं और उनकी असली बनावट तथा उनके असली हितों में, अपने बारे में उनकी धारणा और उनकी असलियत में और भी ज़्यादा भेद करना चाहिए। आर्लियानिस्टों और लेजिटिमिस्टों ने जनतंत्र में अपने को अग़ल-बग़ल और बराबर दावों के साथ खड़ा पाया। इनमें से प्रत्येक अपने राजघराने का दूसरे के विरुद्ध यदि पुनःस्थापन चाहता था तो इसका अर्थ केवल यह था कि उन दोनों बड़े हितों में से प्रत्येक, जिनमें पूंजीपति वर्ग विभक्त है, अर्थात् भू-सम्पत्ति और पूंजी, ख़ुद अपना बोलबाला क़ायम करना तथा दूसरे को नीचे रखना चाहता था। हम पूंजीपति वर्ग के दो हितों की बात करते हैं क्योंकि आधुनिक समाज के विकास द्वारा बड़ी भू-सम्पत्ति अपनी

सामंती ऐंठ और जातिगत अहंकार के बावजूद, पूर्णतया पूंजीवादी बना दी गयी है। इंगलैंड के टोरी[83], इसी तरह, एक लम्बे अरसे से यह माने बैठे थे कि वे राजतंत्र, चर्च तथा इंगलैंड के पुराने संविधान की ख़ूबसूरतियों के भक्त हैं, पर जब ख़तरे की घड़ी आई तो उनके मुंह से यह स्वीकारोक्ति निकल गयी कि दरअसल उनकी भक्ति का विषय केवल ज़मीन का लगान है।

संश्रयी राजतंत्रवादी एक दूसरे के ख़िलाफ़ अपनी साज़िशें सभी जगह—अख़बारों में, एम्स में, क्लेरमां में[84], संसद के बाहर—चला रहे थे। पर्दे के पीछे वे अपनी आर्लियां तथा लेजिटिमिस्ट राजवंशीय पुरानी वर्दियां फिर धारण करके फिर अपने पुराने दंगल में जुट गये थे। किन्तु सार्वजनिक रंगमंच पर, अपने भव्य राजकीय अभिनयों में, एक महान् संसदीय पार्टी के नाते, वे अपने-अपने राजघरानों को केवल शीश नवा कर, दरकिनार कर देते थे और राजतंत्र की पुनःस्थापना को in infinitum* स्थगित कर देते थे। अपना असली कारबार वे **अमन की पार्टी** के रूप में, अर्थात् एक सामाजिक नाम से, राजनीतिक नाम से नहीं; पूंजीवादी विश्व-व्यवस्था के प्रतिनिधि की हैसियत से, भूली-भटकी शाहज़ादियों के सूरमा सामंतों की हैसियत से नहीं; अन्य वर्गों के मुक़ाबले में पूंजीपति वर्ग की हैसियत से, जनतंत्रवादियों के मुक़ाबले में राजतंत्रवादियों की हैसियत से नहीं, चलाते थे। और अमन की पार्टी के रूप में वे समाज के अन्य वर्गों के ऊपर पहले से पुनःस्थापना काल या जुलाई राजतंत्र की तुलना में, कहीं अधिक अबाध और सख़्त हुकूमत चलाते थे। ऐसी हुकूमत, सामान्यतः, संसदीय जनतंत्र के ढांचे में ही सम्भव थी, क्योंकि इस ढांचे में ही फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग के दो बड़े भाग एकजुट हो सकते थे और ऐसा करके अपने वर्ग के किसी एक सुविधाप्राप्त गुट के राज के बदले पूरे वर्ग का राज चालू कर सकते थे। किन्तु यदि इसके बावजूद, अमन की पार्टी के नाते, उन्होंने जनतंत्र का अपमान भी किया और उसके प्रति अपनी घृणा भी प्रकट की, तो इसका कारण केवल राजतंत्रीय स्मृतियां न था। सहजबुद्धि उनको यह सिखाती थी कि यद्यपि यह सच है कि जनतंत्र द्वारा उनका राजनीतिक शासन पूर्णता प्राप्त करता है, तथापि साथ ही वह उसके सामाजिक आधार को भी खंडित करता है, क्योंकि

---

* अनन्त काल के लिए।—सं०

उन्हें अब अधीनस्थ वर्गों का, विना किसी विचाव के, विना उस व्यवधान को जो राजा की उपस्थिति से प्राप्त होता है, विना राष्ट्रीय हित को अपने गौण आपसी संघर्षों और राजा के साथ संघर्षों द्वारा दूसरी ओर फेरे सीधे-सीधे सामना करना पड़ता है। कमज़ोरी के इस एहसास के कारण ही वे अपने वर्ग के शासन की विशुद्ध अवस्थाओं से झिझकते थे और अपने शासन के पहले के, अधिक अपूर्ण, अधिक अविकसित—और ठीक इसी कारण से कम ख़तरनाक—रूपों के लिए उत्कण्ठित रहते थे। दूसरी ओर, संश्रयी राजतंत्रवादियों का जब-जब सत्ता के उस दावेदार से जिससे उनका मुक़ावला था, अर्थात् बोनापार्त से झगड़ा होता था, जब-जब उन्हें ऐसा लगता था कि उनकी संसदीय सर्वशक्तिमत्ता कार्यकारी सत्ता द्वारा ख़तरे में डाल दी गई है, अर्थात् जब-जब वे यह अनुभव करते कि उन्हें शासन करने का अपना राजनीतिक अधिकार सिद्ध करना चाहिए, तब-तब वे **राजतंत्रवादी** नहीं, **जनतंत्रवादी** वन कर सामने आते थे। आर्लियानिस्ट थियेर से लेकर, जो राष्ट्रीय सभा को यह चेता रहा है कि जनतंत्र हमें सबसे कम विभक्त करता है, लेजिटिमिस्ट बेरिये तक, जो २ दिसम्बर १८५१ को तिरंगा पटका लपेटे एक जन-प्रतिनिधि के रूप में दसवें अरांदिसमां के टाउन हॉल के सामने इकट्ठी जनता को जनतंत्र के नाम पर ललकारता है, सभी पर यह बात लागू होती है। यह सच है कि इस ललकार के जवाब में मुंह चिढ़ाने वाली यह प्रतिध्वनि उठती है: Henri V! Henri V!

संश्रित पूंजीपतियों के विरुद्ध निम्न-पूंजीपतियों और मज़दूरों का एक संयुक्त मोर्चा, **सामाजिक-जनवादी** पार्टी के नाम से वना है। निम्न-पूंजीपतियों ने देखा कि १८४८ के जून के दिनों के बाद उन्हें उचित पुरस्कार बिलकुल नहीं मिला, उनके भौतिक हित ख़तरे में हैं, और प्रतिक्रांति ने उन जनवादी गारंटियों पर आपत्ति प्रकट की है जिनसे इन हितों की निष्पन्नता सुनिश्चित हो सकती थी। अतः वे मज़दूरों के निकटतर आये। दूसरी ओर, उनके संसदीय प्रतिनिधि **पर्वत-दल** ने, जिसे पूंजीवादी-जनतंत्रवादियों के एकाधिपत्य काल में एक ओर ढकेल दिया गया था, संविधान सभा के जीवन के उत्तरार्ध में, बोनापार्त और राजतंत्रवादी मंत्रियों के विरुद्ध अपने संघर्ष द्वारा अपनी खोयी हुई लोकप्रियता फिर प्राप्त कर ली थी। उसने समाजवादी नेताओं के साथ एक समझौता सम्पन्न किया था। फ़रवरी १८४९ में दोनों का पुनर्मिलन प्रीतिभोजन द्वारा मनाया गया। एक संयुक्त कार्यक्रम का मसविदा तैयार किया

गया, संयुक्त चुनाव कमेटियां बनायी गयीं और संयुक्त उम्मीदवार खड़े किये गये। सर्वहारा की सामाजिक मांगों की क्रांतिकारी तीक्ष्णता नष्ट कर दी गई, और उन्हें एक जनवादी दिशा प्रदान की गयी; निम्न-पूंजीपतियों के जनवादी दावों से उनका विशुद्ध राजनीतिक रूप अलग कर दिया गया और उन्हें समाजवादी रंग दिया गया। इस तरह **सामाजिक-जनवाद** का जन्म हुआ। इस संयोग से उत्पन्न नये **पर्वत-दल** में, मजदूर वर्ग के कुछ फ़ालतू लोगों तथा कुछ समाजवादी संकीर्णतावादियों के अतिरिक्त वे ही तत्त्व थे जो पुराने पर्वत-दल में थे; हां, संख्या में नया पर्वत-दल दृढ़तर था। किन्तु विकासक्रम में उस वर्ग के साथ, जिसका वह प्रतिनिधित्व करता था, वह भी वदला था। सामाजिक-जनवाद के विशिष्ट चरित्र का सार इस बात में है कि वह जनवादी-जनतंत्रवादी संस्थाओं की मांग दो छोरों—पूंजी और उजरती श्रम—को मिटाने के साधन के रूप में नहीं अपितु उनके विग्रह को घटाने तथा उसे मेल में परिवर्तित करने के साधन के रूप में करता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए चाहे कितने ही भिन्न साधन प्रस्तावित किये जायें, उसे न्यूनाधिक क्रांतिकारी धारणाओं से कितना ही सजाया-संवारा जाये, अंतर्वस्तु वही की वही वनी रहती है। यह अंतर्वस्तु है समाज का जनवादी मार्ग से रूपांतरण करना, किन्तु ऐसा रूपांतरण जो निम्न-पूंजीपतियों की चौहद्दी के अंदर हो। पर हमें यह संकीर्णबुद्धियुक्त धारणा नहीं बना लेनी चाहिए कि निम्न-पूंजीपति वर्ग, सिद्धान्त रूप से स्वार्थी वर्गहित लादना चाहता है। बल्कि उसे यह विश्वास है कि उसकी मुक्ति की **विशेष** अवस्थाएं वे **सामान्य** अवस्थाएं हैं, जिनके दायरे में ही समाज का उद्धार किया जा सकता है और वर्ग-संघर्ष से वचा जा सकता है। इसी प्रकार हमें यह न सोच लेना चाहिए कि जनवादी प्रतिनिधि सभी के सभी दूकानदार हैं या दूकानदारों के जोशीले हिमायती हैं। अपनी-अपनी शिक्षा-दीक्षा और वैयक्तिक स्थिति के अनुसार उनमें आकाश-पाताल का अंतर हो सकता है। जो चीज उन्हें निम्न-पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधि बनाती है वह यह है कि, अपने मस्तिष्क में, वे उन सीमाओं के बाहर नहीं जाते जिन के बाहर निम्न-पूंजीपति अपने जीवन में नहीं जाते; अतः सिद्धांततः वे उन्हीं समस्याओं और समाधानों की ओर प्रेरित होते हैं जिनकी ओर निम्न-पूंजीपति अपने भौतिक हित और सामाजिक स्थिति द्वारा व्यवहारतः प्रेरित होते हैं। सामान्यतः यही किसी वर्ग के राजनीतिक और

साहित्यिक प्रतिनिधियों और उस वर्ग का, जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, सम्बन्ध होता है।

उपरोक्त विश्लेषण के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि पर्वत-दल यदि अमन की पार्टी के साथ जनतंत्र एवं तथाकथित मानव स्वत्वों के लिए लगातार झगड़ा करता है तो उसका अंतिम लक्ष्य न तो जनतंत्र है, न ही मानव अधिकार है; उसी तरह जैसे यदि कोई किसी फ़ौज को निरस्त्र करना चाहता है तो फ़ौज मैदान में उतर कर अपने हथियार अपने क़ब्ज़े में रखने के लिए ही युद्ध नहीं करती है।

राष्ट्रीय सभा की बैठक होने के साथ ही अमन की पार्टी ने पर्वत-दल को उकसाया। पूंजीपतियों ने जिस प्रकार ठीक एक वर्ष पूर्व क्रांतिकारी सर्वहारा से निबट लेने की ज़रूरत महसूस की थी, उसी प्रकार अब उन्होंने जनवादी निम्न-पूंजीपतियों का अंत कर देने की आवश्यकता अनुभव की। अंतर केवल यह था कि शत्रु की स्थिति भिन्न थी। सर्वहारा पार्टी की शक्ति सड़कों पर थी, और निम्न-पूंजीपतियों की शक्ति स्वयं राष्ट्रीय सभा के अंदर थी। अतः प्रश्न यह था कि किस प्रकार धोखा देकर उन्हें राष्ट्रीय सभा के बाहर सड़कों पर लाया जाये और ख़ुद उन्हीं के द्वारा उनकी संसदीय शक्ति को, क़ब्ल इसके कि समय और परिस्थितियां उसे सुदृढ़ कर सकें, चकनाचूर कर दिया जाये। पर्वत-दल दौड़कर इस जाल में फांद पड़ा।

फ़्रांसीसी सेना द्वारा रोम पर गोलाबारी का उसे फंसाने के लिए चारे के रूप में इस्तेमाल किया गया। फ़्रांसीसी सेना का यह कार्य संविधान की धारा ५ के विरुद्ध था, जिसके द्वारा फ़्रांस के जनतंत्र को अन्य जनगण की स्वाधीनता के विरुद्ध अपनी सैन्य-शक्ति का प्रयोग करने की मनाही की गयी थी। इसके अतिरिक्त धारा ५४ कार्यकारी सत्ता द्वारा, राष्ट्रीय सभा की मंज़ूरी के बिना, युद्ध की घोषणा का निषेध करती थी, तथा संविधान सभा ८ मई के अपने प्रस्ताव द्वारा रोम के अभियान को अस्वीकृत कर चुकी थी। इस आधार पर लेद्रू-रोलें ने बोनापार्त और उसके मंत्रियों के विरुद्ध ११ जून, १८४९ को महाभियोग का एक विधेयक उपस्थित किया। थियेर के ततैया जैसे डंकों से बौखला कर उसने यहां तक कह डाला कि हम हर उपाय से, यहां तक कि हाथों में हथियार लेकर भी, संविधान की रक्षा करेंगे। पर्वत-दल ने एक स्वर से हथियार उठाने का यह आह्वान दोहराया। १२ जून को राष्ट्रीय सभा ने महाभियोग का विधेयक अस्वीकृत कर दिया और पर्वत-दल

संसद से बाहर निकल आया। १३ जून की घटनाएं सुविदित हैं: पर्वत-दल के एक भाग ने यह घोषणा जारी की कि बोनापार्त और उसके मंत्री "संविधान के दायरे से बाहर" हैं; जनवादी राष्ट्रीय गार्ड ने सड़क पर जुलूस निकाला, और बे-हथियार होने की वजह से शांगार्निये की फ़ौज का सामना होते ही तितर-बितर हो गया, आदि, आदि। पर्वत-दल का एक भाग विदेश भागा, दूसरे भाग को बूर्ग में हाई कोर्ट के सामने खड़ा किया गया, और बाक़ी को संसद के एक विनिमय द्वारा स्कूली बच्चों की भांति राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष की निगरानी में रखा गया। पेरिस में फिर घेरे की हालत का एलान कर दिया गया और राष्ट्रीय गार्ड का जनवादी भाग विघटित कर दिया गया। इस प्रकार संसद में पर्वत-दल का तथा पेरिस में निम्न-पूंजीपतियों का प्रभाव नष्ट कर दिया गया।

लियां में भी, जहां १३ जून के बिगुल पर मज़दूरों की एक ख़ूनी बग़ावत हुई थी, चारों ओर के पांच ज़िलों (देपार्तमां) के साथ, घेरे की स्थिति घोषित की गयी, और वह अभी तक जारी है।

पर्वत-दल के बड़े भाग ने अपने अग्रगामी भाग का आपत्काल में साथ छोड़ दिया, उसने उसके घोषणापत्र का समर्थन करने से इनकार किया। अख़बार भी साथ छोड़कर भागे, केवल दो ने घोषणापत्र छापने का साहस किया। निम्न-पूंजीपतियों ने अपने प्रतिनिधियों के साथ ग़द्दारी की, क्योंकि राष्ट्रीय गार्ड या तो अलग रहा, या जहां वह आया भी वहां बैरिकेड खड़े करने में बाधा डाली। इन प्रतिनिधियों ने निम्न-पूंजीपतियों को धोखा दिया था, क्योंकि सेना में उनके तथाकथित मित्रों का कहीं पता न था। अंतिम बात यह कि जनवादी पार्टी ने मज़दूर वर्ग से शक्ति प्राप्त करने के बदले मज़दूर वर्ग में अपनी कमज़ोरी की छूत डाल दी और, जैसा कि जनवादियों के महान् कृत्यों के साथ आम तौर से होता है, नेताओं को "जनता" पर दग़ा देने का आरोप लगाने का संतोष प्राप्त हुआ और जनता को अपने नेताओं पर झूठे दावे करने का आरोप लगाने का संतोष प्राप्त हुआ।

पर्वत-दल ने अपने आनेवाले आंदोलन का जितना ज़ोर-ज़ोर से ढिंढोरा पीटा था, उतने शोरग़ुल के साथ शायद ही कभी किसी संघर्ष की पूर्व-सूचना दी गयी हो। जितनी अधिक निश्चयात्मकता तथा जितना पहले से इस बात का ढिंढोरा पीटा गया था कि जनवाद की जीत अवश्यम्भावी है, उतना

शायद ही कभी किसी घटना की तुरही बजायी गयी हो। निश्चय ही, जनवादियों को तुरहियों के चमत्कार में विश्वास है जिसकी फूंकों से ही जेरिको की दीवारें भहरा कर गिर पड़ी थीं[85]। और वे जब भी निरंकुशता के दुर्ग के प्राचीरों के सम्मुख खड़े होते हैं तो इसी चमत्कार को दोहराने की कोशिश करते हैं। यदि पर्वत-दल संसद के अंदर जीतना चाहता था तो उसे हथियार उठाने का आह्वान नहीं करना चाहिए था। यदि उसने संसद में हथियार उठाने का आह्वान किया, तो सड़कों पर उसे संसदीय आचरण नहीं करना चाहिए था। यदि शांतिपूर्ण प्रदर्शन गम्भीर उद्देश्य से किया गया था तो पहले से यह न देखना कि उसका सामरिक स्वागत होगा बुद्धिहीनता थी। यदि असली संघर्ष छेड़ने का इरादा था तो यह बड़ी विचित्र बात रही कि उन हथियारों को डाल दिया गया जिनसे यह लड़ाई लड़ी जा सकती थी। पर निम्न-पूंजीपतियों और उनके जनवादी प्रतिनिधियों की क्रांतिकारी धमकियां विरोधी पर महज़ धौंस जमाने की कोशिश मात्र होती हैं। और जब वे बन्द गली में पहुंच जाते हैं, जब वे अपने को इतना काफ़ी फंसा लेते हैं कि अपनी धमकियों को कार्यान्वित करना लाज़िमी हो जाता है, तो यह काम वे द्विधायुक्त ढंग से करते हैं, ऐसे ढंग से करते हैं जिसमें लक्ष्य प्राप्ति के साधनों से सबसे अधिक कतराया जाता है और हथियार डाल देने के बहाने ढूंढ़े जाते हैं। दंगल शुरू करने का एलान करने वाली डंके की चोट दंगल शुरू होने का समय आते ही एक बुज़दिलाना गुर्राहट में बदल जाती है, जंग आरम्भ करने वाले नायक अपने प्रति गम्भीरता का रुख़ त्याग देते हैं और जंग फूटे हुए बुलबुले की भांति वायु में विलीन हो जाती है।

जनवादी पार्टी के सिवा और कोई पार्टी अपने साधनों को इतना बढ़ा-चढ़ा कर नहीं बताती, और न कोई पार्टी परिस्थिति के विषय में इतनी ग़ैर-संजीदगी के साथ अपने को धोखे में डालती है। चूंकि सेना के एक भाग ने उसे अपने वोट दिये थे इसलिए पर्वत-दल को यक़ीन हो गया कि फ़ौज उसकी ओर से विद्रोह करने को तैयार है। और वह भी किस अवसर पर? ऐसे अवसर पर जिसका फ़ौजियों की दृष्टि में इसके सिवा और कोई अर्थ न था कि क्रांतिवादी लोग फ़्रांसीसी सैनिकों के विरुद्ध रोम के सैनिकों का पक्ष ले रहे हैं। दूसरी ओर, जून १८४८ की स्मृतियां अब भी इतनी ताजा थीं कि मज़दूर वर्ग में राष्ट्रीय गार्ड के प्रति गहरी घृणा के अतिरिक्त तथा गुप्त समितियों के नेताओं में जनवादी नेताओं के प्रति घोर अविश्वास के

अतिरिक्त अन्य कोई भावना हो ही नहीं सकती थी। इस पारस्परिक वैपरीत्य को दूर करने के लिए यह आवश्यक था कि दोनों पक्षों के गहरे, समान हित दांव पर हों। संविधान के एक किताबी पैराग्राफ़ का अतिक्रमण किया जाना ऐसा गहरा हित न था। संविधान क्या ख़ुद जनवादियों के आश्वासन के अनुसार कई बार तोड़ा नहीं जा चुका था? क्या सर्वाधिक लोकप्रिय पत्र उसे प्रतिक्रांतिकारी पैवंदकारी नहीं बता चुके थे? किन्तु निम्न-पूंजीपतियों का प्रतिनिधि होने के कारण, अर्थात् एक **संक्रमणशील वर्ग** का प्रतिनिधि होने के कारण जिसमें दो वर्गों के हित एक साथ एक दूसरे की धार को कुंद कर देते हैं, जनवादी सामान्यतः अपने को वर्ग विग्रह से ऊपर समझते हैं। जनवादी स्वीकार करते हैं कि उनके सामने एक सुविधाप्राप्त वर्ग खड़ा है, पर वे ही, शेष राष्ट्र के साथ, **जनता** हैं। वे जिस चीज़ का प्रतिनिधित्व करते हैं वह है **जनता के अधिकार**; जिस चीज़ में उनकी दिलचस्पी है वह है **जनता के हित**। अतः संघर्ष आसन्न होने पर वे विभिन्न वर्गों के हितों और स्थितियों का निरीक्षण करने की आवश्यकता महसूस नहीं करते। वे अपने साधनों को बहुत अधिक आलोचनात्मक दृष्टि से तौल लेने की आवश्यकता नहीं महसूस करते। वे समझते हैं कि उन्हें इशारा भर करना है, और **जनता** अपने समस्त अक्षय साधनों के साथ **उत्पीड़कों** पर टूट पड़ेगी। इसके बाद यदि कार्यक्षेत्र में उनके हित ग़ैर-दिलचस्प साबित होते हैं और उनका बल पुंसत्वहीन सिद्ध होता है, तो दोष उन बुरे मिथ्या तर्कवादियों का है जिन्होंने **अखण्ड जनता** को अलग-अलग विरोधी शिविरों में विभक्त किया है, या सेना में इतनी अधिक पशु-मनोवृत्ति आ गयी है और वह इतनी अंधी हो गयी है कि उसे यह नहीं समझ में आया कि जनवाद के विशुद्ध लक्ष्य उसके लिए भी सर्वोत्तम हैं, या क्रियान्वन में कहीं कोई ब्यौरे की भूल हो जाने की वजह से सब कुछ बंटाढार हो गया है, अथवा किसी अप्रत्याशित दुर्घटना ने इस बार खेल बिगाड़ दिया। बहरसूरत शर्मनाक से शर्मनाक हार के बाद भी जब जनवादी संघर्ष से निकलता है तब वह उतना ही बेदाग़ होता है जितना अबोध वह उसमें प्रवेश करते समय था। वह यह नवजात विश्वास लेकर बाहर आता है कि उसकी विजय अनिवार्य है। यह वह नहीं सोचता कि स्वयं उसे और उसकी पार्टी को अपना पुराना दृष्टिकोण बदलना चाहिए, बल्कि, इसके विपरीत, उसकी धारणा होती है कि अवस्थाओं को ही इस प्रकार परिपक्व होना है कि वे उसके लिए उपयुक्त बन जायें।

अतः आप यह न सोचें कि पर्वत-दल नष्ट-भ्रष्ट एवं छिन्न-भिन्न होने तथा नये संसदीय ज़ाब्ते द्वारा अपमानित किये जाने के बाद कुछ बहुत अधिक खिन्न था। १३ जून ने यद्यपि उसके मुखियों को हटा दिया था, पर दूसरी ओर उसने अल्पतर "योग्यता के व्यक्तियों" के लिए स्थान बनाया था और ये लोग अपना यह नया स्थान पाकर इतराए हुए थे। यद्यपि संसद में उनकी अशक्तता के विषय में संदेह की गुंजाइश नहीं रह गयी थी, तथापि उन्हें यह अधिकार प्राप्त था कि वे अपनी कार्रवाइयों को नैतिक रोष के उद्गारों और कल्लेबाज़ लफ़्फ़ाज़ी तक सीमित रखें। यदि अमन की पार्टी इन्हें क्रान्ति के अन्तिम आधिकारिक प्रतिनिधियों के नाते अब भी अराजकता के समस्त आतंक का साकार रूप समझने का दिखावा कर रही थी, तो वास्तव में ये और भी अधिक फीके और विनीत और संकोची हो सकते थे। पर १३ जून की हार के लिए वे इस प्रकाण्ड उक्ति द्वारा अपने को दिलासा देते थे: "ठीक है, लेकिन अगर वे सर्व-मताधिकार पर चोट करने की जुर्रत करते हैं, तो फिर हम उन्हें दिखा देंगे कि हम भी किस धातु के बने हुए हैं! Nous verrons!"*

जहां तक उन पर्वतदलीय लोगों का सम्बन्ध है, जो विदेश भाग गये थे, यहां इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि लेद्रू-रोलें ने चूंकि कुल एक पखवारे के अंदर एक शक्तिशाली पार्टी को, जिसका वह नेता था, कामयाबी के साथ ऐसा चौपट कर दिया था, कि सुधार की कोई गुंजाइश न रही थी, इसलिए अब उसने अपना यह कर्त्तव्य समझा कि एक in partibus फ़्रांसीसी सरकार की स्थापना करें। जिस मात्रा में क्रांति का स्तर नीचा होता गया और सरकारी फ़्रांस के उच्च सरकारी नेता बौने जैसे होते गये, उसी मात्रा में संघर्ष क्षेत्र से अलग, दूरी पर खड़ा लेद्रू-रोलें का व्यक्तित्व अधिकाधिक विराट होता दिखाई देने लगा। वह १८५२ के चुनाव में सत्ता के जनतन्त्रीय दावेदार के रूप में आ सका। और उसने वालाशियनों तथा अन्य देशों के जनगण के नाम समय-समय पर गश्ती चिट्ठियां जारी कीं जिनमें यूरोपीय महादेश के स्वेच्छाचारी शासकों को धमकी दी गई थी कि वे और उसके साथी उनके ख़िलाफ़ कार्रवाई करेंगे। प्रूदों का कहना बिलकुल

---

* देख लेंगे! — सं०

ग़लत न था जब उन्होंने इन महानुभावों से कहा था : «Vous n'êtes que des blagueurs!» *

१३ जून को अमन की पार्टी ने केवल पर्वत-दल की ही कमर नहीं तोड़ी थी, उसने संविधान को राष्ट्रीय सभा के बहुमत के निर्णयों के अधीन कर दिया था। और जनतंत्र के सम्बन्ध में उसकी समझ यह थी : यहां पूंजीपति वर्ग संसदीय तरीक़ों से हुकूमत करता है, जिसमें, राजतंत्र की तरह, कार्यकारी सत्ता के निषेधाधिकार अथवा संसद को भंग कर देने के अधिकार जैसी किसी बाधा का उसे सामना नहीं करना पड़ता। यही, थियेर के अनुसार, संसदीय जनतंत्र है। किन्तु १३ जून को पूंजीपति वर्ग ने जहां संसद के भीतर अपनी सर्व-शक्तिमत्ता स्थापित कर ली, वहां क्या यह भी सच नहीं है कि संसद से उसके सबसे लोकप्रिय भाग को निष्कासित करके उसने कार्यकारी सत्ता एवं, जनता के समक्ष, उसे असाध्य रूप से दुर्बल कर दिया ? बहुत-से सदस्यों को अदालतों की मांग पर, बिना किसी बखेड़े के, उनके हवाले करके उसने अपने-आप अपनी संसदीय निरापदता का ख़ातमा कर लिया। पर्वत-दल पर उसने जो अपमानजनक ज़ाब्ते लगाये थे, उनसे जिस मात्रा में जनतंत्र के राष्ट्रपति का रुतबा बढ़ा था, उसी मात्रा में जनता के वैयक्तिक प्रतिनिधियों का सम्मान घटा था। संवैधानिक चार्टर की रक्षा के लिए किये जाने वाले विद्रोह को समाज-विध्वंसक अराजकतावादी कार्य क़रार देकर उसने कार्यकारी सत्ता द्वारा उसके संबंध में संविधान के उल्लंघन की अवस्था में विद्रोह का आह्वान कर सकने का द्वार पहले ही से बन्द कर दिया। और इतिहास का ऐसा व्यंग्य, कि उसी जनरल, अर्थात् **ऊदिनो**, को जिसने बोनापार्त के आदेश पर रोम पर गोलाबारी की थी और इस प्रकार १३ जून के संवैधानिक विद्रोह का तात्कालिक अवसर उपस्थित किया था, अमन की पार्टी ने २ दिसम्बर १८५१ को, बोनापार्त के विरुद्ध संविधान की ओर से जनरल के रूप में जनता के सामने अनुनयपूर्वक एवं असफलतापूर्वक पेश किया। १३ जून का एक और नायक **वियेरा**, जिसकी राष्ट्रीय गार्ड के, उच्च वित्तीय मण्डलों के अधीनस्थ, कुछ सैनिकों का गिरोह लेकर जनवादी अख़बारों के दफ़्तरों में घुस कर पाशविक कृत्य करने के लिए राष्ट्रीय सभा के रंगमंच से बड़ी बड़ाई की गयी थी, यही वियेरा बोनापार्त के षड्यंत्र में शामिल कर

---

* "तुम लोग कोरे बकवादी हो!" – सं०

लिया गया, और राष्ट्रीय सभा के अपनी मौत की घड़ी में राष्ट्रीय गार्ड के संरक्षण से सर्वथा वंचित होने में मूलतः उसी का हाथ था।

१३ जून का एक और अर्थ था। पर्वत-दल ने बोनापार्त पर महाभियोग लाना चाहा था। अतः उसकी हार बोनापार्त की प्रत्यक्ष जीत थी, अपने जनवादी शत्रुओं पर उसकी वैयक्तिक विजय थी। विजय अमन की पार्टी ने प्राप्त की; बोनापार्त को केवल उसका फ़ायदा हासिल करना था। और यह उसने किया। १४ जून को पेरिस की दीवारों पर आप एक एलान पढ़ सकते थे जिसमें राष्ट्रपति बहुत हिचकिचाते हुए, मानो अपनी इच्छा के विरुद्ध घटना-क्रम से बिलकुल बाध्य होकर, अपने तपश्चर्यापूर्ण एकांतवास से बाहर निकलता है, तथा ग़लत समझ ली गयी साधुता का स्वांग भरते हुए, अपने विरोधियों द्वारा लगाई गई तोहमतों पर दुःख प्रकट करता है, और अपने व्यक्तित्व को अमन के ध्येय से अभिन्न जताने का दिखावा करते हुए वस्तुतः अमन के ध्येय को अपने व्यक्तित्व से अभिन्न सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त, यह सत्य है कि राष्ट्रीय सभा ने बाद में रोम-विरोधी अभियान को अनुमोदन प्रदान किया था, पर इस मामले में पहल बोनापार्त ने ही की थी। अब मुख्य गुरु सैमुएल को वैटिकन में गद्दीनशीन करने के बाद वह स्वयं राजा डेविड के रूप में तूलरी में प्रवेश करने की आशा कर सकता था[86]। उसने पादरियों को अपनी ओर कर लिया था।

जैसा कि हम देख चुके हैं, १३ जून का विद्रोह एक शांतिपूर्ण जुलूस तक सीमित था। इसलिए उसमें जंग जीतने की सरफ़राज़ी हासिल करने का कोई सवाल ही न था। किन्तु वीर नायकों और घटनाओं से रहित इस अकिंचन युग में, अमन की पार्टी ने इस रक्तहीन युद्ध को ही आस्टरलित्ज़ की दूसरी लड़ाई का रुतबा दे डाला[87]। सभामंचों से और अख़बारों में आम जनता के मुक़ाबले में जिसे अशक्त अराजकता का प्रतिनिधि कहा गया, सेना को अमन की ताक़त बता कर उसकी ख़ूब तारीफ़ें की गईं; शांगार्निये को "समाज का स्तम्भ" कह कर इतना उछाला गया कि वह स्वयं इस प्रवंचना में विश्वास करने लगा। किन्तु उन सैनिक दस्तों का जो संदिग्ध जान पड़ते थे, चुपके-चुपके, पेरिस से तबादला कर दिया गया और उन रेजीमेंटों को जिन्होंने चुनाव के समय सबसे अधिक जनवादी भावनाएं प्रदर्शित की थीं, फ़्रांस से अल्जीरिया निर्वासित कर दिया गया। सैनिकों में जो ज़्यादा हंगामा मचाने वाले थे उन्हें ताज़ीरी दस्तों में डाल दिया गया, और अंततः

अख़बारों को वारिकों से और वारिकों को नागरिक समाज से विलग करने का कार्य क्रमवद्ध रूप से पूरा किया गया।

यहां हम फ़्रांसीसी राष्ट्रीय गार्ड के इतिहास के निर्णायक परिवर्तन-विंदु पर आ गये हैं। १८३० में पुनःस्थापना की समाप्ति में निर्णायक भूमिका उसी की रही थी[88]। लूई फ़िलिप के ज़माने में वे सारे विप्लव विफल हुए थे जिनमें राष्ट्रीय गार्ड सेना के पक्ष में रहा। १८४८ की फ़रवरी के दिनों में, जब उसने वग़ावत के प्रति प्रतिकारशून्य तथा लूई फ़िलिप के प्रति द्विधायुक्त रुख़ प्रदर्शित किया, तो लूई फ़िलिप ने समझ लिया कि वह बाज़ी हार चुका है, और सचमुच वह बाज़ी हार गया। इस प्रकार यह धारणा पक्की हो गयी कि क्रांति राष्ट्रीय गार्ड के बिना विजयी नहीं हो सकती, न सेना उसके विरुद्ध सफल हो सकती है। यह नागरिकों की सर्व-शक्तिमत्ता के सम्बन्ध में सेना का एक अंधविश्वास था। १८४८ की जून की घटनाओं ने जब पूरे राष्ट्रीय गार्ड ने, सेना के साथ, वग़ावत को दवाया था, इस अंधविश्वास को दृढ़ किया था। बोनापार्त के पद-ग्रहण करने के बाद राष्ट्रीय गार्ड की कमान के प्रथम सैनिक डिवीज़न की कमान के साथ शांगार्नियें के व्यक्तित्व में अवैधानिक रूप से संयुक्त किये जाने से राष्ट्रीय गार्ड की स्थिति कुछ कमज़ोर पड़ गयी।

जिस प्रकार राष्ट्रीय गार्ड की कमान प्रधान सेनापति की एक उपाधि ज्ञात होने लगी, उसी प्रकार राष्ट्रीय गार्ड स्वयं सेना का एक पुछल्ला मात्र लगने लगा। अंततः १३ जून को उसकी शक्ति छिन्न-भिन्न कर दी गयी, न केवल इस प्रकार कि उसे आंशिक रूप से विघटित कर दिया गया, जैसा कि समय-समय पर पूरे फ़्रांस में कई बार किया गया, यहां तक कि उसके कुछ टुकड़े ही बच रहे। १३ जून का प्रदर्शन, सर्वोपरि, राष्ट्रीय गार्ड के जनवादी भाग का प्रदर्शन था। यह सच है कि उन्होंने हथियार नहीं उठाये थे, पर सेना के विरुद्ध अपनी वर्दियां निकाली थीं, और इन वर्दियों में ही तो सारा टोना था। फ़ौज ने देख लिया कि यह वर्दी साधारण ऊनी कपड़ा मात्र है। जादू का असर ख़त्म हो गया। जून १८४८ की घटनाओं के समय सर्वहारा के विरुद्ध पूंजीपति और निम्न-पूंजीपति राष्ट्रीय गार्ड के रूप में सेना के साथ संयुक्त हुए थे; १३ जून १८४९ को पूंजीपतियों ने निम्न-पूंजीवादी राष्ट्रीय गार्ड को सेना द्वारा तितर-बितर किये जाने दिया; २ दिसम्बर १८५१ को पूंजीपतियों का राष्ट्रीय गार्ड ख़ुद ग़ायब

हो चुका था, और बोनापार्त ने जब बाद में उसे भंग करने की आज्ञप्ति पर हस्ताक्षर किये तो उसने केवल इस तथ्य को अंकित किया। इस प्रकार पूंजीपति वर्ग ने सेना के विरुद्ध अपना अंतिम आयुध स्वयं तोड़ डाला था, पर यह काम उसे उस क्षण करना ही था जिस क्षण कि निम्न-पूंजीपति उसके पीछे चाकर की तरह हाथ बांधे खड़े न होकर उसके आगे विद्रोही के रूप में खड़े हो गये थे, उसी तरह जैसे स्वयं निरंकुश बन जाने के बाद निरंकुशता के विरुद्ध प्रतिरक्षा के अपने सभी साधनों को स्वयं नष्ट कर देना उसके लिए सामान्यतः अनिवार्य था।

इधर अमन की पार्टी ने उस सत्ता की पुनर्विजय का उत्सव मनाया जो १८४८ में उसके हाथों से चली गयी प्रतीत हुई थी और १८४९ में अटकावों से मुक्त होकर फिर प्राप्त हो गयी थी। यह विजयोत्सव जनतंत्र और संविधान को गालियां देकर, सभी भावी, वर्तमान और अतीतकालीन क्रांतियों को—उस क्रांति समेत जिसे उसके नेताओं ने सम्पन्न किया था—कोस कर, और ऐसे क़ानून पास कर मनाया गया, जिनसे अख़बारों का मुंह बंद किया गया, संघ-स्वातन्त्र्य नष्ट किया गया और घेरे की स्थिति का एक बुनियादी व्यवस्था के रूप में नियमन किया गया। इसके बाद राष्ट्रीय सभा अपनी अनुपस्थिति की अवधि के लिए एक स्थायी आयोग नियुक्त करने के बाद अगस्त के मध्य से अक्तूबर के मध्य तक के लिए स्थगित कर दी गयी। इस तातील के दौरान लेजिटिमिस्ट एम्स के साथ, आर्लियानिस्ट क्लेरमां के साथ, बोनापार्त शाही दौरे आयोजित करके तथा ज़िला-परिषदें संविधान को संशोधित करने से सम्बन्धित बहसों द्वारा अपनी साज़िशें करते रहे। ये उप-घटनाएं राष्ट्रीय सभा की समय-समय पर होने वाली तातीलों के दौरान बराबर चलती रहती हैं और इन पर मैं तभी विचार करूंगा जब ये घटनाएं बन जायें। यहां बस इतना ही और कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय सभा का लम्बे अर्सों के लिए रंगमंच से हट जाना और जनतंत्र के शीर्ष-स्थान में केवल एक आकृति को, भले ही वह आकृति एक उपहासजनक आकृति थी, अर्थात् लूई बोनापार्त को दिखता छोड़ जाना, जब कि उधर सार्वजनिक अपकीर्त्ति का दृश्य उपस्थित करती हुई अमन की पार्टी अपने राजतंत्रीय टुकड़ों में बंट कर पुनःस्थापना की अपनी परस्पर विरोधी इच्छाओं का अनुसरण कर रही थी, नासमझी का काम था। इन तातीलों में जब-जब संसद का कोलाहल शांत हो जाता था और उसका शरीर राष्ट्र में तिरोहित हो जाता था, यह एकदम स्पष्ट हो

जाता था कि इस जनतंत्र का पूरा का पूरा सच्चा रूप उपस्थित करने के लिए केवल एक चीज़ की कसर है: वह यह कि राष्ट्रीय सभा की तातील मुस्तकिल बना दी जाये और जनतंत्र के नारे – Liberté, égalité, fraternité* – की जगह द्वयर्थकता से मुक्त ये शब्द रख दिये जायें – Infanterie, Cavalerie, Artillerie! **

४

अक्तूबर १८४९ के मध्य में राष्ट्रीय सभा फिर बैठी। १ नवम्बर को बोनापार्त ने एक संदेश भेज कर उसे आश्चर्य में डाल दिया जिसमें उसने बारो – फ़ालू मंत्रिमण्डल की बर्ख़ास्तगी और एक नये मंत्रिमण्डल के गठन की सूचना दी थी। जैसी शिष्टाचारशून्यता के साथ बोनापार्त ने अपने मंत्रियों को निकाला, उस तरह लोग अपने नौकरों को भी नहीं निकालते। जो लातें राष्ट्रीय सभा को लगाने का उसका मंसूबा था, वे इस बीच बारो और उसकी मण्डली की पीठ पर बरस पड़ीं।

जैसा कि हम देख चुके हैं, बारो मंत्रिमण्डल लेजिटिमिस्टों और आर्लियानिस्टों को लेकर गठित हुआ था, वह अमन की पार्टी का मंत्रिमण्डल था। बोनापार्त को उसकी आवश्यकता जनतंत्रीय संविधान सभा को भंग करने, रोम का अभियान तैयार करने और जनवादी पार्टी को तोड़ने के लिए थी। इस मंत्रिमण्डल की आड़ में उसने ऐसा प्रगट किया कि वह बिलकुल नाचीज़ है, सरकारी सत्ता अमन की पार्टी के हाथों में सौंप दी और एक साधारण पात्र का वह चेहरा पहन लिया जो लूई फ़िलिप के ज़माने में अख़बारों के उत्तरदायी सम्पादक पहना करते थे – homme de paille***। अब उसने उस चेहरे को उतार डाला जो आकृति छिपाने लायक़ झीना-सा अवगुण्ठन न रह कर ऐसा लौह मुखच्छय बन गया था जो उसे अपनी आकृति का प्रदर्शन करने से रोक रहा था। उसने बारो मंत्रिमण्डल को इसलिए नियुक्त किया था कि अमन की पार्टी के नाम पर जनतन्त्रीय राष्ट्रीय सभा को छिन्न-

* स्वातंत्र्य, समता और बंधुत्व। – सं०

** पैदल सेना, घुड़सवार सेना और तोपख़ाना। – सं०

*** निःसत्व व्यक्ति का चेहरा। – सं०

भिन्न कर सके; उसने उसे बर्ख़ास्त इसलिए किया कि अपने नाम को अमन की पार्टी की राष्ट्रीय सभा से स्वतंत्र रूप में घोषित कर सके।

इस बर्ख़ास्तगी के लिए माक़ूल बहानों का अभाव न था। बारो मंत्रिमण्डल ने उन शिष्टाचारों की भी उपेक्षा कर रखी थी जिनसे जनतंत्र का अध्यक्ष राष्ट्रीय सभा के समकक्ष एक सत्ता के रूप में अपने को दिखा सकता। राष्ट्रीय सभा की तातील के वक़्त बोनापार्त ने एडगर नेई के नाम अपना एक पत्र प्रकाशित कराया जिसमें पोप* के अनुदार रुख़ पर उसने नापसंदगी ज़ाहिर की थी, उसी प्रकार जैसे उसने संविधान सभा के विरुद्ध एक पत्र प्रकाशित कराया था जिसमें उसने रोमन जनतंत्र पर आक्रमण के लिए ऊदिनो की प्रशंसा की थी। जब इस समय राष्ट्रीय सभा रोमन अभियान के व्यय को पास कर रही थी, विक्तोर ह्यूगो ने तथाकथित उदारतावाद से प्रेरित होकर इस पत्र पर बहस छेड़ी थी। इस ख़याल पर तिरस्कार और कोलाहलपूर्ण अविश्वास प्रगट करते हुए कि बोनापार्त के विचारों का कोई राजनीतिक महत्त्व भी हो सकता है, अमन की पार्टी ने उसे ठुकरा दिया था। उस समय किसी मन्त्री ने बोनापार्त को दी गई इस चुनौती के जवाब में उसकी ओर से कुछ नहीं कहा था। एक अन्य अवसर पर बारो ने अपनी मशहूर आलंकारिक भाषा में, जो भीतर से सदा खोखली होती थी, सभामंच से उन "गंदी साज़िशों" के सम्बन्ध में कुछ रोषपूर्ण शब्द कहे थे जो, उसके कथनानुसार, राष्ट्रपति के दरबारियों के बीच चल रही थीं। अंतिम बात यह कि मंत्रिमण्डल ने जहां राष्ट्रीय सभा से डचेस ऑफ़ आर्लियां के लिए विधवाओं की पेंशन दिलवाई वहां राष्ट्रपति का भत्ता बढ़ाने का प्रस्ताव उसने नामंज़ूर कर दिया। और बोनापार्त के व्यक्तित्व में शाही दावेदार और बदक़िस्मत जुएबाज़ का ऐसा संयोग हुआ था कि उसके मन की यह भावना कि वह फ़्रांसीसी साम्राज्य की पुनःस्थापना के लिए अवतरित हुआ है, इस अन्य भावना के साथ जुड़ी रहती थी कि फ़्रांस की जनता का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि वह उसके ऋण भरे।

बारो–फ़ालू मंत्रिमण्डल बोनापार्त द्वारा स्थापित प्रथम और अंतिम संसदीय मंत्रिमण्डल था। अतः उसकी बर्ख़ास्तगी एक निर्णायक मोड़ है। उसकी बर्ख़ास्तगी से अमन की पार्टी के हाथ से एक ऐसी चौकी निकल गई जो

---

* पियस नवें। –सं०

संसदीय राज क़ायम रखने के लिए अनिवार्य थी, अर्थात् वह कार्यकारी सत्ता का लीवर खो बैठी। यह बिलकुल स्पष्ट है कि फ़्रांस जैसे देश में जहां कार्यकारी सत्ता के अधीनस्थ पांच लाख से अधिक अहलकारों की एक पूरी फ़ौज है और इसलिए जिसके ऊपर एक विशाल जनसमुदाय के हित और रोज़ियां पूर्णतया आश्रित हैं; जहां राज्य नागरिक समाज को उसकी व्यापकतम जीवन-अभिव्यक्तियों से लेकर उसकी नगण्य गतिविधियों तक, उसके अस्तित्व की सामान्यतम विधाओं से लेकर उसके व्यक्तियों के निजी अस्तित्व तक, जाल में बांधे हुए है, उसे नियंत्रित और नियमित करता है तथा उसकी निगरानी और सरपरस्ती करता है; जहां अत्यंत असाधारण केन्द्रीकरण के द्वारा यह परजीवी निकाय एक ऐसी सर्वव्यापकता, सर्वज्ञान तथा एक ऐसी वर्धित गति-क्षमता और नमनीयता प्राप्त कर लेता है जिसकी विपरीत स्थिति असली सामाजिक निकाय की निस्सहाय परवशता और शिथिल आकारहीनता ही है—वहां, ऐसे देश में यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय सभा मंत्रि-पदों के अपने क़ब्ज़े से निकल जाने पर, अपना समस्त वास्तविक प्रभाव खो देती है, यदि वह राज्य प्रशासन को सरलीकृत न कर दे, सरकारी अहलकारों की संख्या यथासम्भव घटा न दे, और नागरिक समाज एवं जनमत को सरकारी सत्ता से स्वतंत्र स्वयं अपने अवयव न बनाने दे। किंतु इस विस्तृत राज्य-यंत्र को उसकी नाना शाखों समेत क़ायम रखने से ही तो फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग के भौतिक हित घनिष्ठतम रूप में अन्तःसम्बद्ध हैं। यहां उसे अपने फ़ाज़िल लोगों के लिए नौकरियां प्राप्त होती हैं; और मुनाफ़ा, सूद, लगान और मानदेय के रूप में आमदनी करने में जो कसर रह जाती है उसे वह सरकारी वेतन के रूप में पूरी करता है। दूसरी ओर पूंजीपति वर्ग के राजनीतिक हितों ने उसे रोज़-बरोज़ दमनकारी कार्रवाइयों को और इस वजह से राज्य-सत्ता के साधनों और अहलकारों की संख्या को बढ़ाते चले जाने को बाध्य किया, जब कि साथ ही उसे जनमत के विरुद्ध अबाध रूप से युद्ध करना तथा सामाजिक आन्दोलन के स्वतंत्र अवयवों को, जहां वह बिलकुल ही काट कर फेंकने में सफल न हुआ, वहां आशंकित भाव से उनका अंगभंग करने और उन्हें पंगु बनाने का काम करना पड़ा। इस प्रकार फ़्रांस का पूंजीपति वर्ग अपनी वर्ग-स्थिति के कारण एक ओर तो समग्र संसदीय सत्ता, और इसलिए स्वयं अपनी सत्ता की जीवंत अवस्थाओं का उन्मूलन करने को और दूसरी ओर अपनी वैरिन कार्यकारी सत्ता को दुर्धर्ष बनाने को विवश हुआ।

नये मंत्रिमण्डल को द' ओपूल मंत्रिमण्डल कहते थे। यह इस अर्थ में नहीं कि जनरल द' ओपूल को प्रधान मंत्री का ओहदा मिला था। बल्कि बारो की बर्ख़ास्तगी के साथ-साथ बोनापार्त ने इस ओहदे को ही मिटा दिया था, गो यह सच है कि इसकी वजह से जनतंत्र का अध्यक्ष एक वैधानिक बादशाह की क़ानूनी दृष्टि से निःसत्त्व स्थिति में डाल दिया गया—और वह भी ऐसे वैधानिक बादशाह की जिसके पास तख़्त या ताज, राजदंड या खड्ग, स्वतंत्रता या राज्य के उच्चतम पद का असंहार्य स्वामित्व न था, और इससे भी बुरी बात जो थी वह यह कि उसके पास राजकुल-व्यय के लिए संसदीय भत्ता न था। द'ओपूल मंत्रिमण्डल में संसदीय ख्याति का केवल एक आदमी था, वह था महाजन फ़ूल्द जो बड़े रोकड़ियों में सबसे कुख्यात लोगों में से था। वित्त-मंत्री का पद उसी के हिस्से पड़ा। पेरिस के बूर्स के निर्ख़ों को देख जाइए तो आप को पता चलेगा कि १ नवम्बर १८४९ के बाद से फ़्रांस के सरकारी ऋणपत्रों का भाव बोनापार्त की साख के गिरने और उठने के साथ गिरता और उठता रहा है। इस प्रकार बोनापार्त को बूर्स के रूप में अपना संघाती मिला और साथ ही कार्लिये को पेरिस का पुलिस-प्रीफ़ेक्ट बना कर उसने पुलिस को भी अपने क़ब्ज़े में कर लिया।

मंत्रियों की तब्दीली के परिणामों का घटनाओं के विकासक्रम में ही पता चल सकता था। शुरू में तो ऐसा हुआ कि बोनापार्त ने जो आगे क़दम बढ़ाया, उसके बदले वह और भी अधिक खुले रूप में पीछे खदेड़ दिया गया। अपने उद्दंडतापूर्ण संदेश के बाद उसे राष्ट्रीय सभा के प्रति वफ़ादारी का चापलूसी भरा एलान करना पड़ा। मंत्रिगण जब-जब उसके ज़ाती ख़ब्तों को विधिकारी प्रस्तावों के रूप में हिचकते-हिचकते पेश करने का साहस करते थे, तब-तब ऐसा लगता था कि अपनी इच्छा के ख़िलाफ़ और अपनी स्थिति से मजबूर होकर वे ऐसे उपहासास्पद आदेशों का पालन कर रहे हैं जिनकी निष्फलता के सम्बन्ध में उन्हें पहले से ही विश्वास था। जब-जब बोनापार्त मंत्रियों की पीठ के पीछे अपने इरादे ज़ाहिर कर बैठता और अपनी «idées napoléoniennes»[89] के साथ खिलवाड़ करता तो उसके अपने ही मंत्रिगण राष्ट्रीय सभा के मंच से उसे मानने से इनकार करते थे। तख़्त दख़ल करने की उसकी मनोकांक्षा मानो इसलिए लोगों के सामने प्रकट होती थी कि उसके विरोधियों की द्वेषयुक्त हंसी कभी ख़तम न होने पाये। उसका आचरण उस प्रतिभाशाली व्यक्ति की तरह का था जिसकी प्रतिभा को कोई मानता नहीं, और जिसे सारी दुनिया

मूर्ख समझती है। इस काल में उसे सभी वर्गों का जैसी पूर्ण मात्रा में तिरस्कार प्राप्त हुआ, वैसा और कभी नहीं हुआ था। पूंजीपति वर्ग जितने अबाध रूप में इस काल में शासन कर रहा था, उतना उसने और कभी नहीं किया था, उसने पहले कभी इतने निरंकुश रूप में शासन नहीं किया था, उसने इतने धूमधड़क्के के साथ अपने प्रभुत्व के अधिकार-चिह्न को कभी प्रदर्शित नहीं किया था।

मुझे यहां उसके विधिकारी कार्यकलाप का इतिहास नहीं लिखना है, इस काल में जिसका सार दो क़ानूनों में अंतर्निहित है—एक तो वह क़ानून जिसने मद्य कर को फिर से लागू किया और दूसरा शिक्षा क़ानून जिसने धर्म में अनास्था को अवैध बना दिया। जहां फ़्रांसीसियों के लिए शराब पीना अधिक कठिन हो गया, वहीं सत्य जीवन का गंगा-जल उन्हें और भी प्रचुर मात्रा में दिया गया। जहां मद्य कर सम्बन्धी क़ानून द्वारा पूंजीपति वर्ग ने पुरानी और घृणित फ़्रांसीसी कर-व्यवस्था को अनतिक्रम्य घोषित किया वहीं शिक्षा क़ानून द्वारा उसने आम जनता में वही पुरानी मनोवृत्ति सुनिश्चित बनानी चाही जो कर-व्यवस्था को चुपचाप बर्दाश्त करती थी। यह देख कर आश्चर्य होता है कि आर्लियानिस्टों ने, उदारपंथी पूंजीपतियों ने, वाल्तेयरवाद और सर्वसंग्रहवादी दर्शन के इन पुराने भक्तों ने फ़्रांसीसी मस्तिष्क की देखरेख अपने वंशानुगत शत्रु—जेजुइटों—के सुपुर्द कर दी। किंतु तख़्त के दावेदारों के सम्बन्ध में आर्लियानिस्टों और लेजिटिमिस्टों के बीच चाहे कितना भी विभेद क्यों न हो, एक बात दोनों ही समझते थे, यानी यह कि अपने संयुक्त शासन को सुरक्षित बनाने के लिए दो युगों के दमन के साधनों को संयुक्त करना आवश्यक है—जुलाई राजतंत्र के अधीनीकरण के साधनों के साथ पुनःस्थापना के अधीनीकरण के साधन जोड़ कर उन्हें मज़बूत बनाना ज़रूरी है।

ज़िलों में किसान, जिनकी सभी आशाएं निराशा में परिणत हो चुकी थीं, जो एक ओर अनाज की सस्ती क़ीमतों और दूसरी ओर करों और बन्धकों के बढ़ते हुए भार से कुचले जा रहे थे, जितने वे कभी कुचले नहीं गये थे, आन्दोलित होने लगे थे। स्कूलों के शिक्षकों के विरुद्ध कार्यवाही आरम्भ करके, जिन्हें पादरियों के अधीनस्थ कर दिया गया, मेयरों के विरुद्ध कार्यवाही करके, जिन्हें प्रीफ़ेक्टों के अधीनस्थ किया गया, तथा ख़ुफ़ियागीरी का एक जाल बिछा कर, जिसके सभी अधीनस्थ किये गये, उनके इस आन्दोलन का जवाब दिया गया। पेरिस तथा बड़े नगरों में प्रतिक्रिया की

आकृति अपने युग के अनुरूप ही है, वह जितना प्रहार करती है, उससे अधिक ललकारती है। देहातों में वह मलिन, अशिष्ट, ओछी, श्रांतकर और पीड़क रूप—एक शब्द में, पुलिस कांस्टेबल का रूप धारण करती है। यह समझ में आता है कि तीन वर्ष तक के पुलिस राज द्वारा, जिसे पादरी राज ने धार्मिक प्रतिष्ठा प्रदान किया था, अपरिपक्व ग्राम जनता का पस्तहिम्मत हो जाना लाज़िमी था।

अमन की पार्टी ने अल्पसंख्यकों के विरुद्ध राष्ट्रीय सभा के मंच से जितना भी जोश और वाक्चातुर्य दिखाया हो उसका वक्तव्य यीशुपंथियों की हां-हां और ना-ना की तरह एकाक्षरी ही रहा। सभा मंच हो या अख़बारों के कालम, सभी जगह वही एकाक्षरी वक्तव्य—उस पहेली की तरह विरस था जिसका उत्तर पहले ही से ज्ञात होता है। चाहे आवेदन-पत्र देने के अधिकार का प्रश्न हो या मद्य कर का, प्रेस-स्वातंत्र्य का सवाल हो या मुक्त व्यापार का, क्लबों की समस्या हो या म्युनिसिपल चार्टर की, व्यक्ति स्वातंत्र्य का प्रश्न हों या राज्य-वजट के नियमन का, बस वही एक मंत्र दुहरा दिया जाता, वही एक राग अलापा जाता, वही एक फ़ैसला सुना दिया जाता—"**समाजवाद**"! यहां तक कि पूंजीवादी उदारतावाद को भी **समाजवादी** घोषित किया गया, पूंजीवादी ज्ञानोद्दीप्ति समाजवादी क़रार दी गयी, पूंजीवादी वित्तीय सुधार को समाजवादी वताया गया। जहां पहले से नहर मौजूद हो, वहां रेलवे लाइन वनवाना समाजवाद था, तलवार के हमले से छड़ी लेकर वचाव करना भी समाजवाद था।

यह भाषा का अलंकार, फ़ैशन अथवा पार्टीबाज़ी का दांव मात्र न था। पूंजीपति वर्ग को इस तथ्य का सच्चा अंतर्ज्ञान था कि सामंतवाद के विरुद्ध उसने जो आयुध गढ़े थे, उनकी धारें अब उसी की ओर मुड़ गयी थीं; कि शिक्षा के जो साधन उसने तैयार किये थे, वे उसकी अपनी सभ्यता के ही विरुद्ध विद्रोह कर बैठे थे; कि जिन देवताओं की उसने सृष्टि की थी, वे सभी उससे दूर हो गये थे। वह इसे समझता था कि सभी तथाकथित नागरिक स्वतंत्रताएं और प्रगति के अवयव उसके **वर्ग** शासन के सामाजिक आधार तथा राजनीतिक शीर्ष, दोनों पर एक साथ प्रहार करते और इन्हें ख़तरे में डालते थे, और इसलिए "**समाजवादी**" वन गये थे। इस ख़तरे और इस हमले को उसने समाजवाद की—जिसके महत्त्व और जिसकी प्रवृत्ति को जितना तथाकथित समाजवाद स्वयं आंक सकता है, उससे अधिक सही-सही वह आंक सकता है—

कुंजी के रूप में बिलकुल ही ठीक परख लिया। अतः समाजवाद की समझ में नहीं आता कि क्यों जब वह मानव-कष्टों का भावुकतापूर्वक रोना रोता है, या यीशुपंथियों की भांति सुख-शान्ति की सहस्राब्दी के आगमन एवं विश्व बंधुत्वपूर्ण प्रेम के आविर्भाव की भविष्यवाणी करता है, या मानवतावादी शैली में मस्तिष्क, शिक्षा और स्वतंत्रता का राग अलापता है, अथवा मतवादी ढंग से सभी वर्गों के समन्वय और कल्याण की व्यवस्था के विषय में चिंतन करता है—हर समय ही पूंजीवाद उसके प्रति इतना निर्मम और निष्ठुर क्यों बना रहता है। किंतु, एक चीज़ जिसे पूंजीपति वर्ग ने नहीं समझा, वह थी यह तर्कसंगत निष्कर्ष कि उसके **अपने संसदीय शासन**, उसके सामान्य **राजनीतिक शासन** के विरुद्ध भी **समाजवादी** होने का आरोपपूर्ण निर्णय सुनाया जाना अनिवार्य था। जब तक पूंजीपति वर्ग का शासन पूर्णरूपेण संगठित नहीं हुआ था, जब तक उसे अपना विशुद्ध राजनीतिक रूप नहीं उपलब्ध हुआ था, तब तक दूसरे वर्गों का विरोध भी, उसी प्रकार, अपने विशुद्ध रूप में नहीं प्रगट हो सकता था, और जहां वह प्रगट हुआ भी था, वहां वह ख़तरनाक रुख़ नहीं अख़्तियार कर सकता था जो राज्य-सत्ता के विरुद्ध प्रत्येक संघर्ष को पूंजी-विरोधी संघर्ष में परिवर्तित कर देता है। अगर समाज में ज़िंदगी की हर हरकत से पूंजीपति वर्ग को "शान्ति" के लिए ख़तरा महसूस होने लगा था, तो वह यह कैसे इच्छा कर सकता था कि समाज के शीर्षस्थान में **अशान्ति का राज**, उसका अपना राज, **संसदीय राज**, वह राज जो स्वयं उसके एक प्रवक्ता के कथनानुसार संघर्ष में और संघर्ष द्वारा ही जीता है, बरक़रार रहे? संसदीय राज बहस-मुबाहसों में पलता है, ऐसी हालत में वह बहस-मुबाहसों पर किस प्रकार रोक लगा सकता है? उसमें प्रत्येक हित, प्रत्येक सामाजिक रीति सामान्य धारणाओं में परिवर्तित हो जाती है, और इन धारणाओं के ही रूप में उस पर वादानुवाद किया जाता है; ऐसी हालत में कोई हित, कोई रीति किस प्रकार विचारोपरि रहकर अपने को क़ायम रख सकती और निष्ठा की वस्तु के रूप में अपने को आरोपित कर सकती है? सभा मंच पर वक्ताओं के संघर्ष से समाचारपत्रों के क़लमघसीटू लेखकों के संघर्ष प्रेरित होते हैं; बैठकख़ानों और मद्य-गृहों के वाद-विवाद क्लब संसद रूपी वाद-विवाद क्लब के लाज़िमी तौर पर पूरक का काम करते हैं; संसद-प्रतिनिधि जनमत का निरंतर आह्वान करके जनमत को आवेदन-पत्रों द्वारा अपना असली अभिप्राय व्यक्त करने का अधिकार प्रदान करते हैं। संसदीय

शासन सब कुछ बहुमत के निर्णय पर छोड़ देता है; ऐसी हालत में संसद के बाहर स्थित विराट् बहुमत भला निर्णय करना क्यों न चाहेगा? राज्य के शीर्ष पर खड़े होकर आप बीन बजायेंगे तो नीचे के लोग नाचेंगे ही।

अतः जिसे पहले "उदारतावादी" कह कर उछाला गया था, उसे ही अब "समाजवादी" कह कर निन्दित करके, पूंजीपति क़बूल करते हैं कि उनका अपना हित यह प्रेरित कर रहा है कि उन्हें ख़ुद अपने शासन के ख़तरे से उबारा जाये; कि देश में शान्ति पुनःस्थापित करने के लिए ख़ुद उनके पूंजीवादी संसद को सबसे पहले शांत करना होगा, उसकी ज़बान बंद करनी होगी; कि उनकी सामाजिक सत्ता अक्षुण्ण रखने के लिए, उनकी राजनीतिक सत्ता छिन्न-भिन्न करनी होगी; कि पृथक् पूंजीपति दूसरे वर्गों का शोषण तथा सम्पत्ति, परिवार, धर्म और व्यवस्था का निर्विघ्न उपभोग इसी शर्त पर करता रह सकता है कि अन्य वर्गों की भांति उसका वर्ग भी राजनीतिक रूप से नाचीज़ बन जाये; कि अपनी थैली बचाने के लिए उन्हें तख़्त गंवाना होगा, कि जो तलवार उनकी रक्षा करती है उसे साथ ही डेमोक्लेस की तलवार बन कर उनके सिर के ऊपर लटकना भी होगा।

आम नागरिकों के हितों के क्षेत्र में राष्ट्रीय सभा ऐसी बोझ साबित हुई कि उदाहरणार्थ, पेरिस–एविग्नोन रेलवे सम्बन्धी बहस, जो १८५० की शीत ऋतु में आरम्भ हुई थी, २ दिसम्बर १८५१ तक भी किसी नतीजे पर न पहुंच सकी थी। जहां वह दमन नहीं कर रही होती थी, या प्रतिक्रियावादी लीक पर नहीं चल रही होती थी, वहां वह बंध्यापन के असाध्य रोग से पीड़ित होती थी।

जब कि बोनापार्त का मंत्रिमण्डल अंशतः अमन की पार्टी की भावना के अनुरूप क़ानूनों को बनाने में पेशक़दमी दिखा रहा था और अंशतः इन क़ानूनों पर अमल करने तथा प्रशासकीय कार्रवाई करने में कड़ाई से काम लेने में उस पार्टी को भी मात किये दे रहा था, तो दूसरी ओर, बोनापार्त अपने बचकाने सुझाव पेश करके लोकप्रियता प्राप्त करने की, राष्ट्रीय सभा के प्रति अपने विरोध को सामने लाने की तथा यह इशारा करने की कोशिश कर रहा था कि उसके पास एक गुप्त रक्षित कोष है जिसके छिपे हुए रत्नों को फ़्रांसीसी जनता को उपलब्ध कराने से परिस्थितियों ने उसे अस्थायी तौर पर रोक रखा है। मसलन, उसने सुझाव रखा कि ग़ैर-कमीशनयाफ़्ता अफ़सरों

के वेतन में चार सू प्रति दिन की वृद्धि करने का हुक्म जारी किया जाये। इसी क़िस्म का उसका एक प्रस्ताव यह था कि मज़दूरों के लिए आदरण प्रणाली पर ऋण देने वाले बैंक की स्थापना की जाये। पुरस्कार के रूप में धन और ऋण के रूप में धन प्राप्त करने की सम्भावनायें दिखा कर वह आम जनता को लुभाना चाहता था। अनुदान और ऋण—लंपट-सर्वहारा का वित्तीय विज्ञान, चाहे वे ऊंचे पद पर हों या नीचे, इन्हीं दो वस्तुओं तक सीमित है। बोनापार्त भी केवल इन्हीं कुंजियों को ऐंठना जानता था। किसी भी दावेदार ने आम जनता की मूढ़ता पर इससे अधिक मूढ़पन के साथ जुए का दांव नहीं लगाया है।

राष्ट्रीय सभा अपने मत्थे लोकप्रियता प्राप्त करने के बोनापार्त के इन स्पष्ट प्रयत्नों पर, इस बढ़ते हुए ख़तरे पर कि वह जोखोंबाज़, जिसको उसके ऋणों की चिन्ता एड़ लगा कर आगे बढ़ा रही थी और जिसके पास नेकनामी की कोई पूंजी न थी जो अंकुश का काम करती, आव या ताव देखे बिना बलात् सत्ता-अपहरण पर किसी भी दिन उतारू हो सकता है, बारम्बार आवेश में आ जाती थी। अमन की पार्टी और राष्ट्रपति के झगड़े ने ख़तरनाक सूरत अख़्तियार कर ली थी जब एक अप्रत्याशित घटना ने राष्ट्रपति को पश्चात्तापी के रूप में राष्ट्रीय सभा के सामने हाथ बांधे ला खड़ा किया। हमारा तात्पर्य १० मार्च १८५० के उपचुनावों से है। ये चुनाव उन स्थानों की पूर्ति के लिए कराये गये थे जो १३ जून के बाद कुछ प्रतिनिधियों के जेल भेज दिये जाने अथवा निर्वासित किये जाने के कारण रिक्त हुए थे। पेरिस ने सामाजिक-जनवादी उम्मीदवारों को ही निर्वाचित किया। उसने यहां तक किया कि अपने अधिकांश वोट जून १८४८ के देफ़्लोत नामक एक बाग़ी को दे डाले। पेरिस के निम्न-पूंजीपतियों ने, जिनका मज़दूरों के साथ गठबंधन था, १३ जून १८४९ की अपनी हार का इस तरह बदला लिया। ऐसा ज्ञात होता था कि ख़तरे की घड़ी में वह रणक्षेत्र से केवल इसलिए ग़ायब हो गया था कि अधिक अनुकूल अवसर पर अधिक सैन्यदल लेकर तथा अधिक साहसपूर्ण रण के नारे के साथ फिर उपस्थित हो सके। एक परिस्थिति ऐसी थी जो चुनाव की इस जीत के ख़तरे को बहुत अधिक बढ़ाती ज्ञात होती थी: सेना ने पेरिस के अन्दर बोनापार्त के एक मंत्री लाहित्त के विरुद्ध जून के बाग़ी को अपने वोट दिये, तथा ज़िलों के अन्दर अधिकतर पर्वत-दल वालों को अपने वोट दिये, अमन शत्रुओं के मुक़ाबले जिनका पलड़ा

यहां भी भारी रहा यद्यपि उतने निर्णायक रूप में नहीं जितना कि पेरिस में रहा था।

बोनापार्त ने सहसा अपने को एक बार फिर क्रांति के रूबरू पाया। २९ जनवरी १८४९ और १३ जून १८४९ की तरह १० मार्च १८५० को भी वह झट अमन की पार्टी की आड़ में छिप गया। उसने ख़ुशामदें कीं, नाक रगड़ कर माफ़ी मांगी, संसदीय बहुमत की मर्ज़ी के मुताबिक़ मंत्रिमण्डल नियुक्त करने की बात कही, यहां तक किया कि आर्लियानिस्टों और लेजिटिमिस्टों के पार्टी-नेता थियेर, बेरिये, ब्रोलिये, मोले जैसे लोगों, यानी तथाकथित बुर्गग्राफ़ों से[९०] विनती की कि वे राज्य की बागडोर अपने हाथों में ले लें। अमन की पार्टी इस अवसर से, जो फिर लौटकर नहीं आने को था, लाभ उठाने के अयोग्य सिद्ध हुई। जो अधिकार उसे देने की बात कही जा रही थी उसे साहस के साथ हाथ में ले लेना तो दूर रहा, उसने बोनापार्त को इसके लिये भी विवश नहीं किया कि वह १ नवम्बर को बर्ख़ास्त किये गये मंत्रिमण्डल को फिर से बहाल करे। उसने अपने क्षमादान द्वारा उसे नीचा दिखा कर तथा दें'ओपूल मंत्रिमण्डल के साथ बारोश को नत्थी कर संतोष कर लिया। ये बारोश महाशय सरकारी वकील की हैसियत से बूर्ग स्थित हाईकोर्ट के सामने पहली बार १५ मई के क्रान्तिवादियों के विरुद्ध और दूसरी बार १३ जून के जनवादियों के विरुद्ध ख़ूब गरजे-तड़पे थे, और दोनों बार इसलिये कि राष्ट्रीय सभा पर प्राणघातक प्रहार करने का प्रयत्न किया गया था। किन्तु बाद में उसी राष्ट्रीय सभा का मान भंग करने में जितना बड़ा योगदान इन महाशय ने किया, उतना बोनापार्त के अन्य किसी मंत्री ने नहीं किया। और २ दिसम्बर १८५१ के बाद तो हम इन्हें सीनेट के उपाध्यक्ष के उच्चवेतनयुक्त पद पर आराम के साथ कुर्सीनशीन पाते हैं। इन्होंने क्रांतिवादियों की थाली में इसलिए थूका था कि बोनापार्त उसे चट कर सके।

जहां तक सामाजिक-जनवादी पार्टी का सवाल था, वह मानो स्वयं अपनी विजय को फिर से संदिग्ध बनाने और उसकी धार को कुन्द करने के बहाने ढूंढ़ रही थी। पेरिस का एक नव-निर्वाचित प्रतिनिधि, वीदाल साथ ही स्ट्रासबुर्ग से भी चुना गया था। पार्टी की हिदायत पर उससे पेरिस की सीट छोड़वा दी गयी और स्ट्रासबुर्ग की सीट रखवायी गयी। इस प्रकार जनवादी पार्टी ने, अपनी निर्वाचन-विजय की पूर्णाहुति डाल कर और ऐसा करके अमन

की पार्टी को तत्क्षण संसद के भीतर अपने साथ भिड़ने के लिये वाध्य करने के वदले, शत्रु को ऐसे क्षण युद्ध करने के लिये विवश करने के वदले जव जनता में उत्साह था और सेना की मनःस्थिति अनुकूल थी, मार्च और अप्रैल के महीने में नया चुनाव आंदोलन कराके पेरिस को उबा दिया; दूसरी वार के इस आरज़ी चुनाव के खेल में जनता के जाग्रत आवेगों को थककर ठंडा हो जाने दिया, क्रांतिकारी स्फूर्ति को वैधानिक सफलताओं द्वारा अपनी तुष्टि करने दी, उसे ओछी वंदिशों, खोखली उद्घोषणाओं और नक़ली आंदोलनों में अपने को क्षय करने दिया, पूंजीपतियों को एकजुट होने और अपनी तैयारियां कर लेने का अवसर दिया, और अंतिम बात यह कि मार्च के निर्वाचनों के महत्त्व को अप्रैल के उपनिर्वाचन में, भावुकतापूर्ण भाष्यों द्वारा—अपने चुनाव में एजेन सु के भाषणों द्वारा —विनष्ट होने दिया। तात्पर्य यह कि १० मार्च को उसने "एप्रिल फ़ूल" में परिवर्तित कर दिया।

संसदीय वहुमत अपने विरोधियों की कमज़ोरी को समझता था। अमन की पार्टी के सत्रह वुर्गग्राफ़ों ने—वोनापार्त ने उसी के हाथ में आक्रमण के निर्देशन का भार और उत्तरदायित्व सौंप रखा था—एक नये चुनाव क़ानून का मसविदा तैयार किया जिसे पेश करने का दायित्व फ़ोशे को दिया गया जिसने स्वयं मांग की थी कि उसी को यह इज्ज़त वख़्शी जाये। ८ मई को उसने सर्व-मताधिकार समाप्त कर देने, निर्वाचकों पर निर्वाचन-क्षेत्र में तीन वर्ष के आवास की क़ैद लगाने, और मज़दूरों के सम्वन्ध में उनके इस आवास का प्रमाण मालिक के प्रमाण-पत्र पर आश्रित कर देने का विधेयक पेश किया।

जनवादियों ने जिस तरह वैधानिक निर्वाचन-युद्ध के समय, क्रांतिकारी ढंग से, मस्तिष्क को आंदोलित किया और गरजे-वरसे थे, उसी तरह हाथ में हथियार लेकर उस विजय के गम्भीर स्वरूप को सिद्ध कर दिखाने की आवश्यकता के समय उन्होंने विधानवादी ढंग से अमन का, भव्य शांति (calme majestueux) का, क़ानूनी कार्रवाई का उपदेश देना आरम्भ किया, जिसका अर्थ यह था कि प्रतिक्रान्ति की इच्छा की, जो क़ानून बनकर सिर पर चढ़ वैठी थी, आंख मूंद कर अधीनता स्वीकार कर ली जाये। बहस के समय पर्वत-दल ने अमन की पार्टी के क्रान्तिकारी आवेग के जवाव में अपने को क़ानून के दायरे में महदूद रखने वाले कूपमण्डूकों का आवेगशून्य रुख़ अपना करके और उस पार्टी को क्रांतिकारी रवैया अख़्तियार करने की भयानक

फटकार से धराशायी कर उसे शर्मिंदा कर दिया। नव-निर्वाचित सदस्यगण भी अपने शालीन और संयत आचरण द्वारा यह सिद्ध करने को व्यग्र थे कि अराजकतावादी कहकर उनकी आलोचना करना और चुनाव में उनकी सफलता को क्रांति की जीत समझना भ्रांत धारणा है। ३१ मई को नया चुनाव क़ानून पास हो गया। पर्वत-दल ने राष्ट्रपति की जेब में चुपके से एक विरोध-पत्र डाल कर संतोष कर लिया। चुनाव-क़ानून के बाद एक नया अख़बार-क़ानून बनाया गया जिसके द्वारा क्रांतिकारी समाचारपत्रों का पूरी तौर से गला घोंट दिया गया।[91] वे इसके पात्र थे। इस जल-प्रलय के बाद केवल दो पूंजीवादी पत्र, «*National*» और «*Presse*»[92] क्रांति की सबसे आगे की चौकियों के रूप में बच रहे।

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार मार्च और अप्रैल में जनवादी नेताओं ने पेरिस की जनता को नक़ली लड़ाई में फंसा देने की पूरी कोशिश की थी और किस प्रकार उन्होंने ८ मई के बाद असली लड़ाई में उतरने से उसे रोकने की पूरी कोशिश की। इसके अतिरिक्त, हमें यह हरगिज़ न भूलना चाहिये कि १८५० उद्योग और वाणिज्य की समृद्धि के सबसे शानदार वर्षों में से था, जिसके फलस्वरूप पेरिस के मज़दूरों के बीच बेकारी न रही थी। पर ३१ मई १८५० के चुनाव-क़ानून ने राजनीतिक सत्ता में किसी प्रकार से भी हिस्सा लेने से उन्हें वंचित कर दिया। उसने उन्हें संघर्ष के अखाड़े से ही दूर हटा दिया। उसने मज़दूरों को फिर अछूतों की सी उस स्थिति में डाल दिया जिसमें वे फ़रवरी क्रांति से पहले थे। उन्होंने ऐसी घटना से मुक़ाबला पड़ने के समय जनवादियों को अपना नेतृत्व करने देकर और क्षणिक चैन और आराम की ख़ातिर अपने वर्ग के क्रांतिकारी हितों को भुला कर विजयिनी शक्ति होने का सम्मान त्याग दिया, भाग्य के सामने घुटने टेक दिये, यह सिद्ध किया कि जून १८४८ की हार ने उन्हें वर्षों के लिये लड़ाई के मैदान से हटा दिया था तथा ऐतिहासिक प्रक्रिया को इस समय फिर उन्हें पूछे बिना ही अग्रसर होना होगा। जहां तक निम्न-पूंजीवादी जनवाद का सम्बन्ध है, जिसने १३ जून को ललकार कर कहा था कि "लेकिन अगर सर्व-मताधिकार पर हमला किया गया तो हम दिखा देंगे!", उसने अब यह दलील देकर अपनी तसल्ली कर ली कि जो प्रतिक्रांतिकारी प्रहार उसके ऊपर हुआ था वह प्रहार न था और ३१ मई का क़ानून क़ानून न था। मई १८५२ के दूसरे रविवार को हर फ्रांसीसी मतदान-केन्द्र पर एक हाथ में मतदान-पत्र और

दूसरे में तलवार लेकर पहुंचेगा। यह भविष्यवाणी करके उसने संतोष कर लिया। अंतिम बात यह कि सेना को उसके उच्च अफ़सरों ने मार्च और अप्रैल १८५० के निर्वाचन के लिये ठीक उसी प्रकार अनुशासित किया जिस प्रकार वह २८ मई १८४९ के निर्वाचन के लिये अनुशासित की गयी थी। पर इस बार उसने निश्चयात्मक रूप से कहा, "क्रांति के बहकावे में हम तीसरी बार नहीं आयेंगे!"

३१ मई १८५० का क़ानून पूंजीपति वर्ग द्वारा coup d'état था। अभी तक उसने क्रांति पर जो जीतें हासिल की थीं, वे सब अस्थायी प्रकार की थीं। विद्यमान् राष्ट्रीय सभा के मंच से हटते ही वे ख़तरे में पड़ जाती थीं। वे नये आम चुनाव के अनिश्चित परिणाम पर आश्रित थीं, और १८४८ से चुनाव के इतिहास ने यह अकाट्य रूप में सिद्ध किया था कि आम जनता के ऊपर पूंजीपति वर्ग का नैतिक प्रभाव उस मात्रा में घटता जाता था जिस मात्रा में उसका वास्तविक प्रभुत्व बढ़ता जाता था। १० मार्च को सर्वमताधिकार ने प्रत्यक्ष रूप से अपने को पूंजीपतियों के प्रभुत्व के विरुद्ध घोषित किया था। पूंजीपतियों ने इसका जवाब सर्वमताधिकार को क़ानून बाहर करके दिया। अतः जो चीज़ें वर्ग-संघर्ष के लिये ज़रूरी थीं उनमें ३१ मई का क़ानून भी था। दूसरी ओर, संविधान के अनुसार राष्ट्रपति का चुनाव तभी वैध हो सकता था जब कम से कम २० लाख वोट मिलें। यदि राष्ट्रपति पद के उम्मीदवारों में से किसी को कम से कम इतने वोट न मिलें तो राष्ट्रीय सभा उन पांच उम्मीदवारों में से एक को राष्ट्रपति चुनेगी जिनको सबसे अधिक वोट मिले हों। जिस समय संविधान-सभा ने यह क़ानून पास किया था, उस समय एक करोड़ निर्वाचक वोटर-सूची में नामांकित थे। अतः, उसकी राय में वोट देने के अधिकारी लोगों का पांचवां भाग राष्ट्रपति पद के निर्वाचन को वैध बनाने के लिये पर्याप्त था। ३१ मई के क़ानून ने कम से कम तीस लाख नामों को वोटर-सूची से ख़ारिज कर दिया, वोट देने के अधिकारी लोगों की संख्या घटा कर ७० लाख कर दी, किन्तु इसके बावजूद राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिये कम से कम वोटों की क़ानूनी क़ैद बीस लाख ही रहने दी। ऐसा करके उसने कम से कम वोटों की क़ानूनी क़ैद कुल कारगर वोटों के पांचवें भाग से बढ़ा कर तीसरा भाग कर दिया, अर्थात् उसने राष्ट्रपति के निर्वाचन को जनता के हाथों से चुपके-चुपके निकाल कर राष्ट्रीय सभा के हाथों में कर देने का पूरा बन्दोबस्त किया। इस प्रकार ऐसा लगा कि ३१

मई के चुनाव-क़ानून द्वारा अमन की पार्टी ने राष्ट्रीय सभा के और राष्ट्रपति के निर्वाचनों को समाज के गतिशून्य भाग के हवाले करके अपने शासन को दोहरे तौर पर सुरक्षित कर लिया है।

५

ज्यों ही क्रांतिकारी संकट झेल लिया गया और सर्व-मताधिकार का ख़ातमा कर दिया गया, राष्ट्रीय सभा और बोनापार्त का संघर्ष फिर आरम्भ हो गया।

संविधान में बोनापार्त का वेतन ६ लाख फ़्रैंक तय किया गया था। पदासीन होने के ६ महीने बीतते न बीतते उसने यह रक़म दुगुनी करा ली, क्योंकि ओदिलां वारो ने तथाकथित प्रतिनिधान धन के नाम पर राष्ट्रीय संविधान सभा से ६ लाख फ़्रैंक प्रति वर्ष का एक अतिरिक्त भत्ता मंजूर करवा लिया। १३ जून के बाद बोनापार्त ने वैसे ही अनुरोध फिर करवाये, पर इस बार वारो की ओर से कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला। अब, ३१ मई के बाद, उसने फ़ौरन स्थिति की अनुकूलता से लाभ उठाया और अपने मंत्रियों से राष्ट्रीय सभा में राजकुल-व्यय के लिये तीस लाख का भत्ता प्रस्तावित करवाया। लम्बे अर्से तक शोहदों की जोखोंवाज़ ज़िंदगी बिता चुकने के कारण उसमें एक ज़बरदस्त स्पर्शक शक्ति विकसित हो गयी थी जिससे वह उन दुर्बलता के क्षणों को झट ताड़ लेता था जिनमें अपने पूंजीपतियों से वह धन हथिया सकता था। वह ब्लैकमेल का नियमित धंधा करता था। राष्ट्रीय सभा ने उसकी सहायता एवं उसकी अवेक्षा से जनता की सार्वभौमता का अतिक्रमण किया था। उसने धमकी दी कि अपनी थैलियों का मुंह खोल दो और तीस लाख सालाना देकर मेरा मुंह बंद करो, वर्ना मैं जनता के सामने तुम्हारे अपराध का भण्डाफोड़ कर दूंगा। राष्ट्रीय सभा ने तीस लाख फ़्रांसीसियों का मताधिकार छीना था। बोनापार्त की मांग थी कि हर फ़्रांसवासी पर, जो चालू सिक्का नहीं रह गया था, एक चालू सिक्का यानी ठीक तीस लाख मेरे हवाले करो। उसकी दलील थी कि ६० लाख आदमियों ने मुझे चुना है, अब मुझे जितने वोटों से अतीतप्रभावी रूप में वंचित किया गया है, उतने का मुझे हरजाना मिलना चाहिये। राष्ट्रीय सभा के आयोग ने इस अड़ियल आवेदक का दावा ख़ारिज कर दिया। बोनापार्ती अख़बारों ने धमकियां दीं। राष्ट्रीय सभा क्या ऐसे समय राष्ट्रपति से अपना नाता तोड़ सकती है जब कि

वह राष्ट्र के जनसमुदाय से सिद्धान्ततः निश्चित रूप में अपना नाता तोड़ चुकी है? यह सच है कि उसने राजकुल-व्यय के लिये सालाना भत्ता नामंजूर कर दिया, पर उसने, केवल इस बार के लिये, इक्कीस लाख साठ हज़ार फ्रैंक का अतिरिक्त भत्ता स्वीकृत किया। ऐसा करके उसने दोहरी कमज़ोरी दिखायी—एक तो रक़म मंजूर की, और दूसरे अपनी झुंझलाहट ज़ाहिर करके यह प्रगट किया कि यह रक़म अनिच्छा से मंजूर की जा रही है। आगे चलकर हम देखेंगे कि बोनापार्त को किस काम के लिये इस रक़म की ज़रूरत थी। सर्वमताधिकार की समाप्ति के तत्काल बाद की इस परेशानी की अवधि में, उस अवधि में जिसमें बोनापार्त ने मार्च और अप्रैल के संकट के समय का अपना विनम्रतापूर्ण रुख़ त्याग कर जनता का अधिकारहरण करनेवाली संसद के प्रति चुनौती का उद्धत भाव अपनाया था, राष्ट्रीय सभा तीन महीने—११ अगस्त से ११ नवम्बर तक के लिये स्थगित हो गयी। अपनी जगह पर वह अठाईस सदस्यों का एक स्थायी आयोग बैठा गयी जिसमें कोई बोनापार्तवादी न था, पर कुछ नरम जनतंत्रवादी अवश्य थे। १८४९ के स्थायी आयोग में केवल अमन की पार्टी के लोग और बोनापार्तवादी थे। किंतु उस समय अमन की पार्टी ने अपने को स्थायी रूप से क्रांति का विरोधी घोषित कर रखा था। इस बार संसदीय जनतंत्र ने अपने को स्थायी रूप से राष्ट्रपति के विरुद्ध घोषित किया था। ३१ मई के क़ानून के बाद यही एकमात्र प्रतिद्वंद्वी था जो अब भी अमन की पार्टी के मुक़ाबले में खड़ा था।

नवम्बर १८५० में जब राष्ट्रीय सभा फिर बैठी तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि राष्ट्रपति के साथ हुई अब तक की मामूली झड़पों की जगह दोनों शक्तियों के बीच एक ज़बरदस्त और निर्मम संघर्ष, एक जीवन और मृत्यु का संघर्ष अनिवार्य हो गया है।

जैसा १८४९ में हुआ था, उसी प्रकार इस बार के संसदीय मध्यावकाश में भी अमन की पार्टी के गुट अलग-अलग हो गये और प्रत्येक पुनःस्थापना सम्बन्धी अपनी-अपनी साज़िशों में, जिन्हें लूई फ़िलिप की मृत्यु से नया बल प्राप्त हुआ था, लग गया। लेजिटिमिस्टों के बादशाह ऑरी पंचम ने तो बाक़ायदा अपना एक मंत्रि-परिषद् भी मनोनीत कर दिया जो पेरिस में रहती थी और जिसमें स्थायी आयोग के सदस्य भी शामिल थे। अतएव बोनापार्त को भी यह अधिकार मिल गया कि फ़्रांस के ज़िलों का दौरा करे और जिस नगर की श्री-वृद्धि करे उसके झुकाव के अनुसार कहीं कमोबेश छिपे और कहीं

कमोवेश खुले रूप में पुनःस्थापन सम्वन्धी अपनी योजनाओं को प्रकाश में लाये और अपने लिये वोट मांगे। उसके इन दौरों में, जिन्हें महान् सरकारी पत्र «Moniteur» तथा बोनापार्त के छोटे-छोटे ग़ैरसरकारी पत्रों को, स्वभावतः, विजय-दौरों के रूप में मनाना पड़ता था, १० **दिसम्बर-समाज** से सम्बद्ध लोगों का एक दल सदा उसके साथ रहता था। यह समाज १८४९ में बना था। एक परोपकारी समाज की स्थापना के बहाने पेरिस के लंपट-सर्वहारा का गुप्त संगठन बनाया गया, जिसके प्रत्येक विभाग का नेता एक बोनापार्तपंथी गुर्गा था और पूरे समाज का सरदार एक बोनापार्तपंथी जनरल था। पतित roués*, जिनकी रोज़ी का ज़रिया और वंश-मूल संदिग्ध थे, पूंजीपतियों की दिवालिया और सट्टेबाज़ प्रशाखाएं, तथा इनके साथ-साथ आवारे, फ़ौज से निकले सिपाही, जेल से छूटे फ़ौजदारी मुजरिम, जहाज़ से भागे बंधुवे मल्लाह, ठग, सफ़री दवाफ़रोश, lazzaroni[93], पाकेटमार, पक्के ४२०, जुआड़ी, maquereaus**, चकलों के मालिक, ख़लासी, literati***, बाजेवाले, चिथड़े चुनने वाले, सान धरने वाले, कसेरे, भिखमंगे,—यानी वह पूरा, इधर-उधर बिखरा हुआ, अनिश्चित शक्ल का विघटित जन-समुदाय जिसे फ़्रांसीसी लोग la bohème**** कहकर पुकारते हैं—इसी अपनायती समूह को लेकर बोनापार्त ने अपने १० दिसम्बर-समाज का अंतर्भाग गठित किया था। बेशक यह एक "परोपकारी समाज" था—इस मानी में कि बोनापार्त की ही तरह इसके सभी सदस्य श्रमशील राष्ट्र के मत्थे अपना उपकार करने की इच्छा रखते थे। जो बोनापार्त **लंपट-सर्वहारा का सरताज** है, जो इसी जगह उस हित को पूंजीभूत रूप में पाता है जिसका वह स्वयं अनुसरण करता है, जो इस तलछट में, इस कूड़े-कचरे में, सभी वर्गों के इस मल में उस वर्ग को चीन्हता है जिसे वह बेशर्त अपना आधार बना सकता है, वही बोनापार्त असली बोनापार्त, बोनापार्त sans phrase***** है। चूंकि वह स्वयं एक पुराना roué****** है, इसलिये उसकी कल्पना में राष्ट्रों का

* लंपट, ऐयाश, लफ़ंगे।—सं०

** रण्डियों के दलाल।—सं०

*** क़लमघसीटू लेखक।—सं०

**** स्वच्छंद सामाजिक आचार-विचार और नैतिकता का व्यक्ति।—सं०

***** शब्दावरण रहित।—सं०

****** चालबाज़।—सं०

ऐतिहासिक जीवन और उनके राज्यीय कार्यकलाप भोंडे से भोंडे अर्थ में प्रहसन हैं, एक व्यंग्य-रूपक मात्र हैं जिनमें अभिनेताओं के भव्य परिधान, शब्द और मुद्राएं ओछी चालबाज़ी के लिये टट्टी की ओट मात्र हैं। स्ट्रासबुर्ग के उसके अभियान में ऐसा ही हुआ था, जहां एक सिखाये स्विस गिद्ध ने नेपोलियानी उक़ाव का पार्ट किया था। इसी प्रकार बूलोन की अपनी चढ़ाई के लिये उसने लन्दन के कुछ भाड़े के टट्टुओं को फ़्रांसीसी फ़ौजी वर्दियों में उतारा था। वे सेना के प्रतिनिधि थे।[94] अपने १० दिसम्बर-समाज में वह दस हज़ार लुच्चे-लफ़ंगों को इकट्ठा करता है जो उसी प्रकार जनता की भूमिका में उतरेंगे जिस प्रकार निक बाटम शेर की भूमिका में उतरा था। जब पूंजीपति स्वयं एक पूरा-पूरा स्वांग प्रस्तुत कर रहे थे, और उसे बड़ी ही संजीदगी के साथ, फ़्रांसीसी नाट्य पद्धति के एक भी पण्डिताऊ नियम की अवहेलना किये बिना प्रस्तुत कर रहे थे, और कुछ तो ठगे गये थे तथा कुछ अपने राज कार्य के अभिनय के संजीदा होने का सचमुच विश्वास कर रहे थे, ऐसे समय बोनापार्त जैसे जोखोंबाज़ की, जो प्रहसन को विशुद्धतः प्रहसन ही मानता था, बाज़ी बीस पड़ना लाज़िमी था। हां, अपने संजीदा दुश्मन को ख़त्म कर चुकने के बाद, जब वह स्वयं अपनी शाही भूमिका को संजीदा नज़र से देखने लगा है और नेपोलियन का चेहरा पहन कर अपने को असली नेपोलियन समझने लगा है तभी वह विश्व की अपनी धारणा का स्वयं शिकार हो जाता है और एक संजीदा विदूषक बन जाता है जो विश्व इतिहास को प्रहसन न समझ कर अपने प्रहसन को ही विश्व इतिहास समझने लगा है। जो चीज़ समाजवादी मज़दूरों के लिये राष्ट्रीय वर्कशॉप थी, जो चीज़ पूंजीवादी जनतंत्रवादियों के लिये गश्ती गार्ड थी, वही बोनापार्त के लिये १० दिसम्बर-समाज – उसके लिये विशिष्ट, पार्टी का लड़ाकू दस्ता – थी। जब वह यात्रा पर निकलता था तो इस समाज के दस्ते रेलों में भर कर उसके लिये जनता का काम करने के लिये भेजे जाते थे, वे जन-उत्साह का दिखावा प्रस्तुत करते थे, ज़ोर-शोर से «Vive l'Empereur!»* के नारे लगाते थे, जनतंत्रवादियों को अपमानित करते और पीटते थे; बेशक वे ऐसा पुलिस की संरक्षकता में करते थे। पेरिस वापसी के समय वे अगले दस्ते का काम करते थे, इसके पहले कि विरोधी प्रदर्शन हो सकें ख़ुद प्रदर्शन करते

---

* "सम्राट की जय!" – सं०

थे, या विरोधी प्रदर्शन को तितर-वितर करते थे। १० दिसम्बर-समाज बोनापार्त की बिलकुल अपनी चीज़ थी, उसकी अपनी कृति, अपनी सूझ थी। इसके अतिरिक्त जो कुछ वह हस्तगत करता है, वह परिस्थितियां उसके हाथों में रख देती हैं; और जो कुछ वह करता है, वह परिस्थितियां उसके लिये कर देती हैं, या दूसरों के किये की नक़ल करके वह संतोष करता है। पर वह बोनापार्त जो बाहर, नागरिकों के सामने, व्यवस्था, धर्म, परिवार और सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में औपचारिक शब्दावली दुहराता है, और जिसके पीछे शुफ़्टर्लेयों और श्पीगलबर्गों की गुप्त समिति है, जिसके पीछे अव्यवस्था, वेश्यावृत्ति और चोरी-बटमारी का समाज है, वह, मौलिक रचयिता की अपनी हैसियत में स्वयं बोनापार्त है; १० दिसम्बर-समाज का इतिहास उसका अपना इतिहास है। यह एक अपवादस्वरूप घटना थी कि अमन की पार्टी के जन-प्रतिनिधियों पर दिसम्बरपंथियों ने अपनी लाठियों का अभ्यास कर डाला। इतना ही नहीं। पुलिस कमिश्नर योन ने जिसकी सेवायें राष्ट्रीय सभा को सौंपी गईं और जो उसकी सुरक्षा के लिये ज़िम्मेदार था, आले नामक एक व्यक्ति के बयान के आधार पर स्थायी आयोग को सूचना दी कि दिसम्बर-पंथियों के एक भाग ने जनरल शांगार्नियें और राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष दुपिन को मार डालने का फ़ैसला किया है और यह कार्य सम्पन्न करने के लिये अपने आदमी अभी से चुन लिये हैं। इस सूचना को पाकर दुपिन को जो दहशत हुई, उसे हम आसानी से समझ सकते हैं। १० दिसम्बर-समाज की संसदीय जांच, अर्थात् बोनापार्ती गुप्त जगत् का अतिक्रमण अब अवश्यम्भावी ज्ञात होने लगा। राष्ट्रीय सभा की बैठक आरंभ होने के ठीक पहले बोनापार्त ने दूरदर्शिता प्रदर्शित करते हुए अपने समाज को तोड़ दिया। स्वभावतः, यह कार्य केवल काग़ज़ी तौर पर किया गया था, क्योंकि १८५१ के अंत में, एक विशद स्मृति-पत्र तैयार करके, पुलिस-प्रीफ़ेक्ट कार्लिये दिसम्बरपंथियों को सचमुच विघटित कर देने के लिये उसे प्रेरित करने की अब भी व्यर्थ कोशिश कर रहा था।

१० दिसम्बर-समाज उस समय तक बोनापार्त की निजी फ़ौज बना रहा जब तक वह राज्य सेना को ही १० दिसम्बर-समाज में परिवर्तित करने में सफल नहीं हो गया। इसकी पहली कोशिश बोनापार्त ने राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन स्थगित होने के कुछ ही समय बाद की; और तुर्रा यह कि यह काम उसने उस धन की सहायता से किया जो वह अभी-अभी राष्ट्रीय सभा से

ऐंठने में सफल हुआ था। एक नियतिवादी की हैसियत से वह यह विश्वास लिये जीता है कि कुछ ऐसी उच्चतर शक्तियां हैं जिनके आगे आदमी, और विशेष कर फ़ौजी सिपाही, लाचार है। इन शक्तियों में सर्वप्रथम स्थान वह सिगार और शैम्पेन, जंगली मुर्गी के ठण्डे मांस और लहसुन के सॉसेज को देता है। अतः उसने श्रीगणेश इस रूप में किया कि अपने एलीज़े प्रासाद के कक्षों में सेना के ऊंचे तथा ग़ैरकमीशनयाफ़्ता अफ़सरों को सिगार और शैम्पेन, मुर्गी के ठण्डे मांस और लहसुन के सॉसेजों की दावतें दीं। ३ अक्तूबर को यही हथकण्डा उसने सेंट-मावर के रिव्यू में आम सैनिकों के सम्वन्ध में अपनाया; और १० अक्तूबर को सातोरी की फ़ौजी परेड के मौक़े पर इसे और भी बड़े पैमाने पर दुहराया। चचा को एशिया में सिकंदर के अभियान की कहानी याद थी, तो भतीजे ने उसी प्रदेश में बाक्कुस के विजयपूर्ण भ्रमणों का वृत्तांत सुन रखा था। और जब कि सिकंदर आधा ही देवता था, तो बाक्कुस पूरा देवता था, इतना ही नहीं, वह १० दिसम्बर-समाज का संरक्षक-देवता था।

३ अक्तूबर के रिव्यू के वाद स्थायी आयोग ने युद्ध-मंत्री द'ओपूल को तलब किया। उसने वादा किया कि अनुशासन-भंग के ये कार्य आगे फिर न होंगे। हम जानते हैं कि १० अक्तूबर को बोनापार्त ने किस प्रकार द'ओपूल के वचन की रक्षा की। पेरिस की सेना का सेनाध्यक्ष होने के नाते, शांगार्निये ने दोनों रिव्युओं की कमान की थी। स्थायी आयोग का सदस्य, राष्ट्रीय गार्ड का प्रधान, २९ जनवरी और १३ जून का "उद्धारक", समाज का "रक्षा-दुर्ग", राष्ट्रपति पद के लिये अमन की पार्टी का उम्मीदवार, वह आदमी जिसे दो-दो शाही हुकूमतों का मांक अनुमानित किया जाता था— इतने सारे गुणों से एक साथ विभूषित शांगार्निये ने अपने को कभी युद्ध-मंत्री के मातहत नहीं माना था, वह जनतंत्रीय संविधान का सदा खुलेआम मज़ाक़ उड़ाया करता था और बोनापार्त के साथ निरंतर एक प्रकार के दोमानिये शाहाना-संरक्षण के भाव से पेश आता था। अव उसे युद्ध-मंत्री के विरुद्ध अनुशासन का और बोनापार्त के विरुद्ध संविधान का झण्डा बुलन्द करने की धुन सवार हुई थी। १० अक्तूबर को जब घुड़सवार सेना के एक दल ने «Vive Napoléon! Vivent les saucissons!»* के नारे लगाये थे तो शांगार्निये

* "नेपोलियन ज़िंदाबाद! सॉसेज ज़िन्दाबाद!"—सं०

ने ऐसा वंदोवस्त किया था कि कम से कम पैदल सेना, जो उसके मित्र नेमेयर की कमान में मार्च रही थी, उदासीन भाव से मौन धारण किये रह जाये। इसके दण्डस्वरूप, बोनापार्त के उकसाने से, युद्ध-मंत्री ने जनरल नेमेयर को उसे १४वें और १५वें फ़ौजी डिवीज़नों का सेनाध्यक्ष नियुक्त करने के वहाने पेरिस के अपने पद से हटा दिया। नेमेयर ने पदों की यह अदला-वदली अस्वीकार कर दी, अतः उसे इस्तीफ़ा देना पड़ा। वदले में, शांगार्निये ने २ नवम्वर को एक सैनिक आदेश जारी किया जिसमें सैनिकों को, जव वे पांतों में हों, किसी प्रकार का राजनीतिक नारा लगाने या प्रदर्शन करने की मनाही की गयी थी। एलीज़े के पत्रों ने[95] शांगार्निये को फटकारा; अमन की पार्टी के पत्रों ने बोनापार्त को फटकारा; स्थायी आयोग ने वारम्वार अपनी गुप्त वैठकें कीं जिनमें यह बार-बार प्रस्तावित किया गया कि देश को संकटापन्न घोषित किया जाये; सेना दो विरोधी शिविरों में विभक्त ज्ञात हो रही थी जिनकी दो विरोधी कमानें थीं, एक एलीज़े प्रासाद में जहां बोनापार्त रहता था और दूसरा तूलरी में जहां शांगार्निये का निवास था। ऐसा ज्ञात होता था कि लड़ाई का सिगनल देने के लिये राष्ट्रीय सभा के बैठने की ही कसर है। फ़्रांस के सर्वसाधारण बोनापार्त और शांगार्निये की इस रगड़ को उस अंग्रेज़ पत्रकार की दृष्टि से देख रहे थे जिसने निम्न शब्दों में इसका चरित्र-निरूपण किया था:

> "फ़्रांस की राजनीतिक महरियां क्रांति की ज्वालामुखी के तप्त लावा को पुराने झाड़ुओं से वुहार रही हैं, और यह करते समय तू-तू मैं-मैं कर रही हैं।"

इस बीच वोनापार्त ने अपने युद्ध-मंत्री द'ओपूल को जल्दी-जल्दी हटाया, उसका बोरा-विस्तर बंधवा कर उसे हड़बड़ी में अल्जीरिया रवाना किया और उसकी जगह जनरल श्राम्म को युद्ध-मंत्री बनाया। १२ नवम्बर को उसने राष्ट्रीय सभा को अमरीकी तर्ज़ पर एक लम्बा-चौड़ा संदेश भेजा, जो व्योरों से भरपूर, व्यवस्था की सुगंध से भीना हुआ, मेल की भावना से और संविधान को शिरोधार्य करने की इच्छा से पूर्ण था। इस सन्देश में उस समय के questions brûlantes* छोड़कर सभी विषयों की चर्चा थी। इसमें,

---

*सबसे जरूरी सवाल। – सं०

मानो चलते हुए, उसने यह उल्लेख किया था कि संविधान के स्पष्ट अनुबंधों के अनुसार केवल राष्ट्रपति ही सेना के बारे में फ़ैसला कर सकता है। संदेश का अंत निम्न बड़े ही संजीदा शब्दों के साथ होता था :

> **"सबसे अधिक, फ़्रांस शान्ति चाहता है... किंतु जिस शपथ को मैंने ग्रहण किया है, उसके अनुसार मैं उस संकीर्ण सीमा के अंदर ही कार्य करूंगा जो उसने मेरे लिए बांध दी है...** जहां तक मेरा ताल्लुक़ है, मैं, जिसे जनता ने चुना है और जिसकी सत्ता का स्रोत केवल जनता है, सदैव क़ानून के अनुसार व्यक्त उसकी इच्छाओं के आगे नतमस्तक रहूंगा। यदि इस अधिवेशन में आपने संविधान में संशोधन करने का निर्णय किया, तो एक संविधान सभा कार्यकारी सत्ता की स्थिति का नियमन करेगी। यदि नहीं, तो जनता १८५२ में अपने गंभीर निर्णय की घोषणा करेगी। किंतु भविष्य के लिये चाहे जो समाधान निकले, आइये, हम एक निश्चित समझ क़ायम करें ताकि एक महान् राष्ट्र के भाग्य का निर्णय आवेग, अप्रत्याशितता और बल प्रयोग द्वारा कभी न हो... अभी जो वस्तु सर्वाधिक मेरी चिन्ता का विषय है, वह यह नहीं है कि १८५२ में फ़्रांस का शासन कौन करेगा, वरन् यह है कि मेरे पास जो समय बच रहा है उसका किस प्रकार उपयोग किया जाये, कि बीच की यह अवधि आंदोलन अथवा उपद्रव के बिना बीत सके। मैंने मुक्त भाव से अपना हृदय आपके सामने खोलकर रख दिया है; मेरी कामना है कि मेरी इस साफ़गोई का उत्तर आप अपने एतबार द्वारा, मेरे सत्प्रयासों का उत्तर अपने सहयोग द्वारा देंगे; शेष कार्य ईश्वर पूरा करेगा।"

पूंजीपतियों की इस सम्भ्रांत, पाखंडपूर्ण रूप से नरम, भलमनसाहत वाली थोथी भाषा का गहनतम अर्थ १० दिसम्बर-समाज के इस तानाशाह और सेंट-मावर तथा सातोरी के उपवन-भोजों के नायक की ज़बान से ही प्रगट होता है।

इस मुक्तहृदयता पर कितना एतबार करना चाहिए, इस सम्बन्ध में अमन की पार्टी के बुर्गग्राफ़ों को एक क्षण के लिये भी कोई मुग़ालता न था। जहां तक शपथों का प्रश्न था, इसका तो उनके यहां बहुत दिनों से अजीर्ण था; उनके बीच राजनीतिक शपथ-त्याग के एक से एक बड़े और पुराने अखाड़िये और उस्ताद भरे पड़े थे। संदेश में सेना के सम्बन्ध में जो बात

कही गयी थी, उसे भी उन्होंने सुना। उन्हें यह देखकर झुंझलाहट हुई कि संदेश में जहां हाल के बने क़ानूनों को एक बेसिलसिले ढंग से गिनाया गया था, वहां सबसे महत्त्वपूर्ण क़ानून—चुनाव-क़ानून—पर सोच समझ कर चुप्पी साध ली गयी थी और इतना ही नहीं, संविधान का संशोधन न होने की सूरत में, १८५२ में राष्ट्रपति का निर्वाचन जनता के हाथों कराने की बात कही गई है। चुनाव-क़ानून अमन की पार्टी के पैर से बंधी लोहे की चक्की थी, जिससे वह हिलडोल नहीं सकती थी, आगे बढ़कर धावा करने की तो बात ही दूर रही! इसके अतिरिक्त १० दिसम्बर-समाज को सरकारी तौर पर विघटित करके और युद्ध-मंत्री द'ओपूल को बर्ख़ास्त करके बोनापार्त अपने हाथों से देश की वेदी पर बलि के बकरे को चढ़ा चुका था। प्रत्याशित मुठभेड़ की तीव्रता उसने कम कर दी थी। अंतिम बात यह कि अमन की पार्टी कार्यकारी सत्ता के साथ किसी प्रकार की निर्णायक टक्कर से बचने, उसे धीमा करने और उससे कतरा जाने के लिये स्वयं व्यग्र थी। क्रांति के ऊपर प्राप्त की गयी अपनी विजयों को गंवा देने के भय से इन विजयों के सारे फल उसने अपने प्रतिद्वंद्वी को हड़प लेने दिये। "सबसे अधिक फ़्रांस शान्ति चाहता है।" ये शब्द अमन की पार्टी ने फ़रवरी* से ही क्रांति को सम्बोधित करके कहे थे; अब बोनापार्त के संदेश में ये ही शब्द अमन की पार्टी को सम्बोधित करके कहे गये: "सबसे अधिक फ़्रांस शान्ति चाहता है।" बोनापार्त ऐसे काम कर रहा था जिनका लक्ष्य सत्ता का बलात् अपहरण था, किंतु अमन की पार्टी यदि इन कार्यों के विषय में हो-हल्ला मचाये और उनका घोर विषादपूर्ण अर्थ लगाये तो वह "अशान्ति" उत्पन्न करने वाली हो जाती है। अगर सातोरी के सॉसेजों के सम्बन्ध में कोई कुछ बोले नहीं तो वे ऐसे ही निरीह थे जैसे चूहे। "सबसे अधिक फ़्रांस शान्ति चाहता है।" अर्थात् बोनापार्त की मांग थी कि उसे वह जो चाहे करने को चुपचाप छोड़ दिया जाये, और संसदीय पार्टी दोहरे भय से जड़ विमूढ़ स्थिति में पड़ी हुई थी, एक तो यह भय कि कहीं फिर क्रान्तिकारी अशान्ति न भड़क जाये और दूसरा यह कि कहीं अपने ही वर्ग की आंखों में, पूंजीपति वर्ग की आंखों में, वह ख़ुद ऐसी अशान्ति भड़काने वाली न बन जाये। अतः चूंकि फ़्रांस सबसे अधिक शान्ति चाहता था, इसलिये बोनापार्त द्वारा अपने संदेश में "शान्ति"

* फ़रवरी, १८४८।—सं०

की बातें करने के बाद अमन की पार्टी की यह हिम्मत न हुई कि जवाब में "युद्ध" की बात करती। सर्वसाधारण को, जो राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन आरंभ होने पर बड़े-बड़े गुल खिलने की उम्मीद लगाये बैठे थे, निराशा हाथ लगी। विरोध-पक्ष के जिन सदस्यों ने अक्तूबर की घटनाओं के सम्बन्ध में स्थायी आयोग का कार्य-विवरण पेश करने की मांग की, उनका प्रस्ताव बहुमत से गिर गया। सिद्धान्ततः, ऐसी सभी बहसों से जिनसे उत्तेजना फैलने की आशंका थी, बचा गया। नवम्बर और दिसम्बर १८५० के दौरान राष्ट्रीय सभा की कार्यवाहियां बदमज़ा रहीं।

अंततः, दिसम्बर के आख़िर में संसद के कुछ परमाधिकारों को लेकर छापेमार लड़ाई छिड़ी। किन्तु चूंकि सर्वमताधिकार को नष्ट कर पूंजीपतियों ने वर्ग-संघर्ष फ़िलहाल ख़त्म कर दिया था, इसलिये आंदोलन दो सत्ताओं के परमाधिकारों के सम्बन्ध में कुछ मामूली झगड़ों के दलदल में फंस कर रह गया।

मोगेन नामक एक जन-प्रतिनिधि के विरुद्ध अदालत ने क़र्ज़ की एक डिगरी जारी की थी। न्यायाधीश के पूछने पर न्याय-मंत्री रूए ने घोषित किया कि क़र्ज़दार के ख़िलाफ़ गिरफ़्तारी का परवाना बेधड़क जारी किया जाना चाहिये। इस प्रकार मोगेन क़र्ज़दारों के जेल में डाल दिया गया। राष्ट्रीय सभा को जब इस प्रहार की सूचना मिली तो वह गुस्से से आग-बबूला हो गयी। उसने न केवल तत्काल मोगेन की रिहाई का हुक्म जारी किया बल्कि उसी शाम को अपने क्लर्क को भेजकर उसे क्लीशी की जेल से बलपूर्वक बाहर निकलवा मंगाया। किंतु व्यक्तिगत सम्पत्ति की पावनता के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करने के लिये तथा दिमाग़ में यह ख़याल रखते हुए कि पर्वत-दलवालों के लिये, जो अधिक क्लेशदायी हो गये थे, ज़रूरत पड़ने पर एक ऋणी-गृह खोलना पड़ सकता है, उसने घोषणा की कि पहले से उसकी सहमति लेकर ऋणी जन-प्रतिनिधियों को जेल भेजा जा सकता है। यह आदेश देना वह भूल गयी कि क़र्ज़दारी के लिये राष्ट्रपति को भी जेल में डाला जा सकता है। स्वयं उसके सदस्य जिस अनतिक्रम्यता से वेष्टित थे, उसके अंतिम अवशेषों को भी उसने नष्ट कर दिया।

पाठकों को याद होगा कि आले नामक एक आदमी से सूचना पाकर पुलिस कमिश्नर योन ने दिसम्बरपंथियों के एक दल पर दुपिन और शांगार्नियें की हत्या करने का कुचक्र रचने का आरोप लगाया था। इस प्रसंग में पहली

ही बैठक में राजस्वपालों ने यह प्रस्ताव किया कि संसद अपना एक अलग पुलिस दल क़ायम करे जिसका ख़र्च राष्ट्रीय सभा के निजी बजट से पूरा किया जाये और जो पुलिस प्रीफ़ेक्ट से बिल्कुल स्वतंत्र हो। गृह-मंत्री बारोश ने अपने अधिकार क्षेत्र के इस अतिक्रमण का विरोध किया। इस मामले में एक दयनीय समझौता हुआ; यह सच है कि इस समझौते के अनुसार यह तय पाया गया कि राष्ट्रीय सभा के पुलिस कमिश्नर को वेतन सभा के निजी बजट से ही मिलेगा और सभा के राजस्वपाल ही उसकी नियुक्ति और बर्ख़ास्तगी करेंगे, पर ऐसा वे गृह-मंत्री की पूर्व-सहमति के बाद ही करेंगे। इधर सरकार ने आले पर मुक़दमा चला दिया था, और इस मुक़दमे में यह ज़ाहिर करना कि उसकी दी हुई सूचना झूठी है तथा सरकारी वकील के मुंह से दुपिन, शांगार्नियें, योन और समूची राष्ट्रीय सभा का मज़ाक़ उड़वाना बायें हाथ का खेल था। इसके बाद, २९ दिसम्बर को मंत्री बारोश ने दुपिन को एक ख़त लिखा जिसमें उसने योन को बर्ख़ास्त करने की मांग की। राष्ट्रीय सभा के ब्यूरो ने योन को अपने पद पर बहाल रखने का फ़ैसला किया, पर राष्ट्रीय सभा ने, जो मोगेन के मामले में अपनी ज़बरदस्ती से घबरायी हुई थी और कार्यकारी सत्ता पर अपने एक प्रहार के बदले दो प्रहार प्राप्त करने की अभ्यस्त हो गयी थी, इस निर्णय को मंजूरी नहीं दी। योन ने सरकारी काम में जो उत्साह प्रदर्शित किया था, उसके पुरस्कार में सभा ने उसे बर्ख़ास्त कर दिया और इस प्रकार अपने को एक ऐसे संसदीय परमाधिकार से वंचित कर लिया जो उसके लिये एक ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध अपरिहार्य रूप से आवश्यक था, जो रात में फ़ैसला करके दिन में उसे कार्यान्वित नहीं करता, वरन् दिन में फ़ैसला करके रात में उसे कार्यान्वित करता है।

हमने देखा कि किस प्रकार नवम्बर और दिसम्बर के महीनों में बड़े-बड़े तथा निर्णायक मौक़ों पर राष्ट्रीय सभा कार्यकारी सत्ता के साथ संघर्ष से कतरा गई या उस संघर्ष को तिलांजलि दे बैठी। अब हम देखते हैं कि वह मामूली से मामूली मौक़े पर संघर्ष करने को विवश होती है। मोगेन के मामले में उसने क़र्ज़दारी के लिये जन-प्रतिनिधियों को जेल में डालने के सिद्धान्त की परिपुष्टि की, पर यह अधिकार अपने हाथ में रखा कि केवल उन प्रतिनिधियों के विरुद्ध इसे लागू करे, जिन्हें वह नहीं चाहती थी; और इस शर्मनाक विशेषाधिकार के लिये न्याय-मंत्री के साथ उलझती रही। अभिकथित

हत्या-षड्यंत्र से लाभ उठाकर १० दिसम्बर-समाज की जांच का हुक्म जारी करने और पेरिस के लंपट-सर्वहारा के सरदार के उसके असली रूप में वोनापार्त को फ़्रांस और यूरोप के सामने अंतिम रूप से वेनक़ाव करने के वदले उसने संघर्ष को इस निम्नस्तर तक उतर जाने दिया जहां उसके और गृह-मंत्री के बीच विवाद का एकमात्र विषय यह रह गया कि किसी पुलिस कमिश्नर को नियुक्त और वर्ख़ास्त करने का अधिकार उन दोनों में से किसका है। अतः इस पूरे काल में हम अमन की पार्टी को अपनी द्विधायुक्त स्थिति से विवश होकर कार्यकारी सत्ता के साथ अपने संघर्ष को अधिकारक्षेत्र सम्वन्धी तुच्छ झगड़ों, विलकुल मामूली-मामूली वातों पर वहसों, क़ानूनी ढंग से वाल की खाल निकालने, परिसीमन विषयक विवादों में वर्वाद और विघटित करते हुए तथा निरे रस्म से सम्वन्धित विलकुल हास्यास्पद सवालों पर अपनी सारी सरगर्मी सर्फ़ करते हुए पाते हैं। वह यह साहस नहीं दिखाती कि ऐसे क्षण में टक्कर ले जव उस टक्कर का सिद्धान्त की दृष्टि से महत्त्व हो, जव कार्यकारी सत्ता ने सचमुच अपने को वदनाम कर लिया हो और जव राष्ट्रीय सभा का ध्येय राष्ट्र का ध्येय वन जा सकता हो। ऐसा करके वह राष्ट्र को युद्ध-क्षेत्र की ओर अग्रसर होने का आदेश देती, और इससे अधिक भय की वात उसके लिये अन्य नहीं हो सकती कि राष्ट्र गतिशील हो जाये। अतएव ऐसे अवसरों पर उसने पर्वत-दल के प्रस्तावों को ठुकरा दिया और दिवस की कार्यसूची की अगली मद को लिया। चूंकि इस प्रकार अमन की पार्टी विवादास्पद प्रश्न के ज़्यादा अहम पहलुओं को छोड़ देती है, इसलिये कार्यकारी सत्ता चुपचाप उस अवसर की प्रतीक्षा करती है जव वह उसी प्रश्न को किसी तुच्छ और महत्त्वहीन अवसर पर, ऐसे अवसर पर जब उसका केवल स्थानिक संसदीय महत्त्व हो, उठा सके। ऐसा होने पर अमन की पार्टी का दवा हुआ क्रोध उभड़ पड़ता है, वह पार्श्वभूमि के पर्दों को फाड़ डालती है, राष्ट्रपति को खरी-खोटी सुनाती है, जनतंत्र को संकटापन्न घोषित करती है, लेकिन उस समय उसका जोशोख़रोश वेतुका मालूम होता है और संघर्ष का अवसर एक कपटपूर्ण वहाना मात्र ज्ञात होता है या इस क़ाविल नहीं लगता कि उसके लिये लड़ा जाये। संसद में उठा तूफ़ान चाय की प्याली का तूफ़ान वन जाता है, संघर्ष षड्यन्त्र में परिणत हो जाता है, झगड़ा एक वदनामी वन जाता है। क्रांतिकारी वर्ग राष्ट्रीय सभा की इस वेइज़्ज़ती पर द्वेषपूर्ण उल्लास से चटखारे लेते हैं, क्योंकि संसद के परमाधिकारों के लिये उन्हें

उतनी ही परवाह है जितनी राष्ट्रीय सभा को सार्वजनिक स्वातन्त्र्य के लिये है; दूसरी ओर, संसद के बाहर के पूंजीपतियों को यह नहीं समझ में आता कि संसद के भीतर के पूंजीपति क्यों ऐसे ओछे झगड़ों में समय बर्बाद करते हैं और क्यों राष्ट्रपति के साथ ऐसी ओछी लागडांट में फंस कर शान्ति को ख़तरे में डालते हैं। ऐसी रणनीति उन्हें उलझन में डाल देती है जो ऐसे समय जब सारी दुनिया सोचती होती है कि युद्ध होगा, सुलह कर लेती है, और ऐसे समय प्रहार करती है जब सारी दुनिया यह सोचती है कि सुलह हो गयी है।

२० दिसम्बर को पास्काल दुप्रा ने राष्ट्रीय सभा में गृह-मंत्री से सोने की ईंटों की लाटरी के सम्बन्ध में प्रश्न किया। यह लाटरी "एलीज़ियम की पुत्री"[96] थी। बोनापार्त और उसके वफ़ादार अनुयायी इस लाटरी के जन्मदाता थे, और पुलिस प्रीफ़ेक्ट कार्लियें ने उसे शासकीय संरक्षण प्रदान किया था, यद्यपि फ़्रांस के क़ानून के अनुसार ख़ैराती लाटरी को छोड़ कर किसी प्रकार की लाटरी निषिद्ध है। इस लाटरी में एक-एक फ़्रैंक के ७० लाख टिकट थे, और इसकी आमदनी ज़ाहिरा पेरिस के लाख़ैरों को कैलिफ़ोर्निया भेजने के लिये इस्तेमाल की जाने वाली थी। इसके द्वारा एक ओर तो पेरिस के मज़दूरों को उनके समाजवाद के सपनों की जगह स्वर्ण प्राप्ति का सब्ज़बाग़ दिखाया गया था; काम पाने के सैद्धान्तिक अधिकार की जगह प्रथम पुरस्कार पाने का लुभावना आकर्षण उनके सामने पेश किया गया था। स्वभावतः, पेरिस के मज़दूरों ने कैलिफ़ोर्नियाई सोने की ईंटों की दमक में उन तुच्छ फ़्रैंकों को नहीं देखा जो फुसला कर उनकी जेब से निकलवा लिये गये थे। दरअसल यह सारा मामला सरासर ठगी का हथकण्डा था। पेरिस छोड़ने की तकलीफ़ गवारा किये बिना ही कैलिफ़ोर्निया की खानें खोलना चाहने वाले लाख़ैरे ख़ुद बोनापार्त और उसका ऋण-ग्रस्त दरबार थे। राष्ट्रीय सभा से मिले तीस लाख धूमधाम और ऐश में फूंक दिये गये थे; अब किसी न किसी तदबीर से ख़ज़ाने को भरना ज़रूरी था। बोनापार्त ने तथाकथित cités ouvrières* बनवाने के लिये एक राष्ट्रीय कोष स्थापित किया था जिसमें चंदा देने वालों की सूची में एक मोटी रक़म के साथ उसने अपना नाम सबसे पहले दर्ज किया था। पर यह तदबीर बेकार हुई थी। संगदिल पूंजीपति अविश्वासपूर्वक

* मज़दूर बस्तियां।—सं०

यह प्रतीक्षा करते रहे कि वह अपने हिस्से की रक़म पहले अदा करे, पर चूंकि जैसा कि प्रत्याशित ही था, ऐसा नहीं किया गया, इसलिये समाजवादी क़िलों की सट्टेबाज़ी फ़ेल हो गयी। पर सोने की ईंटें ज्यादा कारगर साबित हुईं। बोनापार्त एण्ड कम्पनी ने ७० लाख की रक़म में से—यह रक़म पुरस्कार रूप में दी जानेवाली ईंटों की क़ीमत देने पर बच रहती थी—फ़ाज़िल एक भाग को हस्तगत करके ही संतोष नहीं किया, उन्होंने लाटरी के नक़ली टिकट बनाये, और एक ही नम्बर के दस, पन्द्रह और यहां तक कि बीस-बीस टिकट जारी किये। यह सारा माली कारबार १० दिसम्बर-समाज की फ़ितरत के सर्वथा अनुरूप था। यहां राष्ट्रीय सभा के सामने जनतंत्र का निराकार राष्ट्रपति नहीं, बल्कि हाड़-मांस का बना प्रत्यक्ष बोनापार्त खड़ा था। यहां वह उसे संविधान की अवहेलना करते हुए नहीं, वरन् Code pénal* को अतिक्रमण करते हुए रंगे हाथों पकड़ सकती थी। पर यदि दुप्रा के प्रश्न पर उसने मामले को वहीं का वहीं छोड़ दिया तो इसका कारण केवल यह न था कि जिरार्दिन के इस प्रस्ताव ने कि सभा अपने को "संतुष्ट" घोषित करे, अमन की पार्टी को उस भ्रष्टाचार की याद दिलायी थी जिसमें वह स्वयं बाक़ायदा लिप्त थी। पूंजीपति, और सर्वाधिक वह पूंजीपति जो फुला कर राजनीतिज्ञ बना दिया जाता है, अपनी व्यावहारिक कृपणता की पूर्त्ति सैद्धान्तिक मुक्तहस्तता से करता है। एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से, वह, उस राज्य शक्ति की तरह, जिसके साथ उसका सामना होता है, एक उच्चतर हस्ती बन जाता है जिसके साथ एक उच्चतर, प्रतिष्ठित पद्धति से ही लड़ा जा सकता है।

बोनापार्त को, जो ठीक इस कारण धूर्त्त पूंजीपतियों से बीस पड़ता था कि वह la bohème का एक पुत्र, एक शाही लंपट-सर्वहारा था और कमीनेपन के साथ लड़ाई लड़ सकता था, जब राष्ट्रीय सभा ने ख़ुद उंगली पकड़ कर उसे फ़ौजी दावतों, रिव्युओं, १० दिसम्बर-समाज और अंत में Code pénal के दलदलों से पार करा दिया, तो उसने देख लिया कि अब समय आ गया है जब दिखावटी बचाव के बदले हमले की नीति अपनायी जा सकती है। इस बीच न्याय-मंत्री, युद्ध-मंत्री, नौसेना-मंत्री, तथा वित्त-मंत्री को जो मामूली

---

*दंड संहिता। सं०

हारें खानी पड़ी थीं, वे हारें जिनके ज़रिये राष्ट्रीय सभा ने अपनी गुर्राहट-भरी नाराज़गी ज़ाहिर की थी, उनसे उसे कोई परेशानी नहीं थी। उसने न केवल मंत्रियों को इस्तीफ़ा देने और इस प्रकार कार्यकारी सत्ता पर संसद के सार्वभौम अधिकार को मान्यता देने से रोका, वरन् अब वह उस कार्य को भी सम्पन्न कर सकता था जो उसने राष्ट्रीय सभा की तातील के समय आरम्भ किया था, अर्थात् सैनिक सत्ता को संसद से अलग करने, शांगार्निये को अपदस्थ करने का कार्य।

एक एलीज़े-पत्र ने एक सैनिक आदेश छापा जो उसके कथनानुसार मई मास में प्रथम सैनिक डिवीज़न को भेजा गया था, अर्थात् शांगार्निये के यहां से भेजा गया था, और जिसमें अफ़सरों को कहा गया था कि अगर बग़ावत हो तो वे अपनी सफ़ों के अंदर ग़द्दारों के साथ कोई रू-रियायत न करें और उन्हें फ़ौरन गोली मार दें, तथा यदि राष्ट्रीय सभा सैनिकों की मांग करे तो फ़ौज भेजने से इनकार कर दें। ३ जनवरी १८५१ को सभा में मंत्रिमण्डल से इस सैनिक आदेश के बारे में पूछताछ की गई। मंत्रिमण्डल ने इस मामले की जांच-पड़ताल करने के लिये पहले तीन महीने की, फिर एक हफ़्ते की और अंत में केवल २४ घंटों की मुहलत मांगी। सभा ने आग्रह किया कि फ़ौरन इसकी कैफ़ियत मिलनी चाहिये। शांगार्निये ने उठकर कहा कि ऐसा कोई सैनिक आदेश कभी नहीं जारी किया गया। इसके अतिरिक्त उसने कहा कि वह राष्ट्रीय सभा की मांग फ़ौरन पूरी करने को सदा तत्पर रहेगा और कोई टक्कर होने पर राष्ट्रीय सभा उसपर भरोसा कर सकती है। उसकी यह घोषणा तालियों की अवर्णनीय गड़गड़ाहट के साथ सुनी गयी और उसके प्रति विश्वास का एक प्रस्ताव पास किया गया। ऐसा करके राष्ट्रीय सभा ने अपनी सत्ता का स्वयं परित्याग किया, एक जनरल के वैयक्तिक संरक्षण में अपने को डाल कर, अपने आप अपनी अशक्तता तथा सेना की सर्वशक्तिमत्ता घोषित की। किंतु जनरल महोदय ने ख़ुद अपने को धोखे में डाला जब उन्होंने राष्ट्रीय सभा की सेवा में, बोनापार्त के विरुद्ध, एक ऐसी शक्ति अर्पित की जो उन्हें उसी बोनापार्त से मंसब के रूप में प्राप्त थी, और जब बदले में, उन्होंने उस संसद से संरक्षण प्राप्त करने की आशा की जो स्वयं उसके संरक्षण की मुहताज थी। किन्तु शांगार्निये को चमत्कार की उस रहस्यमय शक्ति पर विश्वास था जो पूंजीपतियों ने उसे २९ जनवरी १८४९ से ही दे रखी थी। वह अपने को अन्य दो राज्यीय सत्ताओं के समानान्तर एक

तीसरी सत्ता समझता था। उसकी वही दुर्गति होनी थी जो इस युग के अन्य सभी सूरमाओं बल्कि कहना चाहिये संतों की हुई थी, जिन्हें इनकी पार्टी अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये ढोल पीट-पीट कर महान् बनाती है, पर ज्यों ही परिस्थितियां इन्हें अपने चमत्कार दिखाने को कहती हैं, इनकी क़लई खुल जाती है। श्रद्धा का अभाव साधारणतः इन नामी नायकों और असली संतों का जानी दुश्मन है। इसी लिये रसिकों और उपहासकर्त्ताओं की आस्थाहीनता पर ये लोग बड़ी शान से अपना नैतिक आक्रोश प्रगट करते हैं।

उसी संध्या को मंत्रिगण एलीज़े-प्रासाद बुलाये गये। बोनापार्त ने शांगार्निये की बर्ख़ास्तगी का आग्रह किया। पांच मंत्रियों ने आदेश पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। «*Moniteur*» पत्र ने मंत्रिमण्डल में संकट का समाचार प्रकाशित किया, और अमन की पार्टी के अख़बारों ने शांगार्निये की कमान में एक संसदीय सेना स्थापित करने की धमकी दी। अमन की पार्टी को ऐसा क़दम उठाने का वैधानिक अधिकार प्राप्त था। उसे बस शांगार्निये को राष्ट्रीय सभा का अध्यक्ष नियुक्त कर देना था, इसके बाद चाहे जितनी सेना वह अपनी रक्षा के लिये मंगवा सकती थी। यह काम वह और भी अधिक निरापद् रूप से इसलिये कर सकती थी कि शांगार्निये अभी भी वास्तव में सेना और पेरिस के राष्ट्रीय गार्ड का अध्यक्ष था तथा सेना समेत बुलवाये जाने की प्रतीक्षा ही कर रहा था। बोना-पार्ती अख़बार सेना को सीधे बुलवा सकने के राष्ट्रीय सभा के अधिकार के बारे में आपत्ति करने की भी अभी तक हिम्मत नहीं कर सके थे। वह एक ऐसी क़ानूनी आपत्ति होती, जिससे तत्कालीन परिस्थितियों में कोई फल मिलने की आशा न थी। यह देखते हुए कि बोनापार्त को पूरे आठ दिनों तक समूचा पेरिस छानने के बाद ही कहीं जाकर दो जनरल—बारागे द'इलिए और सेंट-जान द'अंजेली—ऐसे मिले जो शांगार्निये की बर्ख़ास्तगी के आदेश को हस्ताक्षरित करने को तैयार हुए, यह सम्भाव्य था कि सेना ने राष्ट्रीय सभा के आदेश का पालन किया होता। किंतु इसमें बहुत अधिक संदेह है कि अमन की पार्टी को इस आशय के प्रस्ताव के लिये स्वयं अपनी पांतों में और संसद में वोटों की अपेक्षित संख्या प्राप्त होती, क्योंकि हम देखते हैं कि आठ ही दिनों बाद पार्टी के २८६ वोट उससे पृथक् हो गये और दिसम्बर १८५१ में जब निर्णय की अंतिम घड़ी आई, पर्वत-दल अब भी इस प्रकार के प्रस्ताव

के विरुद्ध था। फिर भी बुर्गग्राफ़ शायद अब भी अपनी पार्टी के आम सदस्यों को एक ऐसे वीरत्वपूर्ण कार्य के लिये प्रेरित कर सकने में सफल हो सकते थे जिसमें उन्हें केवल संगीनों के एक व्यूह के अंदर बैठकर अपने को सुरक्षित बोध करना तथा एक ऐसी सेना की सेवा स्वीकार करना था जो दूसरे पक्ष को छोड़कर उनके शिविर में चली आयी हो। पर ऐसा करने के बदले बुर्गग्राफ़ बोनापार्त को राजनीतिज्ञतापूर्ण शब्दावली से प्रभावित करने तथा राज्य के हितों के नाम पर यह समझाने के लिये कि शांगार्निये को बर्ख़ास्त न किया जाये, ६ जनवरी को एलीज़े तशरीफ़ ले गये। यदि आप किसी को किसी काम के लिये समझाने-बुझाने जायें तो लाज़िमी है कि आप उसे ही परिस्थिति का स्वामी मान लेते हैं। बुर्गग्राफ़ों के इस पग से आश्वस्त होकर १२ जनवरी को बोनापार्त ने नया मंत्रिमण्डल नियुक्त किया जिसमें पुराने मंत्रिमण्डल के नेता, फ़ूल्द और बारोश क़ायम रहते हैं। सेंट-जान द' अंजेली युद्ध-मंत्री बना दिया जाता है, *«Moniteur»* शांगार्निये की बर्ख़ास्तगी का फ़रमान छापता है, और उसकी कमान बारागे द' इलिए और पेरो में बांट दी जाती है। द' इलिए को प्रथम सेना डिवीज़न की और पेरो को राष्ट्रीय गार्ड की कमान सौंप दी जाती है। समाज का "रक्षा-दुर्ग" निकाल बाहर किया गया है और इससे एक खपरैल तक खिसकना तो दूर रहा, उल्टे बूर्स के निर्ख़ बढ़ जाते हैं।

सेना को दुतकार कर, जिसने शांगार्निये की मार्फ़त अपने को अमन की पार्टी के हाथों में समर्पित किया था, और इस प्रकार उसे सदा के लिये राष्ट्रपति के हवाले कर, अमन की पार्टी ने यह सिद्ध कर दिया कि पूंजीपति वर्ग की शासन करने की योग्यता समाप्त हो गयी है। संसदीय मंत्रिमण्डल का अब अस्तित्व नहीं रहा। दरअसल, सेना और राष्ट्रीय गार्ड को अपने हाथों से जाने देने के बाद अमन की पार्टी के पास कौन-सा बलयुक्त साधन रह गया है जिससे वह जनता के ऊपर संसद की अपहृत सत्ता को और राष्ट्रपति के विरुद्ध उसकी वैधानिक सत्ता को एक साथ बरक़रार रख सकती है? कोई भी नहीं। अब वह केवल बलशून्य सिद्धान्तों की दुहाई भर दे सकती है, ऐसे सिद्धांतों की दुहाई भर दे सकती है जिनकी व्याख्या उसने स्वयं सदा ऐसे आम नियमों के रूप में की है जिनका औरों को इसलिये उपदेश दिया जाता है कि वह स्वयं और अधिक स्वच्छंदता बरत सके।

शांगार्निये की बर्ख़ास्तगी और सैन्य शक्ति के बोनापार्त के हाथ में आ जाने के साथ हमारे विवेच्य काल का, अमन की पार्टी और कार्यकारी सत्ता के संघर्ष के काल का, प्रथम चरण समाप्त हो जाता है। दोनों पक्षों में अब जंग का खुला एलान हो गया है, और खुली तौर से जंग होने लगी है, पर यह तब हुआ है जब अमन की पार्टी हथियार और फ़ौज दोनों गंवा चुकी है। न उसका अपना मंत्रिमण्डल है, न सेना है, न जनता है, न जनमत है, और ३१ मई के उसके चुनाव-क़ानून के बाद वह सार्वभौम राष्ट्र का प्रतिनिधि भी नहीं रही है, यानी चक्षु, कर्ण, दंत एवं सब कुछ विहीन यह राष्ट्रीय सभा शनैः-शनैः एक **प्राचीनकालीन फ़्रांसीसी पार्लमेंट**[97] में रूपांतरित हो गयी है जिसे कार्य सरकार के हाथों में छोड़कर post festum* उसकी क्रोधपूर्ण आलोचना करके ही संतोष कर लेना पड़ता है।

अमन की पार्टी में नये मंत्रिमण्डल की नियुक्ति से भयंकर रोष भड़क पड़ता है। जनरल बीदो ने इस बात की याद दिलायी कि तातील के दौरान स्थायी आयोग ने बहुत नरमी दिखायी थी और अपने कार्यविवरण को न प्रकाशित कर ज़रूरत से ज़्यादा रियायत से काम लिया था। गृह-मंत्री अब स्वयं इस विवरण के प्रकाशन पर ज़ोर देता है, जिसकी ताज़गी स्वभावतः उसी तरह ग़ायब हो गई है जैसे जोहड़ के काई-लगे पानी की होती है, जिससे किसी नये तथ्य का उद्घाटन नहीं होता और ऊबी हुई जनता पर जिसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रेमुज़ा के प्रस्ताव पर राष्ट्रीय सभा अपने ब्यूरो का अधिवेशन करती है और "असाधारण कार्रवाइयों के लिये एक कमेटी" नियुक्त करती है। पर पेरिस अपने दैनिक कार्यक्रम की लीक से इसलिये और भी टस से मस नहीं होता कि इस समय व्यापार में तेज़ी है, कारख़ाने जम कर काम कर रहे हैं, ग़ल्ला सस्ता है, खाद्य पदार्थों की प्रचुरता है, और बचत बैंकों में रोज़ नयी रक़में जमा की जा रही हैं। संसद द्वारा जिन "असाधारण कार्रवाइयों" की इतने धूमधाम से घोषणा की गयी, वे १८ जनवरी को मंत्रिमण्डल के विरुद्ध एक अविश्वास के प्रस्ताव के रूप में, जिसमें शांगार्निये का नाम तक नहीं लिया गया था, ढोल की पोल निकलीं। अमन की पार्टी अपने प्रस्ताव का ऐसा मसविदा बनाने को इसलिये

---

*जब वह सम्पन्न कर लिया गया। – सं०

वाध्य हुई थी कि उसे जनतंत्रवादियों के वोट प्राप्त करने थे, और मंत्रिमण्डल की सभी कार्रवाइयों में एक शांगार्नियें की वर्ख़ास्तगी ही थी जिसका जनतंत्रवादी अनुमोदन करते थे। दूसरी ओर अमन की पार्टी इस स्थिति में नहीं थी कि मंत्रिमण्डल के अन्य कामों की, जिन्हें उसने स्वयं प्रेरित किया था, निन्दा कर सकती।

१८ जनवरी का अविश्वास प्रस्ताव २८६ के विरुद्ध ४१५ वोटों से पास हुआ। अर्थात् वह चरम लेजिटिमिस्टों और आर्लियानिस्टों का विशुद्ध जनतंत्रवादियों तथा पर्वत-दल के साथ गठबंधन होने से ही पास हो सका। इससे यह सिद्ध हो गया कि बोनापार्त के साथ अपने झगड़े में अमन की पार्टी ने केवल मंत्रिमण्डल और सेना से ही हाथ नहीं धोया था, बल्कि अपना स्वतंत्र संसदीय बहुमत भी गंवा दिया था, कि जन-प्रतिनिधियों के एक दस्ते ने, मेल-मिलाप के अंधे जोश में, संघर्ष के डर से, काहिली के कारण, राज्य से मिलने वाले वेतन की प्यारी रक़म के प्रति परिवार की आदरभावना के वशीभूत होकर, मंत्रियों की ख़ाली जगहों की पूर्त्ति सम्बन्धी अटकलवाज़ियों से लोभ में पड़कर (ओदिलां वारो), कोरी स्वार्थीपरता से, जिसके कारण साधारण पूंजीपति वैयक्तिक प्रेरणा में पड़कर अपने वर्ग के सामान्य हितों का वलिदान करने को तैयार रहता है, उसके शिविर का परित्याग किया था। बोनापार्ती सदस्य शुरू से ही अमन की पार्टी का केवल क्रान्ति के साथ संघर्ष में ही साथ दे रहे थे। कैथोलिक पार्टी के नेता मोन्तालेम्बेर ने उसी समय बोनापार्त का पलड़ा भारी करना चाहा, क्योंकि संसदीय पार्टी के जीवन के सम्बन्ध में उसे कोई आशा नहीं रह गयी थी। अंतिम बात यह कि इस पार्टी के नेता थियेर और बेरिये, आर्लियानिस्ट और लेजिटिमिस्ट, अपने को खुलेआम जनतंत्रवादी घोषित करने को वाध्य हुए थे, यह क़बूल करने को मजबूर हुए थे कि उनका दिल राजतंत्रवादी, पर दिमाग़ जनतंत्रवादी है, कि सम्पूर्ण पूंजीपति वर्ग के शासन का एकमात्र सम्भव रूप संसदीय जनतंत्र है। इस प्रकार स्वयं पूंजीपति वर्ग के सामने उन्हें उन पुनःस्थापना-योजनाओं की निन्दा करनी पड़ी थी, जिन्हें एक ऐसे षड्यन्त्र के रूप में रचने में वे संसद की पीठ पीछे अब भी अथक रूप से लगे हुए थे जो जितना ख़तरनाक था उतना ही मूर्खतापूर्ण भी था।

१८ जनवरी के अविश्वास के प्रस्ताव से मंत्रियों पर आंच आती थी, राष्ट्रपति पर नहीं। किंतु शांगार्निये को मंत्रिमण्डल ने नहीं, वरन राष्ट्रपति

ने वर्ख़ास्त किया था। तो क्या ग्रमन की पार्टी स्वयं बोनापार्त के विरुद्ध महाभियोग लाये? इसलिये कि वह पुनःस्थापना की इच्छा रखता था? लेकिन यह इच्छा तो स्वयं उसकी ग्रपनी इच्छाग्रों का पूरक मात्र थी। तो क्या इसलिये कि उसने सैनिक रिव्युग्रों के तथा १० दिसम्बर-समाज के सिलसिले में साज़िशें की थीं? पर इन मामलों को तो वह संसद की साधारण दैनंदिन की कार्रवाइयों के बीच कब का भुला चुकी थी? या फिर २९ जनवरी ग्रौर १३ जून के वीर की वर्ख़ास्तगी के लिये, उस ग्रादमी की वर्ख़ास्तगी के लिये जिसने मई १८५० में कहा था कि ग्रगर बग़ावत हुई तो हम समूचे पेरिस को जलाकर ख़ाक कर देंगे? पर उसके मित्र पर्वत-दल तथा कैवेन्याक ने हमदर्दी का बाक़ायदा इज़हार करके भी "समाज" के धराशायी "रक्षा-दुर्ग" को फिर से खड़ा करने तक की इजाज़त न दी। वह स्वयं भी इस बात से इनकार नहीं कर सकती थी कि राष्ट्रपति को एक जनरल को वर्ख़ास्त करने का वैधानिक ग्रधिकार है। वह केवल इसलिये गरज रही थी कि उसने ग्रपने वैधानिक ग्रधिकार का ग्रसंसदीय उपयोग किया था। पर क्या उसने स्वयं ग्रपने संसदीय परमाधिकार का निरंतर, ग्रौर ख़ासकर सर्वमताधिकार का ग्रंत करने के मामले में, ग्रवैधानिक उपयोग नहीं किया था? ग्रतः वह सख़्ती से संसदीय सीमाग्रों के ग्रंदर चलने को विवश थी। जिस ग्रमन की पार्टी ने संसदीय सत्ता की सभी ग्रवस्थाएं ग्रपने हाथों से नष्ट कर डाली थीं ग्रौर जो ग्रन्य वर्गों के साथ ग्रपने संघर्ष में इन्हें नष्ट कर देने के लिये विवश थी, उसके लिये ग्रपनी संसदीय विजयों को ग्रभी भी विजय मानना ग्रौर मंत्रियों पर प्रहार करके यह सोचना कि उसने राष्ट्रपति पर प्रहार किया है, इसलिये सम्भव हुग्रा कि यह पार्टी **संसदीय** जड़वामनता – **क्रेटिनिज़्म** – नामक विचित्र रोग की शिकार थी जो १८४८ के बाद से समूचे यूरोपीय महादेश में महामारी की तरह फैल गया था ग्रौर जो ग्रपने रोगियों को एक काल्पनिक जगत् में डाल देता है ग्रौर उनकी समस्त बुद्धि, स्मरण शक्ति तथा वाह्य जगत् का ग्रवबोध हर लेता है। उसने राष्ट्रपति को राष्ट्र की ग्रांखों के सामने एक बार फिर राष्ट्रीय सभा को ग्रपमानित करने का ग्रवसर मात्र प्रदान किया, बस। २० जनवरी को *«Moniteur»* ने सूचना प्रकाशित की कि पूरे मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र स्वीकार कर लिया गया है। बोनापार्त ने इस वहाने को लेकर कि किसी संसदीय पार्टी को ग्रब वहुमत प्राप्त नहीं है, जैसा कि १८ जनवरी के वोटों ने पर्वत-दल तथा

राजतंत्रवादियों के गठबन्धन के परिणाम ने—सिद्ध किया था तथा नया वहुमत तैयार होने तक, एक तथाकथित संक्रमणकालीन मंत्रिमण्डल नियुक्त किया जिसका एक भी सदस्य संसद का सदस्य न था और जिसके सभी के सभी सदस्य सर्वथा अज्ञात और महत्त्वहीन लोग थे। यह किरानियों और नक़लनवीसों का मंत्रिमण्डल था। अब खेले अमन की पार्टी इन कठपुतलों के साथ और खेलते-खेलते अपने को थका ले; जहां तक कार्यकारी सत्ता का सम्बन्ध है, वह राष्ट्रीय सभा में अपना गम्भीर प्रतिनिधित्व अनावश्यक समझती है। उसके मंत्रिगण जितने ही ज्यादा काठ के पुतले होंगे उतने ही प्रगट रूप में बोनापार्त अपने हाथ में समस्त कार्यकारी सत्ता केन्द्रित कर सकता है, और उतनी ही अधिक उसका अपने मतलव के लिये इस्तेमाल करने की उसे गुंजाइश है।

अमन की पार्टी ने, पर्वत-दल के साथ मिलकर इसका वदला १८ लाख फ़्रैंक का वह अनुदान देने से इनकार करके लिया जो १० दिसम्वर-समाज के सरदार ने अपने मंत्री-रूपी किरानियों को प्रस्तावित करने को विवश किया था। इस वार केवल १०२ वोटों के वहुमत से यह फ़ैसला हुआ; अर्थात् १८ जनवरी के वाद २७ वोट और निकल गये थे। अमन की पार्टी का विघटन वढ़ रहा था। साथ ही पर्वत-दल के साथ अपने गठबन्धन के अर्थ के विषय में एक क्षण के लिये भी कोई संदेह न रहने देने के लिये, अमन की पार्टी ने पर्वत-दल के १८९ सदस्यों द्वारा हस्ताक्षरित राजनीतिक अपराधियों की आम रिहाई के प्रस्ताव पर विचार करने से भी तिरस्कारपूर्वक इनकार कर दिया। उसके ऐसा करने के लिये गृह-मंत्री वैस का यह कहना पर्याप्त था कि देश में इस समय जो शान्ति है, वह केवल ऊपर से दिखायी देती है, कि भीतर-भीतर ज़ोरदार आंदोलन चल रहा है, कि गुप्त रूप से सर्वत्रव्यापी समितियां संगठित की जा रही हैं, जनवादी अख़वारों को फिर निकालने की तैयारियां हो रही हैं, ज़िलों से आशंकाजनक रिपोर्टें आ रही हैं, जेनेवा के शरणार्थी एक षड्यंत्र का निर्देशन कर रहे हैं जो लियां के रास्ते समूचे दक्षिणी फ़्रांस में फैल रहा है, फ़्रांस एक औद्योगिक और व्यापारिक संकट के कगार पर है, रूबे के कारख़ानेदारों ने काम के घंटे घटा दिये हैं और बेल-ईल[98] के बंदियों ने बग़ावत कर दी है। वैस जैसे एक नाचीज़ शख़्स द्वारा उपरोक्त लाल हौआ खड़ा करना ही अमन की पार्टी के लिये एक ऐसे प्रस्ताव को बिना बहस के ही ठुकरा देने को पर्याप्त था जिससे

राष्ट्रीय सभा को निश्चित रूप में अपार लोकप्रियता प्राप्त हुई होती और बोनापार्त फिर उसकी शरण में आ जाता। कार्यकारी सत्ता द्वारा नये उपद्रवों की सम्भावना का भय दिखाये जाने से डर जाने के बदले, उसे वर्ग-संघर्ष को थोड़ा उभरने का मौक़ा देना चाहिये था ताकि कार्यकारी सत्ता उसके ऊपर आश्रित बनी रहती। पर आग के साथ यह खेल खेलने की सामर्थ्य उसने अपने में नहीं पाई।

इस बीच तथाकथित संक्रमणकालीन मंत्रिमण्डल अप्रैल के मध्य तक चलता रहा। बोनापार्त मंत्रिमण्डल में लगातार हेर-फेर कर राष्ट्रीय सभा को थकाता और छकाता रहा। कभी ऐसा लगता कि वह लामार्तीन और बियो का जनतंत्रवादी मंत्रिमण्डल बनाना चाहता है, कभी संसदीय मंत्रिमण्डल बनाता जिसमें ओदिलां बारो अवश्य होता जिसका किसी भोंदू की आवश्यकता पड़ने पर नाम कभी छूट नहीं सकता है, फिर वातिमेस्निल और बेनुवा द'आज़ी का वैधतावादी मंत्रिमण्डल बनाता, और कभी मालेवील को लेकर आर्लियानिस्ट मंत्रिमण्डल की रचना करता। इस प्रकार, उसने एक ओर अमन की पार्टी के अलग-अलग गुटों में एक दूसरे के ख़िलाफ़ तनातनी बनाये रखा और सबों को जनतंत्रवादी मंत्रिमण्डल के आ जाने की, तथा इसके परिणामस्वरूप सर्व-मताधिकार के अनिवार्य रूप से फिर लागू हो जाने की सम्भावना दिखा कर आतंकित किये रखा और दूसरी ओर पूंजीपति वर्ग में यह विश्वास पैदा किया कि वह ईमानदारी से संसदीय मंत्रिमण्डल बनाने की कोशिश कर रहा है लेकिन उसकी कोशिशें राजतंत्रवादी गुटों के दुराग्रह के कारण विफल हो रही हैं। उधर पूंजीपति और भी ज़ोर से "दृढ़ सरकार" की मांग कर रहे थे, जितना ही एक आम व्यापारिक संकट निकटतर आता ज्ञात हो रहा था और नगरों में नये-नये लोगों को उसी प्रकार समाजवाद का हामी बना रहा था, जिस प्रकार ग़ल्ले की विनाशकारी सस्ती देहात में नये-नये लोगों को समाजवाद के पक्ष में ला रही थी, उतना ही वे फ़्रांस को "शासनहीन" छोड़ देना अधिक अक्षम्य समझ रहे थे। व्यापार में दिनोंदिन मंदी आ रही थी, बेरोज़गारों की संख्या में प्रत्यक्षतः वृद्धि हो रही थी, पेरिस के अन्दर कम से कम १० हज़ार मज़दूरों के पास खाने को रोटी न थी, रूआं, मलहाउस, लियां, रूबे, तूरक्वेन, सेंट-एत्येन, एलबोफ़, आदि में अनगिनत कारख़ाने बेकार पड़े थे। इस परिस्थिति में ११ अप्रैल को बोनापार्त १८ जनवरी के मंत्रिमण्डल को फिर से पदासीन करने का साहस कर सका, अर्थात्

उसने रूए, फ़ूल्द, बारोश आदि को फिर नियुक्त किया। इनके साथ वह लियों फ़ोशे को भी ले आया जिसका अपने अंतिम दिनों में संविधान सभा ने झूठे तार भेजने के अपराध में अविश्वास का प्रस्ताव एकमत से—केवल मंत्रियों के पांच वोटों को छोड़कर—पास करके मुंह काला किया था। इसका अर्थ यह हुआ कि राष्ट्रीय सभा ने १८ जनवरी को मंत्रिमण्डल पर केवल इसलिये विजय प्राप्त की थी और तीन महीने तक बोनापार्त के साथ इसलिये संघर्ष किया था कि ११ अप्रैल को फ़ूल्द और बारोश कट्टर फ़ोशे को अपने मंत्रिमण्डलीय गठबंधन में एक तीसरे पक्ष के रूप में दाख़िल कर सकें।

नवम्बर १८४९ में बोनापार्त ने एक **असंसदीय** मंत्रिमण्डल से संतोष किया था, जनवरी १८५१ में उसने एक **संसद-बाह्य** मंत्रिमण्डल से संतोष किया, पर ११ अप्रैल को उसने अपने को इतना मज़बूत पाया कि एक **संसद-विरोधी** मंत्रिमण्डल नियुक्त कर सके जिसके अंदर दोनों सभाओं—संविधान सभा और विधान सभा, जनतंत्रवादी सभा और राजतंत्रवादी सभा—के अविश्वास प्रस्तावों का सुन्दर संयोग हुआ था। मंत्रिमण्डलों की यह दर्जाबंदी वह थर्मामीटर थी जिससे संसद अपने जीवन-ताप के ह्रास की माप कर सकता था। अप्रैल के अन्त तक उसका जीवन-ताप इतना नीचे आ गया था कि पेर्सिनी ने एक वैयक्तिक भेंट में शांगार्निये को राष्ट्रपति के पक्ष में चले जाने को कहा। उसने उसे समझाया कि बोनापार्त के ख़याल से राष्ट्रीय सभा का प्रभाव पूर्णतः नष्ट हो चुका है और वह घोषणा अभी से तैयार कर रखी गयी है जो बलात् coup d'état को सम्पन्न करने के बाद—जो कि लक्ष्य के रूप में निरंतर सामने रखा जा रहा था और केवल संयोगवश ही फिर स्थगित कर दिया गया था—प्रकाशित की जायेगी। शांगार्निये ने अमन की पार्टी के नेताओं को इस मृत्यु-घोषणा की ख़बर दे दी, पर ऐसा कौन है जो यह विश्वास करे कि खटमल के काटने से कोई मर सकता है? और संसद, जो क्षत-विक्षत, विघटित तथा मरणासन्न थी, अपने को यह यक़ीन न दिला सकी कि १० दिसम्बर-समाज के बेढंगे सरदार के साथ उसका द्वंद्व-युद्ध महज़ खटमल से लड़ाई न थी। पर बोनापार्त ने अमन की पार्टी को वही जवाब दिया जो अगेसिलौस ने राजा ऐगिस को दिया था:

"मैं तुम्हें चींटा जान पड़ता हूं, पर एक दिन मैं बाघ बन जाऊंगा।"[99]

६

अमन की पार्टी ने सैन्य शक्ति को अपने क़ब्ज़े में रखने और कार्यकारी सत्ता को फिर अपनी मुट्ठी में लाने की व्यर्थ चेष्टा में पर्वत-दल और विशुद्ध जनतंत्रवादियों के साथ जिस गठबंधन में बंधा रहने को अपने को विवश पाया था, उसने निर्विवाद रूप से यह प्रमाणित कर दिया कि वह अपना स्वतंत्र संसदीय बहुमत खो चुकी है। २८ मई को मात्र कैलेंडर की घड़ी की घंटे की सूई की शक्ति ने उसके पूर्ण विघटन की सूचना दी। कारण, २८ मई को राष्ट्रीय सभा के जीवन का अंतिम वर्ष आरम्भ हो गया। उसे अब यह तय करना था कि संविधान को जैसे का तैसा रहने दिया जाये या उसे संशोधित किया जाये। किन्तु संविधान के संशोधन को केवल यही नहीं बताना था कि पूंजीपति वर्ग का शासन हो या निम्न-पूंजीवादी जनवाद स्थापित हो, जनवाद स्थापित हो या सर्वहारा का अराजकतावाद हो, संसदीय जनतंत्र रहे या बोनापार्त रहे, अपितु उसे यह भी बताना था कि आर्लियां का राज होगा या बूर्बों का! इस प्रकार संसद के अन्दर कलह का वह विष-वृक्ष रोपा गया जिससे अमन की पार्टी को विरोधी गुटों में विभक्त कर रखनेवाले हितों के झगड़े की आग का खुले रूप में भड़क उठना लाज़िमी था। अमन की पार्टी बेमेल सामाजिक जुज़ों का एक जोड़ थी। संशोधन के प्रश्न से एक ऐसा राजनीतिक तापमान उत्पन्न हुआ जिसमें इस संयोग द्वारा तैयार वस्तु अपने मूल संघटक तत्त्वों में फिर विघटित हो गई।

संशोधन में बोनापार्तपंथियों का स्वार्थ बिलकुल सीधा-सादा था। उनके लिये यह प्रश्न, सर्वोपरि, धारा ४५ को समाप्त करने का प्रश्न था जिसके द्वारा बोनापार्त का पुनर्निर्वाचन तथा उसकी सत्ता की अवधि का बढ़ना निषिद्ध था। जनतंत्रवादियों की स्थिति भी इस मामले में उतनी ही सीधी-सादी थी। वे बिना शर्त किसी प्रकार के संशोधन का विरोध करते थे; उन्हें इसमें जनतंत्र के विरुद्ध एक सार्वत्रिक षड्यंत्र दिखाई पड़ता था। चूंकि राष्ट्रीय सभा के एक चौथाई से अधिक वोट उनके पास थे और संविधान के अनुसार संशोधन सम्बन्धी किसी प्रकार के प्रस्ताव के क़ानूनन् जायज़ होने के लिये तथा संशोधनकारी सभा के बुलाने के लिये तीन चौथाई वोटों की ज़रूरत थी, इसलिये उनके अपने वोटों की संख्या ही विजय का निश्चय कराने के लिये काफ़ी थी। और उन्हें अपनी विजय के बारे में पूर्ण निश्चय था।

इन लोगों की स्पष्ट स्थिति के विपरीत अमन की पार्टी अपने को ऐसे अंतर्विरोधों में फंसा पा रही थी जिनसे निकलना असम्भव था। यदि वह संशोधन करने से इनकार करती है तो यथास्थिति ख़तरे में पड़ जायेगी, क्योंकि तब बोनापार्त के सामने एक ही रास्ता रह जायेगा, बल-प्रयोग का रास्ता, और क्योंकि मई १८५२ के दूसरे रविवार को, निर्णायक घड़ी में, वह फ़्रांस को क्रांतिकारी अराजकता के हाथों में छोड़ देगी, जिसमें राष्ट्रपति होगा जिसकी सत्ता समाप्त हो चुकी रहेगी, संसद होगी जिसके हाथ में सत्ता एक लम्बे अर्से से रही ही नहीं है और जनता होगी जो सत्ता फिर अपने हाथों में करने पर तुली हुई है। यदि वह संविधान के संशोधन के पक्ष में वोट देती है, तो वह जानती है कि उसका वोट देना व्यर्थ होगा और जनतंत्रवादियों के निषेध के कारण उसे विधानतः विफल ही होना पड़ेगा। यदि उसने अवैधानिक रूप से साधारण बहुमत को ही बाध्यतामूलक घोषित किया, तो वह क्रांति पर प्रभुत्व प्राप्त करने की तभी आशा कर सकती है जब वह कार्यकारी सत्ता की सार्वभौमता की बिना शर्त मातहती क़बूल करे, तो वह बोनापार्त को संविधान का, उसके संशोधन का और स्वयं अपना स्वामी बना देगी। यदि वह संविधान का केवल आंशिक संशोधन करती है जिससे राष्ट्रपति की सत्तावधि बढ़ा दी जाये, तो इससे बोनापार्त द्वारा राज्य-सत्ता के अपहरण का मार्ग प्रशस्त होगा। और यदि वह संविधान का आम संशोधन करती है जिससे जनतंत्र की जीवनावधि अल्प हो जायेगी, तो राजवंशीय दावे अनिवार्यतः एक दूसरे से टकरायेंगे, क्योंकि बूर्बों राज के पुनःस्थापन की शर्तें आर्लियानिस्ट राज के पुनःस्थापन की शर्तों से केवल भिन्न ही न थीं, अपितु वे परस्पर अपवर्जी भी थीं।

संसदीय जनतंत्र केवल वह तटस्थ प्रदेश ही न था जिसपर फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग के दोनों गुट — लेजिटिमिस्ट और आर्लियानिस्ट, बड़ी भूसम्पत्ति और उद्योग — समान अधिकारों का उपभोग करते हुए साथ-साथ रह सकते थे। यह उनके सम्मिलित शासन की अनिवार्य शर्त था, राज्य का वह एकमात्र रूप था जिसमें उनका सामान्य वर्ग-हित उनके अलग-अलग गुटों के दावों और समाज के शेष सभी वर्गों के हितों, दोनों को अपने अधीनस्थ करके रखता था। किंतु राजतंत्रवादियों की हैसियत से वे अपने पुराने झगड़े में, भूमि-सम्पत्ति का बोलबाला हो या पैसे का, इस झगड़े में पड़ जाते थे जिसकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति, जिसका साकार रूप उनके बादशाह थे, उनके अलग-

अलग राजघराने थे। इसी लिये अमन की पार्टी बूर्बों के वापस बुलाये जाने का विरोध करती थी।

आर्लियानिस्ट और जन-प्रतिनिधि श्रोतों ने नियमित रूप से १८४९, १८५० और १८५१ में यह प्रस्ताव उपस्थित किया था कि राज परिवारों के निर्वासन की आज्ञा रद्द कर दी जाये। और हर बार संसद ने ऐसे राजतंत्रवादियों की एक सभा का नाटकीय दृश्य उपस्थित किया जो कठोर हृदय होकर उस द्वार को बंद किये खड़े थे जिससे उनके निर्वासित बादशाह घर लौट सकते थे। रिचार्ड तृतीय ने हेनरी षष्ठम की हत्या यह कहते हुए की थी कि उस जैसा नेक आदमी इस धरती के लिये नहीं बना है, कि उसकी जगह स्वर्ग में है। इन राजतंत्रवादियों का कहना था कि फ़्रांस जैसा बुरा देश फिर से राजा प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है। परिस्थितियों में फंस कर वे जनतंत्रवादी बन गये थे, और अपने राजाओं को फ़्रांस से निर्वासित करने के जन-निर्णय पर उन्होंने बारम्बार मंजूरी की मुहर लगाई।

संविधान का संशोधन—और परिस्थितियां संशोधन के विषय में सोचने को विवश कर रही थीं—जनतंत्र के साथ, दोनों पूंजीवादी गुटों के सम्मिलित शासन पर भी प्रश्नसूचक चिह्न लगा देता था; राजतंत्र की सम्भावना उत्पन्न करके वह उन हितों की प्रतिद्वंद्विता को, जिनका उसने बारी-बारी से प्रबल प्रतिनिधित्व किया था, एक गुट द्वारा दूसरे पर प्राधान्य स्थापित करने के संघर्ष को पुनर्जीवित करता था। अमन की पार्टी के कूटनीतिज्ञों का विचार था कि वे दोनों राजघरानों को मिलाकर, राजतंत्रवादी पार्टियों और उनके राजघरानों का तथाकथित **विलय** कराकर संघर्ष को निपटा सकते हैं। पुनःस्थापन और जुलाई राजतंत्र का वास्तविक विलय तो संसदीय जनतंत्र था, जिसमें आर्लियानिस्ट और लेजिटिमिस्ट मिट जाते थे और पूंजीपतियों की अलग-अलग जातियां मानो एक पूंजीवादी प्रजाति में मिलकर एकाकार हो जाती थीं। किन्तु अब आर्लियानिस्ट को लेजिटिमिस्ट और लेजिटिमिस्ट को आर्लियानिस्ट बनना था; राजतंत्र को, जिसमें उनका विग्रह मूर्त्त था, उनकी एकता का साकार रूप बनना था; परस्पर अपवर्जी गुट-हितों की अभिव्यक्ति को उनके सम्मिलित वर्ग-हित की अभिव्यक्ति बननी थी; राजतंत्र से वह कार्य सम्पन्न कराना था जो दोनों बादशाहियों का उन्मूलन, अर्थात् जनतंत्र ही कर सकता था, और करता रहा था। ऐसा कर सकने वाले पारस पत्थर को पैदा करने के लिये अमन की पार्टी के पण्डितगण जोरों से माथापच्ची

कर रहे थे। वे भूल गये कि वैधतावादी राजतंत्र कभी औद्योगिक पूंजीपतियों का राजतंत्र नहीं बन सकता, अथवा पूंजीवादी राजतंत्र कभी मौरूसी भूसम्पत्ति के स्वामी कुलीनों का राजतंत्र नहीं बन सकता। वे भूल गये कि भूमि-सम्पत्ति और उद्योग का एक राजमुकुट के तहत भाईचारा नहीं चल सकता, क्योंकि राजमुकुट दो में से किसी एक सिर पर ही रहेगा – बड़े भाई के सिर पर या छोटे भाई के सिर पर। वे भूल गये कि उद्योग का भूमि-सम्पत्ति के साथ तब तक कभी मेल नहीं हो सकता जब तक भूमि-सम्पत्ति स्वयं ही औद्योगिक बन जाने का निर्णय न कर ले। यदि आंरी पंचम की कल मृत्यु हो जाये तो काउंट ऑफ़ पेरिस इस मृत्यु के कारण लेजिटिमिस्टों का राजा नहीं बन जायेगा, जब तक कि वह ऑर्लियानिस्टों का राजा होने से बाज़ न आये। पर विलय के सिद्धांतवादी, जो संशोधन के प्रश्न के अधिकाधिक आगे आने के साथ उसी अनुपात में अधिकाधिक मुखर होते जा रहे थे, जिन्होंने *«Assemblée nationale»*[100] नामक अपना आधिकारिक दैनिक समाचारपत्र भी स्थापित कर लिया था और जो इस घड़ी भी (फ़रवरी १८५२) फिर क्रियाशील हैं, समझते थे कि सारी कठिनाई इसलिये है कि दोनों राजघरानों में विग्रह और प्रतिद्वंद्विता है। ऑर्लियां परिवार का आंरी पंचम के साथ मेल कराने की चेष्टाएं लूई फ़िलिप की मृत्यु के समय से ही आरम्भ हुई थीं, पर जैसा कि राजवंशीय मन्त्रणाओं के साथ आम तौर से होता है, यह खेल अभी तक केवल राष्ट्रीय सभा की तातीलों के समय ही, यवनिकाओं के बीच, रंगमंच के पार्श्व में, खेला जाता था। वह कोई गंभीर व्यापार न था, वरन् वह पुराने अंधविश्वासों के साथ एक भावुकतापूर्ण खिलवाड़ था। अब इस खेल ने भव्य राज्यीय अभिनय का रूप ले लिया था जिसे अमन की पार्टी कुछ शौक़ीनों की वैयक्तिक रंगशाला में न खेलकर, जैसा कि उसने अभी तक किया था, सार्वजनिक रंगमंच पर उपस्थित कर रही थी। दूतगण पेरिस से वेनिस[101], वेनिस से क्लेरमां, क्लेरमां से पेरिस के बीच दौड़-भाग रहे थे। काउंट ऑफ़ शाम्बोर ने एक घोषणापत्र प्रकाशित किया जिसमें "अपने परिवार के सभी सदस्यों की सहायता से" उसने अपनी व्यक्तिगत पुनःस्थापन की नहीं, अपितु "राष्ट्रीय" पुनःस्थापन की घोषणा की। ऑर्लियानिस्ट साल्वांदी जाकर आंरी पंचम के पैरों पर गिर पड़ा। लेजिटिमिस्टों के सरदार बेरिये, बेनुवा द'आज़ी और सेंट-प्रीस्त ऑर्लियां गिरोह को समझाने के लिये क्लेरमां गये, पर उनकी यात्रा विफल हुई। विलयवादियों को बहुत देर बाद

यह समझ आयी कि दो पूंजीवादी गुटों के हित पारिवारिक हितों के, दो राजघरानों के हितों का रूप धारण कर अपनी परस्पर अपवर्जिता नहीं खोते, न ही लचकदार बन जाते हैं, अपितु वे और भी पैने हो जाते हैं। आंरी पंचम के काउंट ऑफ़ पेरिस को अपना उत्तराधिकारी मान लेने से – विलय से अधिक से अधिक यही एकमात्र सफलता प्राप्त हो सकती थी – आर्लियां राजवंश ऐसा कोई अधिकार नहीं प्राप्त करेगा, जो आंरी पंचम के निस्संतान होने के कारण उसे अभी ही न प्राप्त हो, अलबत्ता वह उन सभी स्वत्वों से हाथ धो बैठेगा जो उसने जुलाई क्रांति के जरिये प्राप्त किये थे। वह अपने मूल दावों को, उन सभी स्वत्वों को, जो उसने बूर्बों वंश की अधिक पुरानी शाखा से प्रायः सौ वर्षों के संघर्ष द्वारा प्राप्त किये थे, परित्याग करेगा; वह अपना ऐतिहासिक परमाधिकार, आधुनिक बादशाही का परमाधिकार, अपने कुर्सीनामे के परमाधिकार के बदले में बेच डालेगा। अतः विलय आर्लियां वंश द्वारा स्वेच्छापूर्वक सिंहासन-त्याग, राजकुल वैधता के आगे घुटने टेकना, प्रोटेस्टेंट राजकीय चर्च को पश्चात्तापपूर्वक छोड़कर कैथोलिक चर्च में जाना, यही होगा और कुछ नहीं। इतना ही नहीं, इस पसपाई से उसे खोया हुआ सिंहासन भी प्राप्त न होगा, वरन् इससे वह सिंहासन की सीढ़ियों तक ही, जहां उसका जन्म हुआ था, पहुंचेगा। पुराने आर्लियानिस्ट मंत्री, गीज़ो, दुशातेल आदि, जो दूसरों की तरह विलय कराने के लिये दौड़े-दौड़े क्लेरमां गये, वस्तुतः केवल जुलाई क्रांति के बाद की ख़ुमारी भावना का, पूंजीवादी बादशाही और पूंजीपतियों की बादशाहियत के प्रति निराशा का, इस अंधविश्वासपूर्ण विचार का कि राजकुल वैधता अराजकता का अंतिम मंत्रोपचार है, प्रतिनिधित्व करते थे। वे अपने को आर्लियां और बूर्बों के बीच मध्यस्थता करनेवाले समझते थे, पर दरअसल वे आर्लियानिस्ट पक्ष के ग़द्दार थे, और प्रिंस ऑफ़ ज्वानवील ने उनका इसी रूप में स्वागत किया। दूसरी ओर आर्लियानिस्टों के उस भाग ने, जो जीवनक्षम एवं लड़ने को प्रवृत्त था अर्थात् थियेर, वाज़ आदि ने लूई फ़िलिप के परिवार को और भी आसानी से यह विश्वास दिला दिया कि यदि प्रत्यक्ष राजतंत्रीय पुनःस्थापन में यह पूर्वमान्य हो कि दोनों राजवंशों का विलय होना चाहिये और यदि ऐसे विलय के लिये यह पूर्वमान्य हो कि आर्लियां परिवार सिंहासन का दावा छोड़ देगा, तो यह उनके पूर्वजों की परम्परा के सर्वथा अनुरूप होगा कि वे अस्थायी रूप से जनतंत्र को मान्यता देकर उस समय की प्रतीक्षा करें जब राष्ट्रपति

की कुर्सी को राजसिंहासन में परिवर्तित करने की अनुमति प्रदान करेगा। यह अफ़वाह फैलाई गई कि ज्वानवील राष्ट्रपति के चुनाव के लिये खड़ा होनेवाला है, सार्वजनिक कुतूहल जगा दिया गया, और कुछ महीनों बाद, अर्थात् सितम्बर में संशोधन के अस्वीकृत हो जाने के बाद उसकी उम्मीदवारी की सार्वजनिक घोषणा कर दी गई।

अतएव आर्लियांनिस्ट और लेजिटिमिस्ट राजघरानों के विलय की चेष्टा असफल ही नहीं हुई बल्कि उसने उनके **संसदीय विलय**, उनके संयुक्त जनतंत्रवादी रूप को नष्ट कर दिया और अमन की पार्टी को अपने मूल संघटक टुकड़ों में बांट दिया। पर क्लेरमां और वेनिस का विलगाव जितना ही अधिक बढ़ रहा था, जितनी ही अधिक उनकी समझौता वार्त्ता विफल होती जा रही थी तथा ज्वानवील सम्बन्धी प्रचार ज़ोर पकड़ता जा रहा था, उतने ही अधिक ज़ोर और सरगर्मी के साथ बोनापार्त के मन्त्री फ़ोशे एवं लेजिटिमिस्टों में वार्त्ता चलने लगी थी।

अमन की पार्टी का विघटन उसके मूल तत्त्वों में विभक्त हो जाने तक ही सीमित न रहा। दोनों गुटों के अन्दर भी नये सिरे से विघटन आरम्भ हो गया। ऐसा लगा कि इन दो मण्डलों – लेजिटिमिस्टों और आर्लियांनिस्टों – के अन्दर हलके विभेद की पुरानी छायाएं जो पहले कभी आपस में रेलपेल किया करती थीं, अब इस प्रकार फिर स्पन्दनशील हो गयी हैं जिस प्रकार जल के सम्पर्क में आने पर सूखी इन्फ़्यूसोरिया स्पन्दनशील हो उठती है, कि मानो उनमें नये सिरे से इतनी पर्याप्त जीवन स्फूर्ति आ गयी है कि वे अपने अलग गुट बना सकती एवं स्वतंत्र रूप से विग्रह का सूत्रपात कर सकती हैं। लेजिटिमिस्ट यह कल्पना करने लगे कि वे तूलरी और पैविलियन मार्सां के, विलेल और पोलिन्याक के पुराने विवादों[103] के दिनों में फिर पहुंच गये हैं। आर्लियांनिस्ट मानस जगत् में गीज़ो, मोले, ब्रोलिये, थियेर और ओदिलां वारो की क्रीड़ा-प्रतियोगिताओं के स्वर्णिम युग में फिर रहने लगे।

अमन की पार्टी के उस हिस्से ने, जो संशोधन के लिये उत्सुक था, पर संशोधन की सीमा क्या हो, इस विषय पर विभक्त था – जिसमें एक भाग वह था जिसमें एक ओर बेरिये और फ़ालू के नेतृत्व में चलनेवाले और दूसरी ओर लारोशजाकलिन के नेतृत्व में चलनेवाले लेजिटिमिस्ट थे तथा दूसरा भाग मोले, ब्रोलिये, मोन्तालेम्बेर एवं ओदिलां बारो के नेतृत्व में चलनेवाले, झगड़े से ऊबे, आर्लियांनिस्टों का था, बोनापार्ती सदस्यों के साथ इस बात पर

समझौता किया कि निम्नलिखित अनिश्चित और व्यापक प्रारूप वाला प्रस्ताव उपस्थित किया जाये :

"राष्ट्र सार्वभौमता के अपने अधिकार का फिर से पूर्णतया प्रयोग करे, इस उद्देश्य से, निम्न हस्ताक्षरित सदस्य यह प्रस्ताव करते हैं कि संविधान संशोधित किया जाये।"

पर साथ ही उन्होंने एकमत से अपने रिपोर्टर तोकवील की माफ़ंत यह भी घोषित किया कि राष्ट्रीय सभा को **जनतंत्र की समाप्ति** का प्रस्ताव लाने का अधिकार नहीं है, यह अधिकार सोलहों आना संशोधनकारी सदन को है। हां, संविधान **"वैध" विधि से** ही संशोधित किया जा सकता है, अर्थात् जैसा कि संविधान में लिखा है, संशोधन के पक्ष में कुल वोटों का तीन-चौथाई आने पर ही ऐसा किया जा सकता है। १९ जुलाई को, ६ दिनों की तूफ़ानी वहस के वाद, संशोधन की वात, जैसा कि प्रत्याशित ही था, अस्वीकृत हो गयी। संशोधन के पक्ष में ४४६ और विपक्ष में २७८ वोट आये। चरम आर्लियानिस्ट, थियेर, शांगार्नियें, आदि ने जनतंत्रवादियों और पर्वत-दल के साथ वोट दिया।

इस प्रकार संसद के वहुमत ने संविधान के विपक्ष में वोट दिया, पर स्वयं संविधान ने अपने को अल्पमत के पक्ष में घोषित किया और यह कहा कि उसका वोट वाध्यकारी है। पर अमन की पार्टी क्या संविधान को ३१ मई १८५० तथा १३ जून १८४९ को संसदीय बहुमत के अधीनस्थ नहीं वना चुकी थी? अब तक क्या उसकी पूरी नीति ही संविधान की धाराओं को संसदीय वहुमत के निर्णयों के अधीनस्थ रखने पर आधारित न थी? अब तक क्या क़ानून के शब्दों में प्राचीन, गतव्यवहार अन्धविश्वास उसने जनवादियों के लिये ही नहीं छोड़ रखा था, और इसके लिये उन्हें आड़े हाथों न लिया था? किंतु इस समय संविधान के संशोधन का एकमात्र अर्थ राष्ट्रपति की सत्ता को जारी रखना था, जिस प्रकार संविधान को जारी रखने का एकमात्र अर्थ बोनापार्त का सत्ताच्युत होना था। संसद ने बोनापार्त के पक्ष में वोट दिया था, पर संविधान संसद के विपक्ष में था। अतः बोनापार्त ने जब संविधान को फाड़ फेंका तो उसने संसद की भावना के अनुसार काम किया, और जब उसने संसद को भंग कर दिया तो संविधान की भावना के अनुसार कार्य किया।

संसद ने संविधान को, और संविधान के साथ स्वयं अपने शासन को "बहुमत के परे" घोषित किया था। अपने वोट द्वारा उसने संविधान का उन्मूलन और राष्ट्रपति की सत्ता का अवधि-विस्तार किया था, जब कि साथ ही उसने यह भी घोषित किया था कि जब तक वह जीवित है न संविधान मर सकता है और न राष्ट्रपति की सत्ता जीवित रह सकती है। उसे दफ़न करनेवाले दरवाज़े पर खड़े थे। जब वह संशोधन के ऊपर बहस कर रहा था, तभी बोनापार्त ने जनरल बारागे द'इलिए को, जो डांवांडोल तबीयत का साबित हुआ था, प्रथम सेना डिवीज़न की कमान से हटा दिया। उसकी जगह पर उसने लियां के विजेता और दिसम्बर के दिनों के वीर नायक जनरल मान्यान को नियुक्त किया। जनरल मान्यान उन लोगों में था जिन्हें ख़ुद बोनापार्त ने बनाया था और जो लूई फ़िलिप के ज़माने में ही बूलोन के अभियान के अवसर पर न्यूनाधिक बोनापार्तपंथ होने के लिये बदनाम हो चुका था।

संशोधन सम्बन्धी अपने निर्णय द्वारा अमन की पार्टी ने यह साबित कर दिया कि वह न शासन करना जानती थी न सेवा करना; न वह जीना जानती थी न मरना; न जनतंत्र को बर्दाश्त करना जानती थी, न उसका उन्मूलन करना; न संविधान की रक्षा करना जानती थी न उसे फाड़ फेंकना; वह न यह जानती थी कि राष्ट्रपति के साथ सहयोग कैसे किया जाये, न यह कि उसके साथ सम्बन्ध विच्छेद कैसे किया जाये। तब सभी विरोधाभासों के समाधान के लिये वह किसका मुंह जोहती थी? कैलेंडर का, घटनाक्रम का। उसने घटनाओं पर क़ाबू रखने का गुमान छोड़ दिया। अतः उसने घटनाओं को चुनौती दी कि वे उसे क़ाबू में कर लें और ऐसा करके उस शक्ति को चुनौती दी जिसे अपने जन-विरोधी संघर्ष में वह एक-एक करके सत्ता की सभी विशेषतायें सौंपती गयी थीं, यहां तक कि अब वह स्वयं उस शक्ति के आगे बेबस खड़ी थी। कार्यकारी सत्ता का प्रधान और भी अधिक निर्बाध होकर उसके विरुद्ध अपनी युद्ध-योजना तैयार कर सके, आक्रमण के अपने साधनों को और सुदृढ़ कर सके, अपने औज़ार चुन सके तथा अपनी क़िलाबन्दी कर सके, इसलिए ऐन इसी नाज़ुक मौक़े पर उसने रंगमंच से हट जाने का, अर्थात् अपना अधिवेशन १० अगस्त से ४ नवम्बर तक स्थगित कर देने का फ़ैसला किया।

संसदीय पार्टी न केवल अपने संघटक दो बड़े गुटों में विघटित हो गयी

थी, न केवल इन दोनों गुटों के अंदर ख़ुद फूट पड़ गयी थी, संसद के अंदर अमन की पार्टी का संसद के बाहर अमन की पार्टी से भी बिगाड़ हो गया था। पूंजीपति वर्ग के प्रवक्ता और लेखक, उसके भाषणकर्त्ता और उसके अख़बार, संक्षेप में पूंजीपति वर्ग के सिद्धांतकार तथा पूंजीपति वर्ग स्वयं– प्रतिनिधि और वे जिनका प्रतिनिधित्व होता था–ये दोनों ही बेगाने बन गये, न ये उन्हें समझ पाते थे न वे इन्हें समझ पाते थे।

प्रांतों के अन्दर लेजिटिमिस्ट, जिनका दृष्टिपथ सीमित और उत्साह असीम था, अपने संसदीय नेता बेरिये और फ़ालू पर आंरी पंचम को छोड़ कर बोनापार्तपंथियों की ओर जा मिलने का दोषारोपण कर रहे थे। उनके शाही फरहरे वाले दिमाग़ में यह बात समाती थी कि मनुष्य का पतन होता है, पर यह नहीं आती थी कि कूटनीति भी कोई चीज़ होती है।

व्यावसायिक पूंजीपतियों और उनके राजनीतिज्ञों का विलगाव इससे कहीं अधिक सांघातिक, और निर्णायक सिद्ध हुआ। लेजिटिमिस्टों ने अपने राजनीतिज्ञों पर यह आरोप लगाया था कि उन्होंने अपने सिद्धान्तों का परित्याग किया है, इन्होंने अपने राजनीतिज्ञों पर यह आरोप लगाया कि वे ऐसे सिद्धान्तों से चिपके हुए हैं जो बेकार हो गये हैं।

हम पहले ही बता चुके हैं कि फ़ूल्द के मंत्रिमण्डल में आने के बाद से व्यावसायिक पूंजीपतियों का वह हिस्सा, जो लूई फ़िलिप के ज़माने में सत्ता के सर्वाधिक भाग का उपभोग करता था, अर्थात् वित्तीय महाप्रभुओं का हिस्सा, बोनापार्तपंथी हो गया था। फ़ूल्द बूर्स में बोनापार्त के हितों का प्रतिनिधित्व ही नहीं करता था, वह साथ ही बोनापार्त के सामने बूर्स के हितों का प्रतिनिधित्व भी करता था। वित्तीय नवाब क्या चाहते थे यह उनके यूरोपीय मुखपत्र, लन्दन के *«Economist»*[103] के एक लेखांश में बड़ी स्पष्टता से अंकित है। उसके १ फ़रवरी १८५१ के अंक में पेरिस के उसके सम्वाददाता ने लिखा है:

"अनेकानेक क्षेत्रों में यह बात कही गई है कि फ़्रांस सर्वोपरि शान्ति चाहता है। राष्ट्रपति ने यह बात विधान सभा को अपने संदेश में कहा है; सभामंच से यही बात प्रतिध्वनित हुई है; अख़बारों में यही बात ज़ोर देकर कही जा रही है; पादरियों द्वारा इसी की घोषणा की जा रही है; यह इस बात से भी प्रत्यक्ष हो जाती है कि उपद्रव की तनिक भी आशंका होने पर सरकारी ऋणपत्रों के लिखे डांवांडोल

हो जाते हैं और यह प्रगट होते ही कि कार्यकारी सत्ता विजयी हुई है, उनमें स्थायित्व आ जाता है।"

२९ नवम्बर १८५१ के अपने अंक में «*Economist*» ने अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में लिखा :

"राष्ट्रपति शान्ति का संरक्षक है, और यूरोप के सभी शेयर बाज़ार आज उसे इसी रूप में मानते हैं।"

तात्पर्य यह कि वित्तीय नवाब कार्यकारी सत्ता के साथ अमन की पार्टी के संसदीय संघर्ष को अमन पर आघात समझते थे और उनके ऊपर जो कहने को उनके प्रतिनिधि थे, राष्ट्रपति की प्रत्येक विजय को अमन की जीत मान कर ख़ुश होते थे। यहां हम जब वित्तीय नवाबों की बात करते हैं तो तात्पर्य केवल उन लोगों से नहीं है जो सरकारी ऋणपत्रों को बिकवाते और उनकी सट्टेबाज़ी करते हैं, और जिनके सम्बन्ध में यह सहज स्पष्ट है कि उनके हित राज्य-सत्ता के हितों से मेल खाते हैं। पूरा का पूरा आधुनिक वित्त, बैंकों का समूचा कारबार, सरकारी साख के साथ घनिष्ठतम रूप में जुड़ा हुआ है। बैंकों की पूंजी का एक हिस्सा अनिवार्य रूप में सहज ही सरकारी बाँडों में विनियुक्त और सूद पर उठा दिया जाता है। इन बैंकों में जमा रक़में, उनके पास रखी पूंजी, जिसे वे व्यापारियों और उद्योगपतियों के बीच वितरित करते हैं, अंशतः सरकारी ऋणपत्रों के धारकों के लाभांशों से प्राप्त होती है। राज्य-सत्ता की स्थिरता पूरे मुद्रा बाज़ार के लिए और इस मुद्रा बाज़ार के पण्डों के लिए जब सभी युगों में पूजनीय रही है, तो आज वह ऐसा और भी अधिक क्यों न हो जब हर जल-प्रलय पुराने राज्यों को, और पुराने राज्यों के साथ राजकीय ऋणों को बहा ले जाने का ख़तरा पैदा कर देता है?

औद्योगिक पूंजीपति भी अमन के प्रति अपने अन्धे जोश में कार्यकारी सत्ता के साथ अमन की संसदीय पार्टी के झगड़ों से बहुत नाराज़ हो रहे थे। १८ जनवरी को शांगार्निये की बर्ख़ास्तगी के मौक़े पर अपने वोट देने के बाद थियेर, आंग्ले, सेंट-बेव आदि को ठीक औद्योगिक क्षेत्रों के ही अपने निर्वाचकों से खुले-बाज़ार फटकारें सुनने को मिलीं, जिनमें पर्वत-दल के साथ उनके गठबन्धन को अमन के प्रति ग़द्दारी कह कर उसकी ख़ास तौर पर निन्दा की गयी थी। यदि, जैसा हम देख चुके हैं, बोनापार्त के साथ संघर्ष

में अमन की पार्टी की दम्भपूर्ण कटूक्तियां और ओछी दुरभिसन्धियां ऐसे ही स्वागत के योग्य थीं, तो ऐसी पूंजीवादी पार्टी, जिसने अपने प्रतिनिधियों से यह मांग की हो कि वे बिना लड़े ही सैनिक सत्ता को अपनी संसद के हाथों से एक जोखोंबाज़ दावेदार के हाथों में चले जाने दें, इस योग्य भी न थी कि उसके लिए ये दुरभिसन्धियां की जायें! इससे तो यही सिद्ध होता था कि वह अपने सार्वजनिक हितों, अपने ही **वर्ग-हितों**, अपनी राजनीतिक सत्ता को बरक़रार रखने के लिए किये जानेवाले संघर्ष से परेशानी और दिक़्क़त महसूस करती थी, क्योंकि उससे उसके वैयक्तिक कारबार में व्याघात उपस्थित होता था।

बोनापार्त के दौरों में ज़िलों के नगरों के पूंजीवादी ओहदेदार, नगरपालिकाओं के अधिकारी, औद्योगिक अदालतों के जज आदि, सभी ने बिना अपवाद के, दुम हिलाकर उसका स्वागत किया, उस वक़्त भी किया जब उसने बेलग़ाम होकर राष्ट्रीय सभा की और ख़ास कर अमन की पार्टी की आलोचना की, जैसा कि उसने दिजों नगर में किया।

जब व्यापार की हालत अच्छी थी, जैसा कि १८५१ के आरम्भ तक था, तो व्यापारिक पूंजीपति किसी भी संसदीय संघर्ष से इसलिए झल्लाते थे कि कहीं उससे व्यापार की सुस्थिरता न जाती रहे। और जब व्यापार की हालत बुरी हुई, जैसा कि फ़रवरी १८५१ के अंत से लगातार हुआ, तो व्यापारिक पूंजीपतियों ने आरोप लगाया कि संसदीय संघर्ष ही मन्दी का कारण है और गुहार मचाने लगे कि इसे बन्द करो ताकि व्यापार फिर उभर सके। संविधान के संशोधन सम्बन्धी बहसें ठीक इसी बुरे वक़्त में हुईं। चूंकि इस प्रसंग में सवाल यह था कि राज्य का विद्यमान रूप रहे या न रहे, इसलिए पूंजीपति अपने प्रतिनिधियों से यह मांग करना और भी अधिक उचित समझते थे कि इस बेतरह पेंचदार आरज़ी बन्दोबस्त का ख़ात्मा किया जाये और साथ ही यथास्थिति क़ायम रखी जाये। इसमें कोई विरोधाभास न था। आरज़ी बन्दोबस्त के ख़ात्मे से उनका तात्पर्य उसके जारी रहने ही से था, निर्णय करने की घड़ी को दूर भविष्य तक टालने से था। यथास्थिति दो ही तरीक़ों से क़ायम रखी जा सकती थी: या तो बोनापार्त की सत्तावधि बढ़ा दी जाती, या वह विधानतः अवकाश ग्रहण करता और कैवेन्याक चुना जाता। पूंजीपतियों का एक भाग बाद वाले तरीक़े को पसन्द करता था, अपने प्रतिनिधियों को वह बस यही सलाह दे सकता था कि वे चुप रह जायें

और उस विवादास्पद सवाल को न उठायें। उनका विचार यह था कि यदि उनके प्रतिनिधिगण चुप रहें, तो बोनापार्त कुछ नहीं करेगा। वे शुतुरमुर्ग़ जैसी 'संसद चाहते थे जो अदृश्य होने के लिए अपना सिर गाड़ ले। पूंजीपतियों का एक और हिस्सा था जो चाहता था कि बोनापार्त चूंकि राष्ट्रपति की कुर्सी पर ही है, इसलिए उसे वहीं रहने दिया जाये ताकि सब कुछ पुरानी लीक पर क़ायम रहे। वे इसलिए झुंझलाये हुए थे कि उनकी संसद ने खुलेआम संविधान की अवहेलना नहीं की और चुपचाप सत्ता त्याग नहीं किया।

ज़िलों की जनरल कौंसिलों ने —वड़े पूंजीपतियों की इन प्रादेशिक प्रतिनिधि संस्थाओं ने जिनके अधिवेशन राष्ट्रीय सभा की तातील में, २५ अगस्त से आरम्भ हुए—प्राय: एकमत से संशोधन के पक्ष में, और इस प्रकार संसद के प्रतिकूल और बोनापार्त के अनुकूल मत व्यक्त किया।

पूंजीपतियों ने जितने असन्दिग्ध रूप से अपने **संसदीय प्रतिनिधियों** से विगाड़ की, उससे भी अधिक असंदिग्ध रूप से वे अपने साहित्यिक प्रतिनिधियों, अपने अख़बारों से नाराज़ हुए। बोनापार्त की सत्ता का बलात् अपहरण करने की इच्छाओं की आलोचना करने के लिए पूंजीवादी पत्रकारों पर, कार्यकारी सत्ता के विरुद्ध पूंजीपति वर्ग के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा की प्रत्येक चेष्टा के लिए अख़बारों पर, पूंजीवादी जूरियों के फ़ैसलों पर, जो कमर तोड़ देनेवाले जुर्माने ठोंके गये और क़ैद की शर्मनाक सज़ाएं दी गयीं, उनसे फ़्रांस ही नहीं समूचा यूरोप स्तब्ध रह गया।

अमन की संसदीय पार्टी जब, जैसा कि हम दिखा चुके हैं, शान्ति के लिए हल्ला मचाकर अपना हाथ वांध रही थी जब समाज के अन्य वर्गों के साथ अपने संघर्ष में अपने शासन की, संसदीय शासन की सभी अवस्थाओं का अपने हाथों से ख़ात्मा करके पूंजीपति वर्ग के राजनीतिक शासन को पूंजीपति वर्ग की सुरक्षा एवं अस्तित्व के साथ बेमेल घोषित कर रही थी, तभी **पूंजीपतियों का वह जन-समुदाय जो संसद से बाहर** था राष्ट्रपति के आगे दुम हिला करके, संसद के विरुद्ध कुत्सा-प्रचार करके, अपने ही अख़बारों के साथ नृशंसतापूर्ण व्यवहार करके, बोनापार्त को न्योता दे रहा था कि वह उसके बोलने और लिखनेवाले अंग को, उसके राजनीतिज्ञों और लेखकों को, उसके भाषणकर्त्ताओं एवं समाचारपत्रों को कुचल डाले, जिससे कि वह एक शक्तिशाली और निरंकुश सरकार की छत्रछाया में पूरे इतमीनान के साथ अपना निजी कारबार चला सके। उसने स्पष्ट घोषणा की कि वह

अपने ही राजनीतिक शासन से मुक्ति पाने को लालायित है ताकि वह शासन करने के झगड़े-टंटे और ख़तरे से बरी हो जाये।

और ये ही संसद-बाहरी पूंजीपति जिन्होंने अपने ही वर्ग के शासन के लिए चलनेवाले विशुद्ध संसदीय और प्रचार संघर्ष के विरुद्ध विद्रोह किया था तथा इस संघर्ष के नेताओं के साथ ग़द्दारी की थी, अब, दुष्काण्ड हो जाने के बाद, मज़दूर वर्ग पर यह दोषारोपण करते हैं कि उसने रक्त-रंजित संघर्ष नहीं छेड़ा, कि वह उनकी ओर से जीवन-मृत्यु के संघर्ष में नहीं पिल पड़ा! जिन पूंजीपतियों ने हमेशा ओछे से ओछे वैयक्तिक हितों की वेदी पर अपने सामान्य वर्ग-हितों की, यानी अपने राजनीतिक हितों की बलि दी तथा अपने प्रतिनिधियों से भी ऐसा ही करने की मांग की, वे ही अब यह रोना रो रहे हैं कि मज़दूरों ने अपने (यानी पूंजीपतियों के) आदर्श राजनीतिक हितों को अपने (यानी मज़दूर वर्ग) के भौतिक हितों की वेदी पर बलि चढ़ाया है। वे ऐसी सुन्दरी बन रहे हैं जिसे ग़लत समझा गया और जिसका मज़दूर वर्ग द्वारा समाजवादियों के बहकावे में आकर निर्णायक घड़ी में परित्याग किया गया। और पूंजीवादी जगत् उनके इस स्वर में स्वर मिला रहा है। स्वभावतः हमारा तात्पर्य यहां जर्मनी के पेशेवर बेईमान राजनीतिज्ञों और उन जैसे नत्थूखैरों से नहीं है। हमारा इंगित «Economist» जैसे पत्रों से है जिसका ऊपर हवाला दिया जा चुका है और जिसने २९ नवम्बर १८५१ को, यानी राज्य-पर्युत्क्षेपण के चार ही दिन पहले बोनापार्त को "अमन का संरक्षक" और थियेर, बेरिये प्रभृति लोगों को "अराजकतावादी" घोषित किया था और जो आज, २७ दिसम्बर १८५१ को जब बोनापार्त ने इन "अराजकतावादियों" का मुंह बन्द कर दिया है, छाती पीटने लगा है कि "अज्ञानी, अप्रशिक्षित और बुद्धिहीन मज़दूर" अवाम ने "मध्यम और ऊपरी तबक़ों की दक्षता, ज्ञान, अनुशासन, मानसिक प्रभाव, बौद्धिक साधन और नैतिक गरिमा" के प्रति विश्वासघात किया है। वस्तुतः, बुद्धिहीन, अज्ञानी और गंवार अवाम स्वयं पूंजीवादी जन-समुदाय था।

यह सच है कि सन् १८५१ में फ़्रांस एक मामूली व्यापारिक संकट से होकर गुज़रा था। फ़रवरी के अन्त में पता चला कि १८५० की तुलना में निर्यात में अवनति हुई है; मार्च में व्यापार को धक्का लगा और कारख़ाने बन्द होने लगे; अप्रैल में औद्योगिक ज़िलों की स्थिति वैसी ही घोर निराशा-जनक ज्ञात हुई जैसी फ़रवरी काण्ड के बाद हुई थी; मई में व्यवसाय अभी

तक मन्दा ही था; २८ जून तक बैंक ऑफ़ फ़्रांस की धनराशियों ने निक्षेपों की अत्यधिक वृद्धि तथा हुंडियों की पेशगियों में उतने ही अत्यधिक ह्रास द्वारा यह दिखाया कि उत्पादन गतिरोध की स्थिति में है; और अक्तूबर के मध्य में आकर ही वाणिज्य की अवस्था में धीरे-धीरे क्रमिक सुधार होना आरम्भ हुआ। फ़्रांसीसी पूंजीपति इस व्यापारिक गतिरोध के लिए राजनीतिक कारणों को, संसद और कार्यकारी सत्ता के संघर्ष, आरज़ी हुकूमत की अनिश्चितता, और १८५२ की मई के दूसरे रविवार सम्बन्धी भयावह आशंकाओं को सोलहों आना उत्तरदायी समझते थे। मैं यह अस्वीकार न करूंगा कि इन सारी परिस्थितियों ने पेरिस तथा ज़िलों में उद्योग की कतिपय शाखाओं में मन्दी का असर पैदा किया था। लेकिन बहरसूरत राजनीतिक अवस्थाओं का यह प्रभाव केवल स्थानिक और नगण्य था। इस कथन की पुष्टि में इससे अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है कि व्यापार में अक्तूबर के मध्य से, यानी ठीक ऐसे समय सुधार होने लगा जब कि राजनीतिक स्थिति बदतर हो रही थी, राजनीतिक आसमान में बादल छा रहे थे और एलीज़े प्रासाद से किसी भी क्षण वज्रपात होने की प्रत्याशा की जा रही थी। जहां तक दूसरी चीज़ों का सवाल है, फ़्रांसीसी पूंजीपति जिनकी "दक्षता, ज्ञान, आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और बौद्धिक साधन" वस्तुतः उनकी नाक की नोक से आगे नहीं जाते, यदि आंख खोल कर देखते तो अपने व्यावसायिक दुःख का कारण लन्दन की औद्योगिक प्रदर्शनी[104] के दौरान अपनी नाक के ठीक नीचे पा सकते थे। जब फ़्रांस में कारख़ाने बन्द हो रहे थे तो इंगलैंड में व्यापारी दिवालिया हो रहे थे। जब फ़्रांस में अप्रैल और मई में औद्योगिक हौल अपनी चरम सीमा पर पहुंचा हुआ था तो इन्हीं महीनों में इंगलैंड में व्यापारिक हौल अपनी चरमावस्था में था। जिस तरह फ़्रांस का ऊन उद्योग मन्दी का शिकार था, उसी तरह इंगलैंड का ऊन उद्योग भी मन्दी का शिकार था। जिस प्रकार फ़्रांस के रेशम उद्योग को नुक़सान हो रहा था, उसी तरह इंगलैंड के रेशम उद्योग को भी नुक़सान हो रहा था। इंगलैंड की सूती मिलें अवश्य अब भी काम कर रही थीं, पर उन्हें अब वही मुनाफ़ा नहीं हो रहा था जो १८४९ और १८५० में हुआ था। अन्तर केवल इतना था कि फ़्रांस का संकट उद्योग से सम्बन्धित था और इंगलैंड का संकट वाणिज्य से; कि जहां फ़्रांस में कारख़ाने बेकार हो रहे थे, वहां इंगलैंड के कारख़ाने अपना कारबार फैला रहे थे, पर पिछले वर्षों की तुलना में कम

अनुकूल अवस्थाओं के अन्तर्गत; कि जहां फ़्रांस में सबसे ज़्यादा धक्का निर्यात को लगा था, वहां इंगलैंड में सबसे ज़्यादा धक्का आयात को लगा था। दोनों का समान कारण, जो स्वभावत: फ़्रांस के राजनीतिक आकाश की सीमाओं के अन्दर नहीं पाया जा सकता, स्पष्ट था। १८४९ और १८५० के वर्ष सर्वाधिक भौतिक समृद्धि के और अति-उत्पादन के वर्ष थे, जो १८५१ में ही पहचाना जा सका। इस वर्ष के आरम्भ में इस अति-उत्पादन को आगामी औद्योगिक प्रदर्शनी के कारण एक अतिरिक्त और विशेष वल प्राप्त हुआ था। इसके अलावा निम्नलिखित विशेष परिस्थितियां भी थीं: पहले १८५० और १८५१ में कपास की फ़सल का अंशत: मारा जाना, और फिर आशातीत वड़ी फ़सल की प्राप्ति का निश्चय हो जाना; पहले कपास की क़ीमत का उठना, फिर अकस्मात् गिर जाना, अर्थात् कपास की क़ीमतों का चढ़ाव-उतार। कच्चे रेशम की फ़सल, कम से कम फ़्रांस में, औसत से भी कम हुई थी। और अंतिम वात यह कि १८४८ के वाद से ऊन के कारख़ानों का काम इतना अधिक वढ़ गया था कि ऊन की पैदावार उसके साथ क़दम मिला कर नहीं चल सकती थी और कच्चे ऊन की क़ीमत कारख़ाने में तैयार ऊनी माल की क़ीमत से अनुपातत: वहुत अधिक हो गयी थी। इस प्रकार विश्व वाज़ार के तीन उद्योगों के कच्चे मालों में हम व्यापारिक गतिरोध के तीन मसाले पाते हैं। इन विशेष परिस्थितियों के अलावा, १८५१ का प्रतीयमान संकट केवल एक ठहराव था, जो अति-उत्पादन और अत्यधिक सट्टेबाज़ी औद्योगिक चक्र पूरा करने के दौरान लाते हैं, क़ब्ल इसके कि वे इस चक्र के आख़िरी दौर को अपनी समूची शक्ति लगा दौड़ कर पार करके फिर अपने प्रस्थान-विन्दु, आम व्यापारिक संकट पर लौट आयें। व्यापार के इतिहास की इन अवधियों में इंगलैंड में व्यापारिक दिवालियापन की बीमारी फैल जाती है, और फ़्रांस में स्वयं उद्योग ठप हो जाता है, क्योंकि उसे सभी वाज़ारों में इंगलैंड की प्रतियोगिता के कारण, जो इस समय असह्य हो जाती है, अंशत: पीछे हटने को विवश होना पड़ता है, और अंशत: एक विलास-उद्योग की हैसियत से प्रत्येक व्यावसायिक गतिरोध का ख़ास तौर पर सारा धक्का सहना पड़ता है। अत: आम संकट के अलावा फ़्रांस को अपने राष्ट्रीय व्यापारिक संकटों से भी गुज़रना पड़ता है जो यद्यपि राष्ट्रीय हैं, तथापि राष्ट्रीय प्रभावों से अधिक विश्व वाज़ार की आम हालत से निर्धारित और निर्दिष्ट होते हैं। यहां अंग्रेज पूंजीपतियों की समझदारी की फ़्रांसीसी पूंजीपतियों

के पूर्वाग्रह से तुलना करना अरोचक न होगा। १८५१ की अपनी वार्षिक व्यापारिक रिपोर्ट में लिवरपूल की एक सबसे बड़ी कोठी ने लिखा है:

"अभी समाप्त हुए वर्ष ने उसके आरम्भ के समय की गयी आशाओं को जैसा पूर्णतः ग़लत साबित किया है, वैसा बहुत कम हुआ है। जहां सभी प्रायः एकमत से इस वर्ष के अन्दर बड़ी समृद्धि की आशा कर रहे थे, वहां ऐसी पस्तहिम्मती हाथ लगी है जिसकी पिछली चौथाई शताब्दी के अन्दर मिसाल नहीं। बेशक उपरोक्त बात व्यापारिक वर्गों पर लागू है, औद्योगिक पर नहीं। तो भी वर्ष के आरंभ में इस विपर्यय की प्रत्याशा करने का पर्याप्त आधार विद्यमान था – उपज के स्टॉक साधारण थे, पूंजी की प्रचुरता थी, अनाज सस्ता था, ख़ूब अच्छी फ़सल सुनिश्चित हो चुकी थी, यूरोपीय महादेश में अटूट शान्ति थी और देश के अन्दर कोई राजनीतिक या माली उथल-पुथल न थी; वस्तुतः वाणिज्य के पंख कभी इतने अधिक स्वच्छन्द न थे... प्रश्न उठता है कि इस विनाशकारी परिणाम का स्रोत क्या हो सकता है? हमारा विश्वास है कि इसका स्रोत आयात और निर्यात दोनों में अति-व्यापार का होना है। यदि हमारे व्यापारी अपनी कार्य-स्वतंत्रता पर अधिक सख़्ती से रोक नहीं लगायेंगे, तो हर तीन साल पर संकट का आगमन ही हमारे ऊपर अंकुश लगायेगा।"

अब ज़रा फ़्रांसीसी पूंजीपतियों की तसवीर देखिये। व्यापार की धुन में पागल उनका दिमाग़ व्यापारिक संकट के इस चक्कर में पड़कर यंत्रणात्रस्त हो रहा है; राज्य-पर्युत्क्षेपण और सर्वमताधिकार की पुनःस्थापना की अफ़वाहों, संसद और कार्यकारी सत्ता के संघर्षों, आर्लियानिस्टों और लेजिटिमिस्टों के फ़्रोन्द-युद्ध, फ़्रांस के दक्षिण में कम्युनिस्ट षड्यंत्रों, निएव्र और शेर के ज़िलों में तथाकथित किसान-विद्रोहों, राष्ट्रपति पद के विभिन्न उम्मीदवारों के इश्तिहारों, अख़बारों के बाज़ारू नारों, जनतंत्रवादियों के शस्त्रबल से संविधान और सर्वमताधिकार की रक्षा करने की धमकियों और देश के बाहर in partibus निर्वासित नायकों के धर्मोपदेशों से, जो घोषणा कर रहे थे कि मई १८५२ के दूसरे रविवार को दुनिया का अन्त हो जायेगा, – इन सबसे उनका सिर चकरा रहा है और दिमाग़ काम नहीं कर रहा है। इस चित्र को देखिये और तब आपकी समझ में आ जायेगा कि विलयन, संशोधन, सत्रावसान, संविधान, षडयन्त्र, गठबन्धन, निर्वासन, सत्ता-अपहरण और क्रान्ति के इस अकथनीय,

एवं कानों के पर्दे फाड़ देनेवाले हंगामे के बीच पूंजीपति क्यों पागल होकर अपने संसदीय जनतंत्र पर बरस पड़ता है: **"अनन्त आतंक की अपेक्षा आतंक के साथ अंत ही अच्छा है!"**

बोनापार्त ने इस पुकार का अर्थ समझा। उसकी अवबोधशक्ति ऋणदाताओं के बढ़ते हुए तक़ाज़ों के कारण विशेष तीव्र हो गयी थी। ऋणदाताओं को भुगतान के दिन को, मई १८५२ के दूसरे रविवार को निकटतर जानेवाली हर शाम को आकाशीय ग्रहों की गति से यह सूचना मिलती थी कि उनकी पार्थिव हुण्डियां भुगतान के लिए पेश की गयीं और क़र्ज़दार ने उन्हें लेने या भुगतान करने से इनकार कर दिया। वे पूरे ज्योतिषी बने हुए थे। राष्ट्रीय सभा ने बोनापार्त की इस आशा पर पानी फेर दिया था कि उसकी सत्तावधि वैधानिक रूप से बढ़ा दी जायगी; और प्रिंस ऑफ़ ज्वानवील की उम्मीदवारी ने अधिक आगा-पीछा करने का रास्ता रोक दिया था।

कहते हैं कि आगामी घटनाओं की प्रतिच्छाया पहले ही दिखायी देने लगती है। बोनापार्त के राज्य-पर्युत्क्षेपण की प्रतिच्छाया काफ़ी पहले से ही दिखायी देने लगी थी। २९ जनवरी १८४९ को ही, अर्थात् उस समय जब उसके निर्वाचन को मुश्किल से महीना भर बीता था, उसने शांगार्निये के सामने इस सम्बन्ध में सुझाव रखा था। १८४९ की गर्मियों में उसके अपने प्रधानमंत्री ओदिलां बारो ने राज्य-पर्युत्क्षेपण की नीति की छद्म रूप में और १८५० की शीतऋतु में थियेर ने खुले रूप में बात की थी। मई १८५१ में पेर्सिनी ने एक बार फिर राज्य-पर्युत्क्षेपण के लिए शांगार्निये को फोड़ने की कोशिश की। *«Messager de l'Assemblée»*[105] ने इन वार्त्ताओं की ख़बर छापी थी। संसद में जब भी तूफ़ान उठता, बोनापार्ती अख़बार राज्य-पर्युत्क्षेपण की धमकियां देते थे, और ज्यों-ज्यों संकट समीप आता जाता था त्यों-त्यों उनकी आवाज़ तेज़ होती जाती थी। बोनापार्त "छबीली भीड़" के मर्द-औरतों को लेकर हर रात अपने यहां जो रंगरलियां आयोजित करता था, उनमें आधी रात होते ही, जब शराब की घूंट पर घूंट चढ़ा चुकने के बाद ज़बानों पर से लगाम हट जाती और कल्पना उद्दीप्त हो जाती थी तो अगले ही दिन राज्य-पर्युत्क्षेपण करने की योजनाएं तय की जाती थीं। म्यानों से तलवारें निकल पड़तीं, गिलास खनकाये जाते, राष्ट्रीय सभा के सदस्य खिड़की से बाहर उछाल दिये जाते और बोनापार्त के कन्धों पर शाही चोग़ा आ जाता

था। अगले दिन भूत उतर जाता था, और आश्चर्यचकित पेरिस को मौन रखना न जाननेवाली दरवार की देवियों और नादान मुसाहिबों से यह पता लगता था कि वह एक बहुत बड़े ख़तरे से फिर बचा है। सितम्बर और अक्तूबर के महीनों में coup d'état की अफ़वाहें, एक के बाद एक, लगातार फैल रही थीं। इसके साथ ही छाया में रंग भरता जा रहा था, जैसे कोई रंगविरंगा डेगरोटाइप हो। यूरोपीय दैनिक पत्नों की सितम्बर और अक्तूबर की प्रतियां उठा लीजिए, आपको वहां, शब्दशः, निम्नांकित सूचना जैसी सूचनाएं मिलेंगी: "पेरिस में अफ़वाह गर्म है कि राज्य-पर्युत्क्षेपण होनेवाला है। राजधानी रातोंरात फ़ौजों से पाट दी जायेगी, और अगले दिन सुवह फ़रमान जारी हो जायेंगे जिनके द्वारा राष्ट्रीय सभा भंग कर दी जायेगी, सेन के ज़िले में घेरे की हालत घोषित की जायेगी, सर्व-मताधिकार फिर लागू किया जायेगा और जनता से अपील की जायेगी। कहा जाता है कि बोनापार्त ऐसे मंत्रियों की तलाश कर रहा है जो इन ग़ैरक़ानूनी आज्ञप्तियों की तामील करेंगे।" ऐसी सूचनाओं के अन्त में सदा ये महत्त्वपूर्ण शब्द टंके होते थे: "स्थगित हो गया।" राज्य-पर्युत्क्षेपण की वात शुरू से ही बोनापार्त के दिमाग़ में जमी हुई थी। इस धारणा को लेकर ही वह फ़्रांस वापस आया था। यह उसके दिमाग़ पर इस क़दर हावी थी कि उसकी वात वारम्बार धोखे से उसके मुंह से निकल जाती थी। साथ ही वह इतना कमज़ोर था कि उसी तरह वारम्बार इस धारणा का त्याग भी करता जाता था। राज्य-पर्युत्क्षेपण की छाया पेरिस वालों के लिए एक हौवे के रूप में इतनी परिचित वन गयी थी कि जब वह साकार रूप धारण करके उनके सम्मुख उपस्थित हुई तो वे इस पर यक़ीन करने को ही तैयार न थे। अतः राज्य-पर्युत्क्षेपण को जिस चीज़ ने सफल वनने दिया, वह १० दिसम्बर-समाज के सिरमौर की मौन-साधना न थी, और न ही वह राष्ट्रीय सभा की ग़फ़लत थी। वह उसके अविवेक के बावजूद और राष्ट्रीय सभा की पूर्वजानकारी के साथ सफल हुआ; वह अपने पहले के घटनाक्रम का आवश्यक, अनिवार्य परिणाम था।

१० अक्तूबर को बोनापार्त ने सर्व-मताधिकार फिर लागू करने का अपना निर्णय अपने मंत्रियों को सूचित किया; १६ अक्तूबर को उन्होंने अपने त्यागपत्र उसके हवाले किये; २६ तारीख़ को पेरिस को तोरिनी मंत्रिमण्डल की स्थापना का समाचार मिला। साथ ही साथ पुलिस प्रीफ़ेक्ट कार्लिये को

हटाकर मोपा इस पद पर नियुक्त किया गया। प्रथम सैनिक डिवीज़न के अध्यक्ष मान्यान ने सबसे विश्वस्त रेजीमेंटें पेरिस में लाकर एकत्रित कीं। ४ नवम्बर को राष्ट्रीय सभा ने फिर अपना अधिवेशन आरम्भ किया। उसने बस इतना ही किया कि जिस प्रक्रम से वह गुज़र चुकी थी उसकी संक्षिप्त एवं सारांश रूप में आवृत्ति की और यह सिद्ध कर दिया कि वह मरने के बाद ही दफ़नायी गयी है।

कार्यकारी सत्ता के साथ संघर्ष में पहला पद जो उसने अपने हाथ से निकल जाने दिया, वह मंत्रिमण्डल था। तोरिनी मंत्रिमण्डल को, जो एक छाया मंत्रिमण्डल मात्र था, सर्वस्व रूप में स्वीकार करके उसे अपनी यह क्षति संजीदगी के साथ स्वीकार करनी पड़ी। जब जिरो ने नये मंत्रियों के नाम पर अपने को स्थायी आयोग के समक्ष उपस्थित किया था तो आयोग ने हंसी से उसका अभिनन्दन किया था। ऐसा दुर्बल मंत्रिमण्डल और सर्व-मताधिकार को फिर लागू करने जैसा बलिष्ठ पग! वाह! पर उसका तो उद्देश्य ही यह था कि संसद में कुछ न कराया जाये, संसद के विरुद्ध सब कुछ कराया जाये।

राष्ट्रीय सभा को अपने नये अधिवेशन के पहले ही दिन बोनापार्त का सन्देश प्राप्त हुआ जिसमें उसने सर्व-मताधिकार की पुनःस्थापना और ३१ मई १८५० के क़ानून को रद्द करने की मांग की थी। उसी दिन उसके मंत्रियों ने इस आशय की एक आज्ञप्ति पेश की। राष्ट्रीय सभा ने मंत्रिमण्डल के फ़रमान का यह प्रस्ताव कि आज्ञप्ति को अत्यन्त आवश्यक समझ कर उस पर विचार किया जाये तत्काल अस्वीकृत कर दिया और १३ नवम्बर को इस आज्ञप्ति को भी ३४८ के विरुद्ध ३५५ वोटों से नामंजूर कर दिया। इस प्रकार उसने एक बार फिर जनता से मिले आदेशपत्र को फाड़ फेंका; उसने एक बार फिर इस बात की पुष्टि की कि उसने अपने को जनता के स्वतंत्र रूप में निर्वाचित प्रतिनिधि के बदले एक वर्ग की बलापहारी संसद बना लिया है; उसने एक बार फिर स्वीकार किया कि संसद रूपी मस्तक को राष्ट्र रूपी शरीर से जोड़नेवाले पुट्ठों के उसने अपने हाथ से काट कर दो टुकड़े कर दिये हैं।

यदि कार्यकारी सत्ता ने सर्व-मताधिकार पुनःस्थापित करने के अपने प्रस्ताव द्वारा राष्ट्रीय सभा के ख़िलाफ़ जनता से अपील की थी तो विधिकारी सत्ता ने अपने केस्टर्स बिल द्वारा जनता के विरुद्ध फ़ौज से अपील की।

केस्टर्स बिल का उद्देश्य सेना को सीधे-सीधे बुलाने का संसद का अधिकार पक्का करना, एक संसदीय फ़ौज क़ायम करना था। जहां इस विधेयक के द्वारा उसने सेना को अपने और जनता के बीच, अपने और बोनापार्त के बीच एक मध्येविवाचक का दर्जा दिया, जब कि सेना को निर्णायक राज्य-शक्ति माना, वहीं दूसरी ओर उसे इस तथ्य की भी पुष्टि करनी पड़ी कि इस शक्ति पर स्वामित्व करने का दावा वह एक लम्बे अर्से से छोड़ चुकी है। सेना को सीधे-सीधे बुला भेजने के बदले सेना को बुलाने के अपने अधिकार पर बहस करके उसने स्वयं अपने अधिकार के सम्बन्ध में अपना संशय प्रगट कर दिया। केस्टर्स बिल को नामंजूर करके उसने अपनी अशक्तता सार्वजनिक रूप में स्वीकार की। यह विधेयक गिर गया क्योंकि उसके समर्थकों को बहुमत से १०८ वोट कम मिले। इस प्रकार पर्वत-दल ने ही इस प्रश्न का निर्णय किया। उसने अपने को बुरिडान के गधे की स्थिति में पाया, अन्तर केवल यह था कि बुरिडान का गधा घास के दो गट्ठों के बीच खड़ा था और उसे यह तय करना था कि कौन गट्ठा ज्यादा मज़ेदार है, जब कि पर्वत-दल लप्पड़ों-थप्पड़ों की दो बौछारों के बीच खड़ा था और उसे यह तय करना था कि कौन बौछार अधिक सख़्त होगी। एक ओर शांगार्निये का भय था, दूसरी ओर बोनापार्त का। मानना होगा कि स्थिति किसी उदात्त नायक के उपयुक्त न थी।

१८ नवम्बर को म्युनिसिपल चुनाव सम्बन्धी क़ानून में अमन की पार्टी द्वारा इस आशय का एक संशोधन प्रस्तावित किया गया कि म्युनिसिपल मतदाताओं के लिए तीन वर्षों के बदले एक वर्ष का अधिवास पर्याप्त होगा। संशोधन केवल एक वोट से गिर गया, किंतु यह एक वोट तत्काल एक भूल साबित हुआ। अपने विरोधी गुटों में विभक्त होकर अमन की पार्टी बहुत दिन पहले ही अपना स्वतंत्र संसदीय बहुमत गंवा चुकी थी। अब पता चला कि संसद में कोई बहुमत है ही नहीं। राष्ट्रीय सभा काम कर सकने में अक्षम हो गयी है। उसके परमाणु रूपी संघटकों को जोड़कर रखने वाली कोई ताक़त नहीं रह गयी है; उसका दम निकल चुका है; वह मृतक है।

अन्ततः क़हर टूटने के कुछ ही दिन पूर्व पूंजीपतियों के बहिःसंसद समुदाय ने संसद के अन्दर के पूंजीपतियों के संग अपनी फूट की बड़ी संजीदगी के साथ एक बार फिर पुष्टि की। थियेर ने, जो संसद का एक वीर नायक होने के नाते संसदीय जड़वामनता नामक असाध्य रोग से अन्यों की अपेक्षा अधिक

आक्रान्त था, संसद के निधन के बाद, राज्य परिषद् के साथ मिलकर उत्तरदायित्व क़ानून के रूप में एक नया संसदीय कुचक्र रचा था जिस क़ानून के द्वारा राष्ट्रपति को संविधान की सीमाओं में मज़बूती से जकड़ दिया जाता। जिस प्रकार बोनापार्त ने १५ सितम्बर को पेरिस के नये मार्केट भवन का शिलान्यास करते समय, भवन की देवियों, अर्थात् मछुवारिनों को—यह सच है कि जहां तक वास्तविक शक्ति का प्रश्न है, एक मछुवारिन सत्रह बुर्गग्राफ़ों से बढ़-चढ़ कर है—किसी नये माज़ानिएलो की भांति, मंत्रमुग्ध कर दिया था; और जिस प्रकार उसने केस्टर्स बिल पेश होने के बाद एलीज़े-प्रासाद में आमन्त्रित लेफ़्टिनेंटों का मन मोह लिया था, उसी प्रकार उसने २५ नवम्बर को सर्कस मैदान में लन्दन की औद्योगिक प्रदर्शनी में जीते पुरस्कार-पदकों के वितरण के अवसर पर औद्योगिक पूंजीपतियों का मन बिलकुल जीत लिया। «*Journal des Débats*» द्वारा प्रकाशित उसके इस अवसर के भाषण की रिपोर्ट के महत्त्वपूर्ण अंश मैं यहां उद्धृत कर रहा हूं:

> "ऐसी अप्रत्याशित सफलताएं प्राप्त करने के बाद मेरा यह कहना उचित होगा कि हमारा फ़ांसीसी जनतंत्र यदि एक ओर बाज़ारू लीडरों की लफ़्फ़ाज़ी और दूसरी ओर राजतंत्रवादियों के मतिविभ्रम द्वारा बार-बार विचलित होने के बजाय शान्तिपूर्वक अपने सच्चे हितों का अनुसरण तथा अपनी संस्थाओं का पुनर्गठन करने पाये तो वह कितना महान् हो सकता है! (रंगभूमि के हर भाग से बार-बार ज़ोरदार, तूफ़ानी तालियां।) राजतंत्रवादी भ्रान्तियों से समस्त प्रगति और उद्योग की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शाखा में विघ्न पड़ रहा है। प्रगति के बदले हर ओर संघर्ष ही संघर्ष है। हम देखते हैं कि जो लोग पहले राजतंत्रवादी सत्ता और परमाधिकार के अत्यधिक उत्साही समर्थक थे, वे ही आज एक कन्वेन्शन की हिमायत केवल इसलिए करने लगे हैं कि सर्व-मताधिकार से उद्भूत सत्ता को कमज़ोर कर दिया जाये। (तालियों की लगातार गड़गड़ाहट।) हम देखते हैं कि जिन लोगों को क्रान्ति से सबसे अधिक क्षति उठानी पड़ी, जिन्होंने क्रान्ति पर सबसे अधिक दुःख प्रगट किया, वे ही एक नयी क्रान्ति भड़काने का प्रयत्न कर रहे हैं, और केवल इसलिए कि राष्ट्र की इच्छाशक्ति को बेड़ियों में जकड़ सकें... मैं आपको भविष्य में शान्ति का वचन देता हूं," आदि, आदि। ("शाबाश, शाबाश", शाबाशियों का तूफ़ान।)

इस प्रकार औद्योगिक पूंजीपतियों ने ख़ुशामदी टट्टुओं की तरह २ दिसम्बर के राज्य-पर्युत्क्षेपण का, संसद के हनन का, ख़ुद अपनी हुकूमत के पतन

का, बोनापार्त के एकाधिपत्य का तालियां पीटकर अभिनन्दन किया। २५ नवम्बर की तालियों की गड़गड़ाहट का जवाब ४ दिसम्बर की तोपों की गड़गड़ाहट से मिला, और सबसे अधिक तालियां पीटनेवाले श्री सालान्द्रूज़ के मकान पर सबसे ज़्यादा गोले दाग़े गये।

जब क्रॉमवेल ने दीर्घ पार्लमेंट[106] को भंग किया था तो इस प्रकार कि वह अकेला ही सदन में गया और अपनी घड़ी निकालकर देखता रहा कि पार्लमेंट उसके द्वारा निश्चित अवधि से एक मिनट भी ज़्यादा चलने न पाये, और पार्लमेंट के हर मेम्बर को ज़ोर-ज़ोर से मखौल उड़ाते हुए सदन से बाहर निकाला था। नेपोलियन जो क्रॉमवेल का ही एक लघु रूपी अवतार था, कम से कम १८ वीं ब्रूमेर को स्वयं विधान सभा में गया और उसे उसके मृत्युदण्ड का फ़ैसला पढ़कर—यद्यपि पढ़ते समय उसकी आवाज़ लड़खड़ा रही थी—सुनाया था। पर दूसरे बोनापार्त ने, जिसके साथ एक अतिरिक्त बात यह थी कि वह एक ऐसी कार्यकारी सत्ता का स्वामी था जो क्रॉमवेल अथवा नेपोलियन की कार्यकारी सत्ता से बहुत भिन्न थी, अपना आदर्श विश्व इतिहास के पृष्ठों से न प्राप्त कर १० दिसम्बर-समाज की परम्परा से, फ़ौजी अदालत की परम्परा से प्राप्त किया। उसने बैंक ऑफ़ फ़्रांस से ढाई करोड़ फ़्रैंक लूटे, दस लाख देकर जनरल मान्यान को ख़रीदा, हर सिपाही को १५ फ़्रैंक देकर और शराब पिलाकर ख़रीदा, अपने हवालियों-मवालियों के साथ रात में चोरों की तरह दबे पांव आया, संसद के सबसे ख़तरनाक नेताओं के घरों पर छापा मरवाया, कैवेन्याक, लामारिसियेर, लेफ़्लो, शांगार्निये, शार्रा, थियेर, बाज़ आदि को अपने शयनागारों से घसीट मंगाया, पेरिस के मुख्य चौकों और संसद भवन पर फ़ौज बैठा दी और तड़के ही शहर की दीवारों पर बाज़ारू इश्तहार जैसे इश्तहार लगवा दिये जिनमें राष्ट्रीय सभा और राज्य परिषद् के भंग किये जाने, सर्व-मताधिकार के फिर लागू किये जाने और सेन ज़िले के मुहासिराबंद किये जाने की घोषणा थी। इसी प्रकार, कुछ दिनों बाद उसने «*Moniteur*» में एक झूठी दस्तावेज़ छपवायी जिसमें कहा गया था कि प्रभावशाली संसद-सदस्यों ने उसके गिर्द एकजुट होकर एक राजकीय परामर्शदात्री सभा बनायी है।

अवशिष्ट संसद ने, जिसमें मुख्यत: लेजिटिमिस्ट और आर्लियानिस्ट थे, दसवीं आरोन्दीसमेंट के मेयर-भवन में बैठी, "जनतंत्र ज़िन्दाबाद!" के

नारों के वीच वोनापार्त को पदच्युत करने का प्रस्ताव पास किया, सदन के सामने भौचक खड़ी भीड़ को भाषणों द्वारा ललकारा, पर सब व्यर्थ। अन्त में अपनी निशानेबाज़ी के लिए मशहूर अफ़्रीकी सिपाहियों ने उन्हें गिरफ़्तार कर पहले द'ओर्से की वारिकों में और उसके वाद क़ैदी गाड़ियों में बन्द कर माज़ा, हाम और वीन्सेन के जेलख़ानों में पहुंचा दिया। इस प्रकार अमन की पार्टी, विधान सभा और फ़रवरी क्रान्ति का अन्त हुआ।

इस कहानी को समाप्त करने से पहले, आइये हम फ़रवरी क्रांति के इतिहास का संक्षेप में सिंहावलोकन करें:

१. **प्रथम काल**। २४ फ़रवरी से ४ मई, १८४८। फ़रवरी काल। प्रस्तावना। सार्वत्रिक वन्धुत्व का झूठा ढिंढोरा।

२. **द्वितीय काल**। जनतंत्र के और राष्ट्रीय संविधान सभा के गठन का काल।

(१) ४ मई से २५ जून, १८४८। सभी वर्गों का मज़दूर वर्ग के विरुद्ध संघर्ष। जून के दिनों में मज़दूर वर्ग की पराजय।

(२) २५ जून से १० दिसम्वर, १८४८। विशुद्ध पूंजीवादी जनतंत्र-वादियों का एकाधिपत्य। संविधान का प्रारूप तैयार किया जाना। पेरिस में घेरे की हालत का एलान। १० दिसम्वर को बोनापार्त के राष्ट्रपति निर्वाचित किये जाने के साथ पूंजीवादी एकाधिपत्य का रद्द किया जाना।

(३) २० दिसम्वर १८४८ से २८ मई १८४९। संविधान सभा का वोनापार्त के साथ और उसके साथ संश्रित अमन की पार्टी के साथ संघर्ष। संविधान सभा की समाप्ति। जनतंत्रवादी पूंजीपतियों का पतन।

३. **तृतीय काल**। वैधानिक जनतंत्र का और राष्ट्रीय विधान सभा का काल।

(१) २८ मई १८४९ से १३ जून १८४९। निम्न-पूंजीपतियों का पूंजीपतियों के और वोनापार्त के साथ संघर्ष। निम्न-पूंजीवादी जनवाद की पराजय।

(२) १३ जून १८४९ से ३१ मई १८५०। अमन की पार्टी का संसदीय एकाधिपत्य। अमन की पार्टी ने सर्व-मताधिकार को समाप्त कर अपना शासन पूर्ण कर लिया, पर संसदीय मंत्रिमण्डल से हाथ धो बैठी।

(३) ३१ मई १८५० से २ दिसम्वर १८५१। संसदीय पूंजीपतियों और वोनापार्त में संघर्ष।

क)—३१ मई १८५० से १२ जनवरी १८५१। सेना क़ी सर्वोच्च कमान संसद क़े हाथ से निकल गयी।

ख)—१२ जनवरी से ११ अप्रैल १८५१। प्रशासकीय सत्ता फिर अपने हाथ में करने के प्रयास में संसद ने मुंह की खायी। अमन की पार्टी ने अपना स्वतंत्र संसदीय वहुमत गंवा दिया। जनतंत्रवादियों और पर्वत-दल के साथ उसका गठवन्धन।

ग)—११ अप्रैल से ९ अक्तूबर, १८५१। संशोधन, विलयन और स्थगन की चेष्टाएं। अमन की पार्टी अपने अलग-अलग संघटक तत्त्वों में विखर गयी। पूंजीवादी संसद और अख़बारों तथा आम पूंजीपतियों के बीच दरार का पड़ जाना स्पष्ट हो गया।

घ)—९ अक्तूवर से २ दिसम्वर, १८५१। संसद और कार्यकारी सत्ता के बीच खुली दरार। संसद अपनी मरण-पूर्व की क्रिया सम्पन्न करके काल-कवलित होती है—अपने वर्ग, सेना तथा अन्य सभी वर्गों द्वारा परित्यक्त होकर। संसदीय राज और पूंजीवादी शासन का निधन। वोनापार्त की विजय। साम्राज्य की पुनःस्थापना का हास्यास्पद स्वांग।

७

फ़रवरी क्रान्ति की देहरी पर **सामाजिक जनतन्त्र** एक नारे के रूप में, एक भविष्यवाणी के रूप में प्रगट हुआ। १८४८ के जून के दिनों में वह **पेरिस के मजदूरों** के ख़ून में डुवा दिया गया; पर नाटक के आगे के अंकों में वह छाया की तरह निरंतर मंडराता रहा। इसके वाद **जनवादी जनतंत्र** ने अपने आगमन की सूचना दी। १३ जून १८४९ को अपने **निम्न-पूंजीपतियों** के साथ, जो मैदान छोड़ कर भाग खड़े हुए थे, वह भी तीन तेरह हो गया, पर भागते हुए वह दुगुने जोश के साथ गाल वजाता रहा। इस बार **संसदीय जनतंत्र** ने अपने पूंजीपतियों के साथ पूरे रंगमंच पर क़ब्ज़ा जमाया। उसने अपने जीवन का पूर्ण आनंद उठाया; पर २ दिसम्बर १८५१ ने संश्रयी राजतंत्रवादियों की "जनतंत्र ज़िन्दावाद!" की करुण चीख़-पुकार के बीच उसे भी दफ़ना दिया।

फ़्रांसीसी पूंजीपति श्रमशील सर्वहारा के प्रभुत्व से भड़कते थे; उन्होंने लंपट-सर्वहारा का प्रभुत्व क़ायम कराया है, जिसका सरताज १० दिसम्बर-

समाज का सरदार है। पूंजीपति लाल अराजकता के भयंकर आतंक का भावी ख़तरा दिखाकर समूचे फ़्रांस को भयभीत किये हुए थे ; बोनापार्त ने उनके लिए इस भविष्य का मूल्य बहुत कम कर दिया जब उसने ४ दिसम्बर को बूलवार्ड मोंमार्त और बूलवार्ड द'इतालिएं के प्रमुख पूंजीपतियों को अपने घरों की खिड़कियों में ही मद्य-प्रेरित अमन की फ़ौज द्वारा गोलियों का शिकार बनवाया। उन्होंने तलवार को पुण्य-पद प्रदान किया था ; तलवार आज उनके ऊपर शासन कर रही है। उन्होंने क्रान्तिकारी अख़बारों का गला घोंटा ; उनके अख़बारों का गला घोंट दिया गया है। उन्होंने जन-सभाओं पर पुलिस की निगरानी क़ायम की ; उनके बैठकख़ानों पर पुलिस की निगरानी क़ायम है। उन्होंने जनवादी राष्ट्रीय गार्ड को विघटित किया ; उनका अपना राष्ट्रीय गार्ड विघटित कर दिया गया है। उन्होंने घेरे की हालत का एलान किया था ; अब उन्हीं पर घेरा डाल दिया गया है। उन्होंने जूरियों की जगह सैनिक आयोग स्थापित किये थे ; उनके अपने जूरियों की जगह भी सैनिक आयोग क़ायम हैं। उन्होंने जन-शिक्षा को पादरियों के अधीनस्थ बनाया था ; पादरियों ने उन्हें अपनी शिक्षा के अधीनस्थ बनाया है। उन्होंने बिना मुक़दमा चलाये लोगों को कालापानी भेजा था ; उन्हें बिना मुक़दमा चलाये कालापानी भेजा जा रहा है। उन्होंने समाज की हर हलचल का राज-दण्ड से दमन किया था ; उनके समाज की हर हलचल का राज-दण्ड द्वारा दमन किया जा रहा है। अपनी तिजोरियों को सुरक्षित रखने के जोश में उन्होंने अपने राजनीतिज्ञों और लेखकों के विरुद्ध विद्रोह किया था ; उनके राजनीतिज्ञ और लेखक बरतरफ़ कर दिये गये हैं, पर अब जब कि उनका मुंह बन्द हो चुका और क़लम टूट चुकी है तो उनकी तिजोरियां लूटी जा रही हैं। वे पूंजीपति क्रान्ति को लक्ष्य कर वे शब्द कहा करते थे जो सन्त आर्सीनियस ने ईसाइयों से कहे थे : "Fuge, tace, quiesce! भागो, चुप रहो, हिलो-डोलो मत !" बोनापार्त भी पूंजीपतियों से कह रहा है : "Fuge, tace, quiesce! भागो, चुप रहो, हिलो-डोलो मत !"

नेपोलियन ने कहा था : «Dans cinquante ans, l'Europe sera républicaine ou cosaque»*। फ़्रांस के पूंजीपतियों ने बहुत पहले ही नेपोलियन की इस विकल्पात्मक समस्या का हल ढूंढ़ निकाला था। यह हल था «république

* "पंचास वर्षों में यूरोप या तो जनतांत्रिक हो जायेगा, या कज़्ज़ाक"। – सं०

cosaque».।*ऐसी बात नहीं कि पूंजीवादी जनतंत्र नामक कला-कृति को किसी सिर्सेया ने तिलस्मी जादू के ज़ोर से पैशाचिक आकार दे दिया हो। सिवा सम्भ्रान्तता के आवरण के इस जनतंत्र ने कुछ भी नहीं गंवाया है। वर्तमान फ़्रांस ** का आकार संसदीय जनतंत्र में निहित था। केवल संगीन के एक वार की ज़रूरत थी, बुलबुला फूट गया और भीतर छिपा दानव सब की नज़रों के सामने प्रगट हो गया।

२ दिसम्बर के बाद पेरिस के मज़दूरों ने बग़ावत क्यों नहीं की?

पूंजीपतियों का तख़्ता उलटने का अभी आदेश ही जारी हुआ था, आदेश क्रियान्वित नहीं हुआ था। यदि इस समय मज़दूरों का कोई भी गंभीर विद्रोह हुआ होता तो पूंजीपतियों में नयी जान आ जाती, सेना के साथ उनका मेल हो जाता और मज़दूरों के लिए जून की पराजय की पुनरावृत्ति निश्चित हो जाती।

४ दिसम्बर को पूंजीपतियों और दूकानदारों ने मज़दूरों को लड़ने के लिए उकसाया। उस रोज़ शाम को राष्ट्रीय गार्ड के कई लशकरों ने अपनी वर्दियों में हथियारों से लैस होकर रणक्षेत्र में उतरने का वादा किया था। बात यह हुई थी कि पूंजीपतियों और दूकानदारों को इस बात का सुराग़ लग गया था कि बोनापार्त ने २ दिसम्बर की अपनी एक आज्ञप्ति में गुप्त मतदान रद्द कर दिया है और उनसे कहा गया है कि सरकारी रजिस्टर में अपने नाम के आगे "हां" या "नहीं" लिख कर मतदान करें। ४ दिसम्बर के प्रतिरोध से बोनापार्त डर गया। रात को उसने पेरिस के सभी नुक्कड़ों पर इश्तहार लगवा दिये जिनमें गुप्त मतदान की फिर से बहाली की घोषणा की गयी थी। पूंजीपतियों और दूकानदारों को विश्वास हो गया कि उनका काम बन गया है। अगले दिन सुबह पूंजीपतियों और दूकानदारों का कहीं पता न था।

१–२ दिसम्बर की रात को बोनापार्त ने आकस्मिक आक्रमण करके पेरिस के मज़दूरों को उनके नेताओं, बैरिकेड-कमांडरों से वंचित कर दिया था। मज़दूरों ने जो बिना नायकों की फ़ौज थे और जून १८४८ और १८४६ तथा मई १८५० की स्मृतियों के कारण पर्वत-दल के झण्डे के तले लड़ना

---

* "कज़्ज़ाक जनतंत्र"।–सं०

** १८५१ के राज्य-पर्युत्क्षेपण के बाद।–सं०

पसन्द नहीं करते थे, पेरिस के उस विप्लवकारी सम्मान की रक्षा का भार, अपने हरावल दस्तों—गुप्त समितियों—पर छोड़ दिया जिसे पूंजीपतियों ने विना किसी प्रतिरोध-चेष्टा के फ़ौजियों को इस तरह समर्पित कर दिया था कि बोनापार्त ने राष्ट्रीय गार्ड को निरस्त्र करने की दलील ताना मारते हुए यह दी कि हमें आशंका है कि कहीं उसके हथियार अराजकतावादियों द्वारा स्वयं उसी के ख़िलाफ़ न इस्तेमाल किये जायें।

«C'est le triomphe complet et définitif du socialisme!» * गीज़ो ने इन शब्दों में २ दिसम्बर का चरित्रांकन किया। पर संसदीय जनतंत्र के पर्युत्क्षेपण में सर्वहारा क्रांति की विजय के बीज के छिपे होते हुए भी उसका तात्कालिक और प्रत्यक्ष परिणाम **संसद पर बोनापार्त की, विधिकारी सत्ता पर कार्यकारी सत्ता की, शब्दरहित शक्ति की शब्द की शक्ति पर विजय थी।** संसद में राष्ट्र ने अपनी सामान्य इच्छा को क़ानून का रूप दिया, यानी शासक वर्ग के क़ानून को अपनी सामान्य इच्छा का रूप दिया। कार्यकारी सत्ता के सामने वह अपनी प्रत्येक इच्छा का परित्याग करता है और एक विजातीय प्रकार की इच्छा के उच्चतर आदेश के अधिकार के सम्मुख समर्पण कर देता है। विधिकारी सत्ता के विपरीत कार्यकारी सत्ता राष्ट्र की स्वायत्तता के विपरीत उसकी परायत्तता अभिव्यक्त करती है। अतः फ़्रांस मानो एक वर्ग की स्वेच्छाचारिता से छूट कर एक व्यक्ति की स्वेच्छाचारिता के अधीन आ पड़ा है, और इतना ही नहीं, अपितु वह एक ऐसे व्यक्ति के अख़्तियार में आ पड़ा है जिसे कोई अख़्तियार नहीं है। संघर्ष का समाधान मानो इस ढंग से हुआ है कि सभी वर्गों ने जो समान रूप से अशक्त और समान रूप से मूक हैं, बन्दूक़ के कुन्दों के आगे घुटने टेक दिये हों।

किन्तु क्रान्ति अपना प्रक्रम पूरा करती है। वह अभी पापमुक्ति की मंज़िल से ही गुज़र रही है। वह अपना काम पूरी तरतीब से करती है। २ दिसम्बर १८५१ तक उसने तैयारी के अपने काम का आधा ख़त्म किया था; अब वह दूसरे आधे को ख़त्म कर रही है। पहले उसने संसदीय सत्ता को सर्वांगपूर्ण बनाया, इसलिए कि उसे उलट सके। अब जब कि वह इस काम को पूरा कर चुकी है तो **कार्यकारी सत्ता** को सर्वांगपूर्ण बना रही है, उसे उसकी

---

* "यह समाजवाद की पूर्ण और निर्णायक विजय है!" —सं०

विशुद्धतम अभिव्यक्ति दे रही है, उसे पृथक् कर रही है और उसे अपना एकमात्र निशाना बनाकर खड़ा कर रही है ताकि विनाश की अपनी समग्र शक्ति लेकर उस पर टूट सके। जिस दिन वह अपने इस आरम्भिक कार्य का दूसरा अर्धांश पूरा करेगी, यूरोप कुर्सी से उछल पड़ेगा और कहेगा: शाबाश बूढ़ी छछूंदर, तू ने कमाल किया!*

यह कार्यकारी सत्ता जिसका अपना विराट नौकरशाहाना और फ़ौजी संगठन है, बड़ी सूझ-बूझ से बनाया हुआ अपना राज्य-तंत्र है, जिसके दायरे में समाज के अनेक स्तर आते हैं, और जिसके ५ लाख अमले हैं तथा ५ ही लाख के क़रीब फ़ौज है, जो एक डरावना परजीवी संगठन है जिसने फ़्रांसीसी समाज के शरीर को एक ऐसे जाल में बांध रखा है कि उसका एक-एक रोमकूप बन्द है, निरंकुश राजतंत्र के दिनों में उत्पन्न हुई थी जब सामंती समाज-व्यवस्था विगलित हो रही थी, और जिसके विगलन की क्रिया को तेज़ करने में उसने मदद की थी। भूस्वामियों एवं नगरों के सामंती विशेषाधिकार राज्य-सत्ता की विशेषताओं में रूपांतरित हो गये, सामंती ओहदेदार वेतन-भोगी सरकारी अफ़सर बन गये और विग्रहयुक्त मध्ययुगीन पूर्ण सत्ताओं का विविधतापूर्ण ढांचा राज्यीय सत्ता के एक सुयोजित ढांचे में रूपांतरित हो गया जिसका काम विभाजित एवं केन्द्रित है जैसा किसी कारख़ाने में होता है। प्रथम फ़्रांसीसी क्रांति के लिए जिसके ज़िम्मे सभी स्थानीय, क्षेत्रीय, शहरी और प्रांतीय पृथक् सत्ताओं को समाप्त कर राष्ट्र की नागरिक एकता की सृष्टि करने का काम था, यह लाज़िमी था कि वह निरंकुश राजतंत्र द्वारा आरम्भ किये हुए कार्य को विकसित करती, अर्थात् केन्द्रीयकरण का किन्तु उसके साथ ही सरकारी सत्ता की परिधि, विशेषताओं और अभिकर्त्ताओं का भी विकास करती। नेपोलियन ने इस राज्य-यंत्र को सर्वांगपूर्ण बनाया। लेजिटिमिस्ट राजतंत्र और जुलाई राजतंत्र ने और भी अधिक श्रम-विभाजन के सिवा इसमें कुछ नहीं जोड़ा, और यह विभाजन उसी मात्रा में बढ़ा था जिस मात्रा में पूंजीवादी समाज के भीतर का श्रम विभाजन नये स्वार्थ-समूह और इसलिए राज्य-प्रशासन के लिए नई सामग्री पैदा कर रहा था। प्रत्येक **समान** हित तत्काल समाज से काट कर अलग कर लिया जाता, उसके मुक़ाबले में एक उच्चतर, **सामान्य** हित के रूप में खड़ा किया

---

*शेक्सपियर, 'हेम्लेट'। — सं०

जाता, समाज के सदस्यों के कार्यकलाप के क्षेत्र से छीन कर सरकार के कार्यकलाप की वस्तु वना दिया जाता। कोई पुल, किसी स्कूल की इमारत और किसी ग्राम समाज की सम्मिलित सम्पत्ति से लेकर यह फ़्रांस के रेलों, राष्ट्रीय सम्पदा और राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों तक के लिए लागू था। अन्तिम बात यह कि क्रांति के विरुद्ध अपने संघर्ष में संसदीय जनतंत्र ने दमनकारी कार्रवाइयों के अलावा सरकारी सत्ता के साधनों एवं केन्द्रीयकरण को भी सुदृढ़ करने के लिए अपने को मजबूर पाया था। सभी क्रांतियों ने इस यंत्र को चकनाचूर करने के बदले इसे सर्वांगपूर्ण वनाया। वारी-वारी से प्रभुत्व के लिए होड़ करनेवाली पार्टियां इस विशालकाय राज्यीय ढांचे का स्वामित्व प्राप्त करना विजय का प्रधान पुरस्कार समझती थीं।

किन्तु निरंकुश राजतंत्र के अंतर्गत, प्रथम क्रांति के काल में, नेपोलियन के अधीन, नौकरशाही केवल पूंजीपतियों के वर्ग शासन के लिए ज़मीन तैयार करने का साधन थी। पुनःस्थापना काल में, लूई फ़िलिप के तहत संसदीय जनतंत्र के अन्तर्गत, स्वयं अपनी शक्ति के लिए वहुत ज़ोर मारने के वावजूद, वह शासक वर्ग का औज़ार ही वनी रही।

दूसरे वोनापार्त के काल में ही ऐसा ज्ञात हो रहा है कि राज्य ने अपने को पूर्णतया स्वतंत्र वना लिया है। नागरिक समाज के मुक़ावले में राज्य-यंत्र ने अपनी स्थिति इतने सम्यक् रूप में सुदृढ़ कर ली है कि उसका अध्यक्ष होने के लिए १० दिसम्वर-समाज का सरदार ही—वह जोखोंबाज़ ही—काफ़ी है, जिसे आंधी विदेश से वहा लायी, जिसे उन पियक्कड़ सिपाहियों ने गद्दी पर वैठाया है, जिन्हें उसने शराव और सॉसेज खिला कर ख़रीदा और जिन्हें वरावर सॉसेज खिलाते रहना उसके लिए ज़रूरी है। यही कारण है कि फ़्रांस की भूमि आज इतनी हताश है, उसकी छाती भयानक अपमान और मान भंग की भावना से जल रही है, वह भावावेश से कांप रही है। वह ऐसा अनुभव कर रही है जैसे किसी ने उसे बेआवरू कर दिया हो।

और तो भी राज्य-सत्ता अधर में लटकी हुई नहीं है। बोनापार्त किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, वह ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो संख्या में फ़ांसीसी समाज के अन्दर सवसे वड़ा है—छोटी जोतवाले (पार्ज़ेल्लें) किसानों के वर्ग का।

जिस प्रकार बूर्बों राजवंश बड़े भूस्वामियों का राजवंश था और आर्लियां राजवंश पैंसेवालों का राजवंश था, उसी प्रकार बोनापार्त घराना किसानों का, अर्थात् फ़्रांसीसी जन-समुदाय का घराना है। किसानों का वरेण्य वह बोनापार्त नहीं है जो पूंजीवादी संसद के सम्मुख नतमस्तक था अपितु वह बोनापार्त है जिसने पूंजीवादी संसद को भंग किया। तीन वर्षों से शहरों ने १० दिसम्बर के निर्वाचन के सच्चे अर्थ पर सफलतापूर्वक लीपा-पोती कर रखी थी और किसानों को साम्राज्य की पुनःस्थापना से वंचित कर रखा था। १० दिसम्बर १८४८ के निर्वाचन का पूर्ण परिपाक २ दिसम्बर १८५१ के राज्य-पर्युत्क्षेपण द्वारा ही हुआ।

छोटी जोतवाले किसानों का समुदाय विराट् है। ये एक तरह की अवस्थाओं में रहते हैं, किन्तु एक दूसरे के साथ उनके तरह-तरह के सम्बन्ध नहीं बनते। उनकी उत्पादन-प्रणाली उन्हें परस्पर सम्पर्क में लाने के बदले उन्हें एक दूसरे से अलग रखती है। उनका यह अलगाव फ़्रांस में संचार के साधनों की दुरवस्था तथा किसानों की ग़रीबी के कारण और बढ़ जाता है। उनके उत्पादन क्षेत्र, उनकी छोटी जोत में कृषि करने में न श्रम विभाजन की और न विज्ञान के समावेश की गुंजाइश रहती है, अतः यहां विकास की विविधता नहीं, बुद्धिकौशल की विविधता नहीं, सामाजिक सम्बन्धों की सम्पन्नता नहीं। प्रत्येक किसान परिवार प्रायः स्वावलम्बी होता है; वह अपने उपभोग की अधिकांश वस्तुयें स्वयं ही उत्पादित करता है, और इस प्रकार अपनी जीविका के साधन सामाजिक राह-रीत से उतना नहीं जितना प्रकृति के साथ आदान-प्रदान से प्राप्त करता है। एक छोटी-सी जोत, एक किसान और उसका परिवार; उसकी बग़ल में फिर दूसरी छोटी-सी जोत, दूसरा किसान और दूसरा परिवार। ऐसी कई बीसियों से एक गांव बनता है, और कई कोड़ी गांवों को मिलाकर एक ज़िला बनता है। इस तरह फ़्रांसीसी राष्ट्र का विराट् जन-समुदाय तुल्य-परिमाणों के साधारण जोड़ से बना हुआ है ... बहुत कुछ उस तरह जिस तरह बोरे में जमा आलुओं से एक बोरा आलू बनता है। जिस हद तक कि लाखों परिवार ऐसी आर्थिक अवस्था में रहते हैं जो उनकी जीवन-विधि, उनके हितों और उनकी संस्कृति को अन्य वर्गों की जीवन-विधि, हितों और संस्कृति से पृथक् करती है, और अन्य वर्गों के विरोध में उन्हें खड़ा करती है, उस हद तक वे एक वर्ग गठित करते हैं। जिस हद तक इन छोटी जोतवाले किसानों में केवल स्थानीय पैमाने पर

अंतःसम्बन्ध रहता है, और उनके हितों की एकरूपता से वे एक समुदाय के रूप में गठित नहीं होते, उनमें किसी राष्ट्रीय संबंध-सूत्र और किसी राजनीतिक संगठन का उद्भव नहीं होता, उस हद तक वे वर्ग नहीं हैं। फलस्वरूप उनमें अपने नाम से अपने वर्ग-हित की, संसद या कन्वेन्शन के ज़रिये, पूर्ति करने की क्षमता नहीं है। वे अपना प्रतिनिधित्व आप नहीं कर सकते, कोई और ही उनका प्रतिनिधित्व कर सकता है। साथ ही उनका प्रतिनिधि वही हो सकता है जो उनका स्वामी, उनके ऊपर प्रभुता रखनेवाला अधिकारी, निरंकुश शासन-सत्ता जैसा प्रतीत होता हो, जो उन्हें अन्य वर्गों से बचाता हो और आसमान से उन्हें धूप और बरसात भेजता हो। इसी लिये छोटी जोतवाले किसानों के राजनीतिक प्रभाव की अन्तिम अभिव्यक्ति यह है कि कार्यकारी सत्ता समाज को अपने अधीन कर ले।

ऐतिहासिक परम्परा द्वारा फ़्रांसीसी किसानों की इस चमत्कार में आस्था उत्पन्न हुई कि नेपोलियन नामक एक व्यक्ति उनका समूचा प्राचीन गौरव उनके लिये लौटा लायेगा। और एक आदमी सामने आया जिसने अपने को वह व्यक्ति बताया क्योंकि उसका नाम — Code Napoléon: «La recherche de la paternité est interdite»* धारा के अनुसार, नेपोलियन है। बीस सालों की आवारागर्दी और अनेक विचित्र दैवयोगों के बाद, आख़िर वह पुराना विश्वास पूरा हुआ और वह आदमी फ़्रांस का सम्राट बन गया। भतीजे की स्थिर मनोकांक्षा साकार हुई क्योंकि यही फ़्रांसीसी जनता के सबसे बहुसंख्यक वर्ग की अटल मनोकांक्षा भी थी।

लेकिन यहां आपत्ति की जा सकती है: फिर आधे फ़्रांस में किसान विद्रोह, सेना द्वारा किसानों पर छापे, आम पैमाने पर किसानों की जेलबन्दी और निर्वासन क्यों हुए?

लूई चौदहवें के बाद से "वाक्छलपूर्ण राजनीतिक हरकतों के कारण" किसानों का ऐसा दमन कभी नहीं हुआ था।

लेकिन ग़लतफ़हमी दूर हो जानी चाहिये। बोनापार्त घराना क्रान्तिकारी किसानों का प्रतिनिधि नहीं है, वह रूढ़िवादी किसानों का प्रतिनिधि है; वह उस किसान का प्रतिनिधि नहीं है जो अपने सामाजिक अस्तित्व की अवस्था— छोटी जोत — से बाहर निकलने के लिये हाथ-पांव मारता है, अपितु उस किसान

* "वल्दीयत की खोजबीन नहीं की जा सकती"। — सं०

का प्रतिनिधि है जो इस जोत को सुदृढ़ बनाना चाहता है; वह उन ग्रामीण जनों का प्रतिनिधि नहीं है जो नगर के साथ जुड़कर पुरानी व्यवस्था को ख़ुद अपने ज़ोर से उलटना चाहते हैं, अपितु उन ग्रामीण जनों का प्रतिनिधि है जो इस पुरानी व्यवस्था की चहारदीवारी में जड़वत् बन्द हैं, और जो अपने और अपनी छोटी जोत के लिये साम्राज्य के प्रेत का संरक्षण और वरद् हस्त चाहते हैं। वह किसानों की ज्ञानोद्दीप्ति का प्रतिनिधि नहीं अपितु उनके अन्धविश्वास का प्रतिनिधि है, उनके विवेक का प्रतिनिधि नहीं अपितु पूर्वाग्रह का प्रतिनिधि है; उनके भविष्य का प्रतिनिधि नहीं अपितु उनके अतीत का प्रतिनिधि है, उनके आधुनिक सेवेन का प्रतिनिधि नहीं अपितु उनके आधुनिक वांदेय[107] का प्रतिनिधि है।

संसदीय जनतंत्र के तीन वर्षों के कठोर शासन ने फ़्रांसीसी किसानों के एक भाग को नेपोलियनी भ्रमों से मुक्त किया और उनका क्रान्तिकारीकरण किया था, चाहे ऐसा केवल सतही तौर पर ही हुआ हो। किन्तु ये किसान जब-जब गतिमान हुए, पूंजीपतियों ने उनका हिंसापूर्वक दमन किया। संसदीय जनतंत्र के ज़माने में फ़्रांसीसी किसान की आधुनिक चेतना एवं परम्परागत चेतना में इस बात के लिये होड़ चलती रही कि कौन उसके मन पर हावी होती है। इस प्रगति ने स्कूलों के शिक्षकों एवं पादरियों के बीच निरन्तर संघर्ष का रूप धारण किया। पूंजीपतियों ने स्कूल मास्टरों पर प्रहार कर उन्हें गिरा दिया। पहले-पहल ऐसा हुआ कि किसानों ने सरकार के कार्यकलाप के समक्ष स्वतन्त्र आचरण की चेष्टा की। यह मेयरों और प्रीफ़ेक्टों में लगातार चलनेवाले संघर्ष में प्रगट हुआ। पूंजीपतियों ने मेयरों को पदच्युत कर दिया। अन्तिम बात यह कि संसदीय जनतंत्र के ज़माने में विभिन्न इलाक़ों के किसानों ने अपनी ही सन्तान अर्थात् सेना के विरुद्ध विद्रोह किया। पूंजीपतियों ने घेरे की स्थिति जारी कर और ताज़ीरी दस्ते भेज कर उन्हें दण्डित किया। वे ही पूंजीपति आज चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं कि आम जनता गधी है, कि vile multitude* ने हमें धोखा देकर बोनापार्त के हवाले किया है। उन्होंने स्वयं किसान वर्ग की साम्राज्य-भावना को बलपूर्वक सुदृढ़ किया, उन्होंने उन अवस्थाओं को सुरक्षित करके रखा जिनसे किसानों का यह मज़हब उद्भूत होता है। बेशक जब तक आम जनता रूढ़िवादी बनी रहती है पूंजीपति उसकी मूढ़ता से

---

*कमीना अवाम। – सं०

घबराता है और जैसे ही वह क्रांतिकारी बन जाती है वह उसकी प्रवुद्धता से भयभीत होता है।

Coup d'état के बाद होनेवाले विप्लवों में फ़्रांसीसी किसानों के एक भाग ने हाथों में हथियार लेकर १० दिसम्बर १८४८ के ख़ुद अपने मतदान का प्रतिवाद किया। १८४८ के बाद से वे जिस शिक्षालय में से होकर गुज़रे, उसने उनकी बुद्धि को तीक्ष्ण कर दिया था। परन्तु उन्होंने अपने को इतिहास के अधमलोक के अधीन किया था; इतिहास ने उन्हें अपने वचन से हटने न दिया, और अधिकांश अब भी ऐसे पूर्वाग्रहों में जकड़े थे कि ठीक उन ज़िलों में, जो सबसे ज़्यादा क्रांतिकारी थे, किसान जनसंख्या ने खुलेआम बोनापार्त के लिये वोट दिया। उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय सभा ने बोनापार्त को आगे बढ़ने से रोका था। बोनापार्त ने अब केवल उन बेड़ियों को काट डाला था जिनमें नगर ने देहात की मर्ज़ी को जकड़ रखा था। कुछ जगहों में तो किसानों ने नेपोलियन के साथ-साथ कन्वेन्शन जैसी बेतुकी धारणा तक को ग्रहण किया।[108]

प्रथम क्रान्ति द्वारा किसानों के अर्ध-भूदास से कृषक भूस्वामी बना दिये जाने के बाद नेपोलियन ने उन शर्तों की पुष्टि और नियमन किया था जिनपर वे फ़्रांस की भूमि का, जो अभी-अभी उनके हाथ में आयी थी, बिना किसी की दख़लन्दाज़ी के भोग कर सकते थे. और मिलकियत की अपनी नौजवान वासना पूरी कर सकते थे। किन्तु आज जो चीज़ फ़्रांस के किसानों की बर्बादी का कारण बनी हुई है, वह यही छोटी जोत, ज़मीन का टुकड़ों में बंटा होना, मिलकियत का यही रूप है जिसे नेपोलियन ने फ़्रांस में सुदृढ़ किया था। भौतिक अवस्थाओं ने ही सामन्ती किसान को छोटी जोतवाला किसान और नेपोलियन को सम्राट बनाया था। इसके अवश्यम्भावी परिणाम, अर्थात् कृषि के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए क्षय और कृषकों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता को प्रगट करने के लिये दो पीढ़ियां पर्याप्त सिद्ध हुई हैं। मिलकियत का "नेपोलियनाई" रूप जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में फ़्रांस की ग्रामीण जनता की मुक्ति एवं सम्पन्नता की शर्त था, वही इस शताब्दी के दौरान उनके दासत्व और दरिद्रता का नियम बन गया है। और यह नियम ही «idées napoléoniennes»* में से वह प्रथम धारणा है जिसे दूसरे बोनापार्त को बहाल

* नेपोलियनाई धारणा। – सं०

रखना है। यदि वह, किसानों के साथ, अब भी इस भ्रम में है कि उनकी बर्बादी का मूल इस छोटी जोत में नहीं वरन् इसके बाहर, गौण परिस्थितियों के प्रभाव में है, तो उसके प्रयोग उत्पादन-सम्बन्धों के सम्पर्क में आने पर पानी के बुलबुले साबित होंगे।

छोटी जोतवाली मिलकियत के आर्थिक विकास ने समाज के अन्य वर्गों के साथ किसानों के सम्बन्ध को आमूल परिवर्तित कर दिया है। नेपोलियन के शासन में देहात में भूमि का जो विखण्डन हुआ, उसने मुक्त प्रतियोगिता और नगरों में बड़े उद्योग के आरम्भ के पूरक का काम किया। किसान वर्ग भूस्वामी कुलीनतंत्र के प्रति, जिसका तख़्ता अभी-अभी उलटा गया था, सर्वविद्यमान प्रतिवाद था। छोटी जोतवाली सम्पत्ति ने फ़्रांस की मिट्टी में जो जड़ें जमायीं, उनसे सामन्तवाद पोषक-तत्त्व से सर्वथा वंचित हो गया। उसकी मेंडों ने पूंजीपतियों के लिये उन्हें अपने भूतपूर्व महाप्रभुओं के किसी अचानक हल्ले से बचाने वाले स्वाभाविक रक्षा-दुर्ग का काम किया। किन्तु उन्नीसवीं सदी के दौरान सामन्ती प्रभुओं की जगह शहरी सूदख़ोरों ने ले ली; भूमि के साथ जुड़े सामन्ती दायित्वों की जगह बन्धकों ने ले ली; कुलीनतंत्री भूसम्पत्ति का स्थान पूंजीपतियों की पूंजी ने ग्रहण कर लिया। किसान की छोटी जोत अब एक हीला मात्र है जिसकी आड़ में पूंजीपति धरती से अपना मुनाफ़ा, सूद और लगान निकालता है और जोतनेवाले को अपने भाग्य पर छोड़ देता है कि वह उस धरती से अपनी मजूरी निकाल सके तो निकाल ले। फ़्रांस की कृषि भूमि पर बन्धक रूपी ऋण किसानों के ऊपर सूद की अदायगी का जो भार डाल देता है, उसकी कुल रक़म ब्रिटेन के पूरे राष्ट्रीय ऋण के वार्षिक सूद के बराबर है। छोटी जोत रूपी मिलकियत ने, जिसके विकास के साथ अनिवार्य रूप से पूंजी की ग़ुलामी का तौक़ गले पड़ता जाता है, फ़्रांसीसी राष्ट्र के आम जन-समुदाय को गुफ़ानिवासी प्राणी बना दिया है। एक करोड़ साठ लाख किसान (इनमें स्त्रियां और बच्चे भी सम्मिलित हैं) ऐसे गन्दे झोंपड़ों में रहते हैं जिनमें अधिकांश में केवल एक ही खिड़की होती है, कुछ में केवल दो खिड़कियां तथा जो सबसे अच्छे हैं, उनमें बस तीन खिड़कियां होती हैं, जब कि मकान के लिये खिड़कियों का वही स्थान है जो मस्तिष्क के लिये पंच इन्द्रियों का है। पूंजीवादी व्यवस्था जिसने शताब्दी के प्रारम्भ में राज्य को नवोदित छोटी जोत का प्रहरी बनाया था और उसे सरकारी बख़्शी थी, आज एक रक्तपायी पिशाचिनी बन गयी है जो उसका

ख़ून और भेजा, दोनों को चूसकर उसे पूंजी की कीमियागीरी के कड़ाहे में डाल देती है। Code Napoléon क़ुर्क़ियों, बैनामों और नीलामियों की किताब मात्र वन गया है। फ़्रांस के उन चालीस लाख (वच्चों आदि समेत) कंगालों, आवारागर्दों, मुजरिमों और रण्डियों के साथ जिनका अस्तित्व सरकारी तौर पर स्वीकार किया गया है, पचास लाख ऐसे लोगों का भी शुमार किया जाना चाहिये जो जीवन के कगार पर खड़े हैं और या तो देहातों में गुज़र-वसर करते हैं, या वे अपने चिथड़ों और अपने वच्चों समेत लगातार देहात छोड़कर शहर और शहर छोड़कर देहात आते-जाते रहते हैं। अतः किसानों के हित पूंजीपतियों के और पूंजी के हितों के अनुरूप अव नहीं रह गये हैं जैसा कि वे नेपोलियन के समय में थे, वरन् उसके विरोधी हो गये हैं। इसलिये किसान शहरी मजदूर को जिसका काम पूंजीवादी व्यवस्था को उलटना है, अपना स्वाभाविक मित्र और नेता पाते हैं। पर प्रबल तथा निरंकुश शासन पर—यह दूसरी «idée napoléonienne» है जिसे दूसरे नेपोलियन को क्रियान्वित करना है—इसी "भौतिक" व्यवस्था की वलपूर्वक रक्षा करने का भार आ पड़ा है। यही «ordre matériel»* वाग़ी किसानों के विरुद्ध वोनापार्त की सभी घोषणाओं में नारे का भी काम करता है।

पूंजी द्वारा वंधक में जकड़े जाने के अलावा, छोटी जोत को करों का भार भी वहन करना पड़ता है। कर नौकरशाही, सेना, पण्डेपुरोहितों और राज-दरवार, यानी कार्यकारी सत्ता के समस्त उपकरणों का जीवन-स्रोत है। प्रवल शासन और भारी कर, दोनों अभिन्न हैं। छोटी जोत रूपी मिलकियत की प्रकृति ही ऐसी है कि वह एक सर्व-शक्तिमान् और विशाल संख्यावाली नौकरशाही के लिये उपयुक्त आधार का काम देती है। वह धरती की पूरी सतह के ऊपर एक ही स्तर के सम्बन्धों और व्यक्तियों को स्थापित करती है। अतएव वह इस समरूप समुदाय के प्रत्येक विन्दु पर एक सर्वोच्च केन्द्र की समरूपी क्रिया को सम्भव बनाती है। वह ग्राम जनता एवं राज्य-सत्ता के वीच के आभिजात्य दर्म्यानी दर्जों को ख़त्म कर देती है। अतः वह हर ओर से इस राज्य-सत्ता के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप का एवं राज्य-सत्ता के निकटतम निकायों के वीचविचाव का आह्वान करती है। अन्तिम वात यह कि वह एक वेरोज़गार

---

* भौतिक व्यवस्था।—सं०

फ़ाज़िल आबादी पैदा करती है जिसके लिये न खेती में जगह है न नगरों में और जो इस वजह से एक प्रकार की मानयुक्त भिक्षा के रूप में सरकारी नौकरियों के लिये हाथ फैलाती है, और नये राज्यीय पदों को पैदा करने की प्रेरणा प्रदान करती है। नेपोलियन ने संगीन के ज़ोर से नयी मण्डियों के द्वार खोल कर, यूरोपीय महादेश को लूटकर, अनिवार्य करों का मय सूद के भुगतान किया। ये कर किसानों को उद्यम करने की प्रेरणा प्रदान करते थे, जब कि वे ही अब उसके उद्यम को अपने साधन के अन्तिम अंश से वंचित करते हैं, और कंगाल होते जाने की प्रक्रिया का प्रतिरोध करने की उसकी क्षमता को पूरा हर लेते हैं। और दूसरे बोनापार्त के लिये अच्छा ओढ़ने-पहरने वाली, अच्छा खाने-पीने वाली एक विशाल नौकरशाही की धारणा «idée napoléonienne» में से सबसे सुखकर धारणा है। यह देखते हुए कि उन वर्गों के अलावा जो समाज में सचमुच मौजूद हैं, वह एक ऐसी कृत्रिम बिरादरी खड़ी करने को मजबूर है जिसके लिये उसके राज को बरक़रार रखना उसकी रोटी-रोज़ी का सवाल बन जाता है अन्यथा हो भी कैसे सकता था? अत: उसने जो पहले वित्तीय काम किये, उनमें से एक था, अमलों के वेतनों को बढ़ाकर फिर पुराने स्तर पर ले आना और नये आशय की नौकरियां क़ायम करना।

एक और «idée napoléonienne» है शासन-सत्ता के एक अस्त्र के रूप में **पादरियों** का बोलबाला होना। किंतु जहां नवजात छोटी जोत समाज के साथ सामंजस्यपूर्ण, प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भर और अपने संरक्षी शासन के वश्य होने के कारण स्वभावतया धार्मिक होती है, वहां ऋण से बर्बाद, समाज और शासन दोनों के विरुद्ध, और अपनी चहारदीवारी से बाहर निष्कासित छोटी जोत स्वभावतया धर्म-विमुख हो जाती है। नव प्राप्त भूमि के छोटे से टुकड़े के साथ भगवान की प्राप्ति भी हो जाना सुखद है, ख़ासकर इसलिये भी कि भगवान ही वर्षा देता है। किन्तु छोटी जोत छीनकर उसके बदले में भगवान का दिया जाना अपमान की कड़वी घूंट है। ऐसे समय पादरी पार्थिव पुलिस का—जो एक और «idées napoléoniennes» है—धर्म-प्रतिष्ठित शिकारी कुत्ता मात्र दिखने लगता है। अगली बार रोम-विरोधी अभियान ख़ुद फ़्रांस की सरज़मीन पर संगठित होगा, किन्तु श्री दे मोन्तालेम्बेर के अर्थों में नहीं, वरन् उसके उल्टे अर्थ में।

अन्तिम बात यह कि सेना के प्राधान्य की धारणा «idées napoléoniennes» का चरम विन्दु है। सेना छोटी जोत वाले किसानों की point d'honeur* थी, उनका अपना वीर-रूप थी, बाहरी दुनिया से उनकी नवप्राप्त मिलकियत की हिफ़ाज़त करनेवाली, उनकी नवप्राप्त राष्ट्रीयता को गौरवान्वित करनेवाली, दुनिया को लूटने और क्रान्तिकारी बनानेवाली। फ़ौजी वर्दी उनकी अपनी राजकीय पोशाक थी; युद्ध उनका काव्य था; छोटी जोत, कल्पना-पटल पर बिस्तृत एवं पूर्ण होकर, उनकी पितृभूमि थी, और देशभक्ति — सम्पत्ति भावना का आदर्श रूप थी। किन्तु फ़्रांसीसी किसान को अब जिन शत्रुओं से अपनी सम्पत्ति की रक्षा करनी पड़ रही है, वे कज़्ज़ाक लोग नहीं हैं, वे हैं क़ुर्क़-अमीन और कर वसूलनेवाले अमले हैं। छोटी जोत का अस्तित्व अब तथाकथित पितृभूमि में नहीं वरन् बंधकों की महाजनी वही में है। सेना भी अब बेहतरीन किसान नौजवानों की सेना नहीं रही, वह भ्रष्ट, कुत्सित किसान लंपट-सर्वहारा की सेना बन जाती है। वह अधिकतर एवज़ियों की, स्थानापन्नों की फ़ौज है जिस प्रकार दूसरा बोनापार्त स्वयं एक एवज़ी है, नेपोलियन का स्थानापन्न मात्र है। उसका शौर्य अब किसानों का पीछा करने में, जैसे शिकारी कुत्ते हिरनों के झुण्ड का पीछा करते हैं, प्रगट होता है, पुलिसमैनी करने में प्रगट होता है। और यदि इस व्यवस्था के अंतर्विरोध चाबुक मारकर १० दिसम्बर-समाज के सरदार को फ़्रांस के बाहर जाने को मजबूर करें तो उसकी सेना लूट-खसोट के चन्द कारनामों के बाद, यश नहीं वरन् ख़ूब अच्छी पिटाई प्राप्त करेगी।

अतः हम देखते हैं कि सभी «idées napoléoniennes» **तरुणाई की ताज़गी वाली अविकसित छोटी जोत की धारणाएं हैं**; किन्तु उस छोटी जोत के लिये, जिसका समय बीत चुका है, वे सर्वथा असंगत हैं। वे उसके मरण-संघर्ष के मतिभ्रम मात्र हैं, ऐसे शब्द हैं जो नारों में तबदील हो गये हैं, ऐसी आत्माएं हैं जो प्रेत बन चुकी हैं। किन्तु साम्राज्य का यह स्वांग फ़्रांसीसी राष्ट्र के जनसमुदाय को परम्परा के भार से मुक्त करने एवं राज्य-सत्ता और समाज के विरोध को विशुद्ध रूप में प्रस्तुत करने के लिये आवश्यक था। छोटी जोत के उत्तरोत्तर विनष्ट होने के साथ, उसके ऊपर आधारित राज्य का ढांचा भहरा पड़ता है। आधुनिक समाज के लिये अपेक्षित राज्य का

---

*शान की बात। — सं०

केन्द्रीयकरण सामन्तवाद के विरुद्ध गढ़ी गयी फ़ौजी-नौकरशाही सरकारी मशीन के ध्वंसावशेषों पर ही उदित होता है।*

फ़ांसीसी किसान की दशा हमें २० और २१ दिसम्बर के आम चुनावों की पहेली का उत्तर प्रदान करती है जिन्होंने दूसरे बोनापार्त को सिनाई पर्वत के शिखर पर[109], उच्चादेश प्राप्तकर्त्ता के रूप में नहीं वरन् उच्चादेश प्रणेता के रूप में पहुंचाया।

प्रगट है कि पूंजीपतियों के लिये अब बोनापार्त को चुनने के अलावा अब कोई चारा न था। कोन्स्टैन्स की चर्च परिषद्[110] में जब विशुद्धतावादी मसीहियों ने यह शिकायत की कि पोप लोग दुराचारपूर्ण जीवन बिता रहे हैं और नैतिक सुधार की मांग की, तो कार्डिनल पियेर द'आई ने उन्हें डांट कर कहा था: "अब केवल शैतान ही ख़ुद आकर कैथोलिक चर्च को बचा सकता है, और आप हैं कि फ़रिश्तों की मांग कर रहे हैं!" इसी तरह राज्य-पर्युत्क्षेपण के बाद पूंजीपतियों ने कहा: केवल १० दिसम्बर-समाज का सरदार ही अब भी पूंजीवादी समाज को बचा सकता है! चोर ही माल की, बेईमानी ही ईमान की, व्यभिचार ही परिवार की, अव्यवस्था ही व्यवस्था की हिफ़ाज़त कर सकती है!

अपने को स्वतंत्र सत्ता का रूप देनेवाली कार्यकारी सत्ता की हैसियत से बोनापार्त अनुभव करता है कि "पूंजीवादी व्यवस्था" की रक्षा करना उसका मिशन है। किन्तु इस पूंजीवादी व्यवस्था की शक्ति मध्यम वर्ग में अन्तर्निहित है। अतः बोनापार्त मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में अपने को देखता है,

---

*१८५२ के संस्करण में इस पैराग्राफ़ का अन्त निम्नलिखित पंक्तियों के साथ हुआ था, जिन्हें मार्क्स ने १८६९ के संस्करण में निकाल दिया: "राज्य यंत्र के नष्ट किये जाने से केन्द्रीयकरण के लिये ख़तरा नहीं पैदा होगा। नौकरशाही एक ऐसे केन्द्रीयकरण का निम्न और पाशविक रूप मात्र है जो अपने प्रतिलोमी, यानी सामन्तवाद से अब भी आक्रान्त है। जब फ़्रांसीसी किसान नेपोलियनाई पुनःस्थापना से निराश हो जायेगा, तो अपनी छोटी जोत के प्रति उसकी आस्था भंग हो जायेगी; इस छोटी जोत के ऊपर खड़ी राज्य की पूरी इमारत भहरा कर गिर पड़ेगी और सर्वहारा क्रान्ति वह समवेत स्वर प्राप्त करेगी जिसके बिना उसका एकान्त गीत सभी कृषक देशों में उसका मृत्युपूर्व का अन्तिम गीत बन जाता है।" – सं०

और इसी अर्थ में अपनी आज्ञप्तियां जारी करता है। पर यदि उसकी वक़्त है तो सोलहों आना इस वजह से कि उसने इस मध्यम वर्ग की राजनीतिक शक्ति को तोड़ा है और हर रोज़ नये सिरे से उसे तोड़ रहा है। फलस्वरूप वह अपने को मध्यम वर्ग की राजनीतिक एवं प्रचार शक्ति के बैरी के रूप में देखता है। किन्तु इस वर्ग की भौतिक शक्ति का संरक्षण करके वह नये सिरे से उसकी राजनीतिक शक्ति पैदा करता है। कारण की रक्षा करो, परन्तु कार्य को, जहां भी वह प्रगट हो, नष्ट कर दो। किन्तु ऐसा करने पर कार्य और कारण में कुछ न कुछ भ्रम हुए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि दोनों ही अपनी अन्योन्यक्रिया के सिलसिले में अपनी-अपनी विशिष्टता खो देते हैं। अतः नयी आज्ञप्तियां निकलती हैं जो सीमारेखा को मेट देती हैं। पूंजीपतियों के मुक़ावले में, बोनापार्त अपने को किसानों के और आम जनता के एक ऐसे प्रतिनिधि के रूप में देखता है जो पूंजीवादी समाज के चौखटे के अन्दर जनता के निम्नतर वर्गों को सुखी बनाना चाहता है। अतः नयी आज्ञप्तियां निकलती हैं जो राजकौशल में "सच्चे समाजवादियों" को [111] पेशगी मात दे देते हैं। किन्तु बोनापार्त सर्वोपरि अपने को १० दिसम्बर-समाज का सरदार, लंपट-सर्वहारा के प्रतिनिधि के रूप में देखता है जिनके वह, उसके दरबारी, उसकी सरकार और उसकी सेना अंग हैं और जिनका सबसे बड़ा उद्देश्य अपने को लाभान्वित करना तथा राज्य कोष से कैलिफ़ोर्निया लाटरी के इनाम प्राप्त करना है। और १० दिसम्बर-समाज के सरदार के रूप में अपनी स्थिति का निर्वाह वह आज्ञप्तियों के द्वारा, आज्ञप्तियों के बिना और आज्ञप्तियों के बावजूद पूरा कर रहा है।

चूंकि इस आदमी के सम्मुख ऐसे परस्पर विरोधी कार्यभार हैं इसलिये उसके शासन में परस्परविरोधिता है, वह अंधेरे में उद्भ्रान्त रूप से टटोलता हुआ चलता है, कभी एक वर्ग का समर्थन पाना चाहता है और दूसरे को अपमानित करता है, कभी दूसरे को अपनी ओर लाना चाहता है और तीसरे को अपमानित करता है, एवं इस तरह सभी को समान रूप से अपना बैरी बनाता है; व्यवहार क्षेत्र में उसका ढुलमुलपन उसकी सरकारी आज्ञप्तियों की दृप्त और निश्चयात्मक शैली के मुक़ाबले में, जो उसके चाचाजान की शैली की हूबहू नक़ल है, अत्यन्त हास्यास्पद लगता है।

दृढ़ शासन के अधीन उद्योग और व्यापार — यानी मध्यम वर्ग के रोज़गार — की कृत्रिम रूप से वृद्धि की जाती है। रेलों के निर्माण के अनेक

अधिकारपत्र प्रदान किये जाते हैं। पर बोनापार्ती लंपट-सर्वहारा को भी मालामाल करना है। ये लोग, जिन्हें राज्य के भेद पहले से बता दिये जाते हैं, इन अधिकारपत्रों को लेकर बूर्स में हथकण्डेबाज़ी करते हैं। लेकिन रेलों के निर्माण के लिये कोई पूंजी सामने नहीं आती। रेलवे शेयरों पर पेशगी देने का दायित्व बैंक पर है। किन्तु साथ ही ज़ाती फ़ायदे के लिये बैंक से नाजायज़ फ़ायदा भी उठाना है, इसलिये उसे पुचकारना भी ज़रूरी है। अतः उसे अपनी रिपोर्ट प्रति सप्ताह प्रकाशित करने की ज़िम्मेदारी से बरी किया जाता है। बैंक और सरकार का खाऊ-पचाऊ समझौता हो जाता है। जनता को रोज़ी देनी चाहिये। इसलिये सार्वजनिक निर्माण-कार्य आरम्भ किया जाता है। किन्तु यह कार्य आरम्भ करने से जनता पर करों का भार बढ़ जाता है। इसलिये लाभांशजीवियों पर प्रहार करके, पांच प्रतिशत के बाण्डों को साढ़े चार प्रतिशत में परिवर्तित करके करों में कमी की जाती है। पर मध्यम वर्ग को फिर कुछ निवाले मिलने चाहिये। इसलिये उन लोगों के लिये जो शराब en détail* ख़रीदते हैं, मद्य-कर दुगुना कर दिया जाता है और मध्यम वर्ग के लिये जो शराब en gros** पीता है, मद्य-कर आधा कर दिया जाता है। मजदूरों के अंजुमनों को, जो मौजूद हैं, तोड़ दिया जाता है, पर भविष्य में अंजुमनों के सम्बन्ध में जादू के करिश्मे दिखाने के वादे किये जाते हैं। किसानों की मदद करनी है। अतः बन्धक-बैंक क़ायम किये जाते हैं, जिनसे किसानों का क़र्ज़ों में डूबना आसान हो जाता है और सम्पत्ति के समाहरण की प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। पर इन बैंकों का इस्तेमाल आर्लियां राजघराने की ज़ब्त ज़मींदारियों से पैसा पैदा करने के लिये करना है। कोई भी पूंजीपति इस शर्त के लिये राज़ी नहीं होना चाहता, जो आज्ञप्ति में नहीं है, अतः बन्धक-बैंक की आज्ञप्ति धरी रह जाती है। और इसी तरह विरोधों का यह क्रम चलता है।

बोनापार्त चाहता है कि सभी वर्ग उसे अपना पितृतुल्य हितैषी समझें। पर एक वर्ग से लिये बिना वह दूसरे को दे नहीं सकता। जिस प्रकार फ़्रोन्द के समय में ड्यूक आॅफ़ गीज़ के विषय में यह कहा जाता था कि वह फ़्रांस

---

*खुदरा। – सं०

** थोक रूप में। – सं०

का सबसे अनुग्रहवान् व्यक्ति है क्योंकि उसने अपनी सभी जागीरों को अपने प्रति अपने अनुयायियों की सेवाओं में परिवर्तित कर दिया था, उसी प्रकार बोनापार्त भी वड़ी ख़ुशी से फ़ांस का सबसे अनुग्रहवान् व्यक्ति होना और फ़ांस की समूची सम्पदा और समूचे श्रम को अपने प्रति वैयक्तिक सेवा में परिवर्तित कर देना चाहता है। उसकी इच्छा है कि समूचे फ़ांस को चुरा ले ताकि उसे उपहार के रूप में फ़ांस को भेंट कर सके, या, दूसरे शब्दों में, फ़ांस के पैसे से ही फ़ांस को नये सिरे से ख़रीदे, क्योंकि १० दिसम्बर-समाज के सरदार के रूप में जो चीज़ उसकी होनी चाहिये उसे भी धन देकर मोल लेना उसकी वृत्ति का अंग है। और सभी राज्य-संस्थाएं: सिनेट, राज्य परिषद्, विधिकारी निकाय, लीजन ऑफ़ ऑनर का पदक, सैनिकों के पदक, धोबीख़ाने, सार्वजनिक निर्माण-कार्य, रेलें, राष्ट्रीय गार्ड का जनरल स्टाफ़, आम सिपाहियों को छोड़कर, तथा आर्लियां घराने की ज़ब्त की गयी जागीरें—ये सभी धन देकर ख़रीदारी करने के व्यापार का अंग हो गयीं। सेना और शासन यंत्र के सभी पद लोगों को ख़रीदने के साधन बन गये। किन्तु इस प्रक्रिया की, जिसमें फ़ांस इसलिये लिया जाता है कि वह अपने आपको दिया जाये, सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेन-देन के इस सौदे के दौरान कुछ प्रतिशत १० दिसम्बर-समाज के सरदार और उसके सदस्यों की जेब में पहुंच जाते हैं। श्री दे मोर्नी की प्रेमिका काउन्टेस एल० ने ड्यूक ऑफ़ आर्लियां की जागीरों की ज़ब्ती के सम्बन्ध में जो श्लेषात्मक वाक्य कहा था—«C'est le premier vol* de l'aigle» ("यह उक़ाब की पहली उड़ान है")—वह उस उक़ाब की, जो दरअसल डोमकौवे से अधिक मिलता-जुलता है, हर उड़ान पर लागू है। वह स्वयं और उसके अनुयायी एक दूसरे को हर रोज़ उस इटली के कार्थुसियन सम्प्रदाय के उस भिक्षु की तरह चेताते हैं जिसने वर्षों जीवन-यापन के लिये पर्याप्त अपनी धनराशि को दम्भपूर्ण प्रदर्शन के भाव से गिनने वाले एक मक्खीचूस से कहा था: «Tu fai conto sopra i beni, bisogna prima far il conto sopra gli anni»**। साल

---

*vol का अर्थ है उड़ान और चोरी। (मार्क्स की टिप्पणी।)

** "तू अपनी दौलत गिन रहा है, पर तुझे पहले अपनी ज़िन्दगी के साल गिनने चाहिये।"—सं०

गिनने में कहीं ग़लती न हो जाये, इसलिये वे मिनट गिनते हैं। निगोड़ों की जमात दरबारों में, मंत्रालयों में और प्रशासन और सेना के प्रमुख स्थानों में घुस जाती है। इस जमात के सर्वोत्कृष्ट सदस्यों के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि उनका उद्भव अज्ञात है। यह आवाराहाल लोगों की एक ऊधमी, ज़लील और लुटेरू जमात है जिसने सूलूक के ऊंचे ओहदेदारों की तरह हास्यास्पद संजीदगी के साथ सरकारी पदों की वर्दियां धारण की हैं। १० दिसम्बर-समाज के ऊपरी स्तर की तस्वीर इस बात से साफ़ हो जाती है कि वेरों-क्रेवेल उसका धर्मोपदेशक और ग्रानिए दे कासेन्याक उसका विचारक है। गीज़ो ने जब अपने मंत्रिमण्डल के समय राजवंशीय विरोध पक्ष के विरुद्ध एक ख़ुफ़िया अख़बार में इस ग्रानिए का उपयोग किया था, तो वह उसके बारे में हंसी से कहा करता था: «C'est le roi des drôles» – "यह भांडों का सरताज है।" लूई बोनापार्त के दरबार और उसकी मण्डली के सम्बन्ध में रीजेंसी[112] अथवा लूई पन्द्रहवें के काल का हवाला देना ग़लत होगा। क्योंकि "फ़्रांस रखेल औरतों के शासन का कई बार अनुभव कर चुका है, पर रखेल मर्दों की सरकार उसके लिये बिलकुल नयी चीज़ है।" *

इस परिस्थिति की परस्पर विरोधी मांगों से प्रेरित होकर और साथ ही रोज़ नये-नये शिगूफ़े छोड़कर अपने को बाज़ीगर की तरह जनता की दृष्टि में नेपोलियन के स्थानापन्न के रूप में निरन्तर सामने रखने की आवश्यकता के वशीभूत होकर, या यों कहें कि हर रोज़ राज्य-पर्युत्क्षेपण की छोटी-मोटी फुलझड़ियां छोड़ने की आवश्यकता के वशीभूत होकर, बोनापार्त समूचे पूंजीवादी अर्थतंत्र को अस्तव्यस्त कर रहा है, वह हर उस चीज़ का अतिक्रमण कर रहा है जो १८४८ की क्रान्ति को अनतिक्रमणीय ज्ञात हुआ था, और ऐसा करके कुछ को क्रान्ति के प्रति सहिष्णु और कुछ को क्रान्ति का इच्छुक बना रहा है तथा अमन के नाम पर वस्तुतः अराजकता उत्पन्न कर रहा है। यह करने के साथ ही वह सम्पूर्ण राज्य-यंत्र की गरिमा धूल में मिला रहा है, उसे भ्रष्ट कर रहा है तथा एक साथ घृणास्पद एवं हास्यास्पद बना रहा है। वह त्रियेर के पवित्र परिधान[113] की पूजा की नक़ल पेरिस में शाही चोग़े

* उद्धृत शब्द मादम जिरार्दिन के हैं।– (मार्क्स की टिप्पणी।)

की पूजा के रूप में उतार रहा है। किन्तु जब शाही चोग़ा लूई बोनापार्त के कन्धों पर अन्तिम रूप से आ जायेगा तो नेपोलियन की कांस्य मूर्त्ति वान्दोम स्तम्भ[114] से भहरा कर नीचे गिर पड़ेगी।

मार्क्स द्वारा दिसम्बर
१८५१ से मार्च १८५२
तक लिखित।

न्यूयार्क की *«Die Revolution»* नामक
पत्रिका में १८५२ में प्रकाशित।

हस्ताक्षर: कार्ल मार्क्स

१८५२ तथा १८८५ के
संस्करणों से मिलाकर,
१८६९ के संस्करण
के मूलपाठ के अनुसार मुद्रित।
मूल जर्मन।

कार्ल मार्क्स

भारत में ब्रिटिश राज[115]

...हिन्दुस्तान एशियाई विस्तार का इटली है। आल्प्स पर्वत के स्थान पर वहां हिमालय, लोम्बार्डी के मैदानों के स्थान पर बंगाल के मैदान हैं, एपीनाइन्स के स्थान पर दक्खिन है और सिसिली के द्वीप के स्थान पर लंका है। भूमि की उपज में भी वैसी ही सम्पन्नता तथा विविधता है, राजनीतिक विन्यास में भी वैसी ही विच्छिन्नता। इटली में समय-समय पर विजेताओं की तलवार के नीचे ही भिन्न-भिन्न जातीय जन-समूह एकत्रित होते रहे; इसी प्रकार हम देखते हैं कि जब हिन्दुस्तान पर मुसलमानों, या मुग़लों, या अंग्रेज़ों का दबाव न होता तो वह भी उतने ही स्वतन्त्र, परस्पर-विरोधी राज्यों में बंट जाता रहा, जितने कि उसमें नगर, यहां तक कि गांव थे। पर सामाजिक दृष्टि से हिन्दुस्तान इटली नहीं, बल्कि पूर्व का आयर्लैण्ड है। भारत की स्थिति में इटली और आयर्लैण्ड की स्थितियों के विचित्र मिश्रण का – विलासिता के संसार और क्लेश के संसार के इस अनोखे मेल का पूर्वाभास हमें हिन्दुस्तान की प्राचीन धार्मिक परम्पराओं से ही मिल जाता है। यह धर्म एक साथ ही अत्यधिक ऐन्द्रियता और आत्म-पीड़क तपस्या का धर्म है। उसमें लिंगम भी है और जगन्नाथ भी, साधु भी है और नर्तकी भी।

मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूं जो हिन्दुस्तान के किसी स्वर्णयुग में विश्वास रखते हैं, लेकिन अपने मत के समर्थन में मैं सर चार्ल्स वुड की तरह कुली ख़ां के समय का हवाला भी नहीं दूंगा। परन्तु, मिसाल के तौर पर, आप औरंगज़ेब के ज़माने को या उस ज़माने को लीजिये जब मुग़ल उत्तर में और पुर्तगाली दक्षिण में आये थे; या आप उस काल को लीजिये

जब मुसलमानों के हमले हो रहे थे और दक्षिण भारत में हैप्टार्की क़ायम थी; या यदि आप चाहें तो उससे भी पुराने ज़माने की कल्पना कीजिये और स्वयं ब्राह्मणों के पौराणिक काल-क्रम को लीजिये, जिसमें हिन्दुस्तान में दुःख-दैन्य का आरम्भ ईसाइयों के मतानुसार जगत्-सृष्टि के आरम्भ से भी बहुत पहले का बताया गया है।

परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दुस्तान पर जो मुसीबत अंग्रेज़ों ने ढायी है, वह उन सब मुसीबतों से बुनियादी तौर पर भिन्न और अधिक तीव्र है, जो हिन्दुस्तान ने पहले उठायी थीं। यहां मेरा इशारा यूरोपीय तानाशाही की ओर नहीं है, जिसे ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एशियाई तानाशाही के ऊपर स्थापित किया और जिसने एशियाई तानाशाही के साथ मिलकर ऐसा भयानक दैत्य पैदा किया जो सालसेट के मन्दिर में स्थित अलौकिक राक्षसों की मूर्त्तियों से भी अधिक भयानक था। तानाशाहियों को मिलाना ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता का कोई अनूठा गुण नहीं, बल्कि केवल हालैण्ड की पद्धति की नक़ल है। यहां तक कि ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काम का वर्णन करने के लिए जावा के अंग्रेज़ गवर्नर सर स्टैम्फ़र्ड रैफ़्लस के शब्दों को ज्यों का त्यों दोहरा देना काफ़ी होगा, जो उन्होंने हालैण्ड की पुरानी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बारे में लिखे थे:

> "हालैण्ड की कम्पनी, केवल लाभ की भावना से प्रेरित, अपनी प्रजा का उतना भी ध्यान नहीं रखती थी, जितना कि पहले कोई वेस्ट इण्डियन बाग़ान-मालिक अपनी भूमि पर काम करनेवाले दासों का रखता था, क्योंकि बाग़ान के मालिक को कम से कम मानव-शरीर ख़रीदने के लिए पैसे देने पड़े थे, जो कम्पनी को नहीं देने पड़े थे। इस तरह यह कम्पनी तानाशाही के तमाम साधनों द्वारा लोगों से उनकी आख़िरी कौड़ी तक वसूल लेती थी, उनकी श्रम-शक्ति की अन्तिम बूंद तक चूस लेती थी; और इस प्रकार एक स्वेच्छाचारी और अर्द्ध-बर्बर सरकार को राजनीतिज्ञों की सारी सधी हुई चालाकियों और व्यापारियों की समस्त सर्वग्रासी स्वार्थलिप्सा के साथ जोड़कर उसने देश को पहुंचायी गयी बुराइयों को और भी बढ़ाया।"

हिन्दुस्तान में हुए सभी गृह-युद्ध, उसपर हुए सारे आक्रमण, वहां घटित सारे राज-परिवर्तन, उसकी अनेक अभिजितियां, समस्त दुर्भिक्ष — एक के बाद एक — चाहे कितने ही जटिल, वेगवान और विनाशकारी क्यों न जान पड़ते

हों, उनके प्रभाव गहरे न होकर मात्र सतही रहे। परन्तु इंगलैंड ने तो भारतीय समाज का सारे का सारा ढांचा तोड़ डाला, और उसके नवनिर्माण के कोई लक्षण अभी तक नज़र नहीं आते। इस भांति एक तरफ़ तो भारतीय जनता की पुरानी दुनिया खो गई है और दूसरी तरफ़ नयी दुनिया मिली नहीं है, जिससे उसकी वर्तमान दुःखपूर्ण स्थिति और भी करुण हो जाती है और ब्रिटिश शासन के नीचे भारत अपनी सभी प्राचीन परम्पराओं, अपने समूचे पिछले इतिहास से कट जाता है।

सामान्यतया एशिया में अतिप्राचीन काल से शासन के केवल तीन विभाग रहे हैं: वित्त-विभाग, अर्थात् अंदरूनी लूट-पाट विभाग; युद्ध-विभाग, अर्थात् बाहरी लूट-पाट विभाग; और, अन्त में, सार्वजनिक निर्माण-विभाग। जलवायु तथा भूमि की विशेषता के कारण, विशेष तौर से बड़े-बड़े रेगिस्तानों के कारण, जो सहरा से लेकर अरब, फ़ारस, हिन्दुस्तान और तातारिया होते हुए एशिया के ऊंचे से ऊंचे पहाड़ी प्रदेशों तक फैले हुए हैं, एशिया में कृषि का आधार सिंचाई के कृत्रिम साधन – नहरें, जलघर आदि – रहे हैं। मिस्र और हिन्दुस्तान की तरह, मेसोपोटामिया और फ़ारस इत्यादि में भी धरती को उपजाऊ बनाने के लिए बाढ़ के पानी का उपयोग किया जाता है और पानी के ऊंचे स्तर का लाभ उठाकर सिंचाई करनेवाली नहरें भर ली जाती हैं। कमख़र्ची के साथ मिल-जुलकर पानी का उपयोग करने की इस मूलभूत आवश्यकता ने पश्चिम में निजी उद्यमों को स्वैच्छिक साहचर्य के लिए विवश किया जैसा कि फ़्लांडर्स तथा इटली में हुआ। परन्तु पूरब में एक तो सभ्यता का स्तर नीचा था और दूसरे भूमि का विस्तार बड़ा था। इसलिए वहां स्वैच्छिक साहचर्य अत्यन्त कठिन था, जिससे सरकार की केन्द्रीयताकारी शक्ति का हस्तक्षेप ज़रूरी हो गया। फलतः एशिया की सभी सरकारों पर सार्वजनिक निर्माण के प्रबन्ध का आर्थिक काम आ पड़ा। इस तरह जब ज़मीन को उपजाऊ बनाने के कृत्रिम साधन केन्द्रीय सरकार पर निर्भर हो गये, तो जब कभी सरकारें सिंचाई तथा पानी की निकासी की ओर ध्यान न दे पातीं, तो फ़ौरन ज़मीनें ऊसर होने लगतीं। यही कारण है कि हमें यह विचित्र स्थिति दिखाई देती है कि बड़े-बड़े प्रदेश, जहां किसी ज़माने में शानदार खेती होती थी, आज बंजर और अनुर्वर नज़र आते हैं, जैसे पाल्मीरा, पेत्रा, यमन के खण्डहर और मिस्र, फ़ारस तथा हिन्दुस्तान के विस्तृत इलाके। और यही कारण है कि एक भी विनाशकारी युद्ध के

होने से सारा देश सदियों के लिए निर्जन हो जाता है और उसकी सारी सभ्यता लुप्त हो जाती है।

अब अंग्रेज़ों ने ईस्ट इण्डिया में अपने पूर्वाधिकारियों से वित्त-विभाग तथा युद्ध-विभाग तो ले लिये, परन्तु सार्वजनिक निर्माण-विभाग की ओर बिल्कुल कोई ध्यान नहीं दिया। यही कारण है कि वह कृषि, जो अंग्रेज़ों के स्वतन्त्र होड़ के सिद्धान्त—laissez faire, laissez aller* के सिद्धान्त—के मुताबिक़ नहीं चल सकती थी, बर्बाद हो गयी। पर एशियाई देशों में हम यह बात देखने के बिलकुल अभ्यस्त हैं कि खेती किसी एक शासन में बर्बाद होती है तो किसी दूसरे शासन-काल में फिर पनपने लगती है। यहां फ़सल का दारोमदार सरकार के अच्छे या बुरे होने पर होता है, जैसे कि यूरोप में उसका दारोमदार अच्छे या बुरे मौसम पर। अतः अंग्रेज़ विजेताओं द्वारा कृषि की उपेक्षा और उस पर चोट जघन्य होते हुए भी भारतीय समाज पर घातक प्रहार नहीं समझी जा सकती थी, यदि इसके साथ ही एक ऐसी अधिक महत्त्वपूर्ण बात न हो गयी होती जो अपना अलग महत्त्व रखती है और सारे एशिया के इतिहास में अनोखी है। हिन्दुस्तान के अतीत का राजनीतिक पहलू कितना ही परिवर्तनशील क्यों न रहा हो, उसकी सामाजिक स्थिति अतिप्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं सदी की पहली दशाब्दी तक स्थायी रही। करघा और चरखा इस सामाजिक ढांचे की धुरी थे, जिनसे निरन्तर असंख्य बुनकर तथा सूत कातनेवाले पैदा होते रहते थे। पुरातन काल से यूरोप हिन्दुस्तानी बुनकरों के तैयार किये हुए बेहतरीन कपड़े मंगवाता रहा और बदले में अपनी मूल्यवान धातुएं भेजता रहा, जो सुनार के पास पहुंचती रहीं। सुनार भारतीय समाज का नितान्त आवश्यक अंग होता है, क्योंकि वह समाज अलंकार-आभूषण का ऐसा महान प्रेमी है कि निम्नतम वर्ग के लोग भी, जो प्रायः नंगे घूमते हैं, सोने की बालियां या गले में कोई सोने का ज़ेवर पहने रहते हैं। हाथों और पांवों की उंगलियों पर अंगूठियां पहनने का आम रिवाज है। स्त्रियां और बच्चे अक्सर सोने और चांदी के मोटे-मोटे कंगन और पायज़ेब पहनते थे और उनके घरों में सोने और चांदी की बनी

---

* "अहस्तक्षेप, बेरोक आज़ादी"—पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों का नारा, जो उन्मुक्त व्यापार में तथा इस बात में विश्वास करते थे कि आर्थिक मामलों में राज्य की ओर से कोई हस्तक्षेप न किया जाये।—सं०

देवताओं की छोटी-छोटी मूर्त्तियां रखी मिलती थीं। अंग्रेज़ विजेता ने आकर हिन्दुस्तान के करघे तो तोड़ा और चरखे को तवाह किया। इंगलैंड ने पहले हिन्दुस्तान के वने सूती कपड़े को यूरोप के वाज़ार से वाहर निकाला, फिर हिन्दुस्तान में अपना सूत भेजा और अन्त में सूती कपड़ों की उस जन्मभूमि को अपने सूती कपड़ों से पाट दिया। सन् १८१८ और १८३६ के बीच ग्रेट ब्रिटेन से हिन्दुस्तान भेजे जानेवाले सूत का परिमाण ५,२०० गुना बढ़ गया। १८२४ में अंग्रेज़ी मलमल का हिन्दुस्तान को निर्यात ज़्यादा से ज़्यादा दस लाख गज़ रहा होगा, पर १८३७ में वह बढ़कर ६ करोड़ ४० लाख गज़ से भी ज़्यादा हो गया। साथ ही ढाका की आबादी १,५०,००० से कम होकर २०,००० रह गयी। पर ब्रिटिश शासन का सबसे बुरा परिणाम यही नहीं था कि हिन्दुस्तान के ऐसे नगर, जो कपड़े के उद्योग के लिए प्रसिद्ध थे, तवाह हो गये। ब्रिटिश भाप और ब्रिटिश विज्ञान ने हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक कृषि-उत्पादन तथा हस्त-उद्योग के समागम को जड़ से उखाड़ फेंका।

एक तरफ़ हिन्दुस्तानियों ने सभी पूर्वीय लोगों की तरह वड़े-वड़े सार्वजनिक निर्माण-कार्य, जिनपर उनकी कृषि और व्यापार मुख्यतया निर्भर थे, केन्द्रीय सरकार की देख-रेख में छोड़ रखे थे, और दूसरी तरफ़ वे सारे देश में विखरे हुए, कृषि और हस्त-उद्योग की घरेलू एकता के कारण छोटे-छोटे केन्द्रों में समुदायबद्ध थे। इन दो परिस्थितियों के कारण एक विशेष सामाजिक ढांचा, जिसे हम **ग्राम-व्यवस्था** कह सकते हैं, अतिप्राचीन काल से चला आ रहा था। यह व्यवस्था प्रत्येक एकतावद्ध समुदाय को स्वतंत्र संगठन तथा विशिष्ट जीवन प्रदान करती थी। इस पद्धति की विशेषता का परिचय हमें निम्नलिखित वर्णन से मिल सकता है जो भारत के मामलों पर ब्रिटिश हाउस ऑफ़ कामन्स की एक पुरानी सरकारी रिपोर्ट में पाया जाता है:

"भौगोलिक दृष्टि से गांव ज़मीन का एक टुकड़ा है, जिसमें कुछ सौ या हज़ार एकड़ कृषियोग्य और बंजर भूमि शामिल होती है; राजनीतिक दृष्टि से वह कार्पोरेशन या नगर-समुदाय से मिलता-जुलता है। नियमत: उसका प्रबन्ध निम्नलिखित अधिकारी तथा सेवक करते हैं: **पटेल** या मुखिया, जो सामान्यतया गांव के मामलों की देख-रेख करता है, गांववालों के झगड़ों का निबटारा करता है, पुलिस का काम

करता है और गांव के अन्दर मालगुज़ारी वसूल करता है; इस काम के लिए वह अपने निजी प्रभाव के कारण तथा स्थिति की व लोगों के मामलों की गहरी जानकारी रखने के कारण सबसे उपयुक्त होता है; **कर्णम**, जो खेतीवारी का हिसाब-किताब रखता है और खेती सम्बन्धी सारी बातें अपने काग़ज़ों में दर्ज करता है; **तलयारी और तोटी** में से पहला जुर्मों तथा अपराधों की ख़बरें हासिल करता है, एक गांव से दूसरे गांव जानेवाले लोगों के साथ जाता है और उनकी हिफ़ाज़त करता है; दूसरे का काम गांव के अन्दर अधिक रहता है, अन्य कामों के साथ उसका एक काम फ़सल की हिफ़ाज़त करना तथा उसकी पैमाइश करने में मदद देना होता है। **हद्दबन्दी करनेवाला** गांव की सीमाओं का ख़्याल रखता है और झगड़े के वक़्त उनके बारे में बयान देता है। तालाबों तथा जलस्रोतों का निरीक्षक खेती के लिए पानी बांट कर देता है। पुजारी ब्राह्मण गांव में पूजा-पाठ करवाता है। पाठशाला का पंडित गांव में बच्चों को रेत पर पढ़ना और लिखना सिखाता है। जन्त्रीवाला ब्राह्मण या ज्योतिषी, इत्यादि हैं। सामान्यतया गांव का प्रबन्ध इन अधिकारियों तथा सेवकों के हाथ में रहता है। पर देश के कुछ हिस्सों में ये सारे अधिकारी तथा सेवक नहीं होते और ऊपर लिखे कामों तथा ज़िम्मेदारियों में से कई एक को एक ही आदमी निभाता है। और कई स्थानों में उनकी संख्या अधिक भी होती है। इस तरह की साधारण स्थानीय शासन-व्यवस्था के अधीन देश के निवासी अतिप्राचीन काल से रहते चले आ रहे हैं। गांवों की सीमाओं में बहुत ही कम बार तबदीली हुई है। यद्यपि गांवों को कभी-कभी लड़ाइयों, दुर्भिक्षों तथा महामारियों से हानि पहुंचती रही है, यहां तक कि वे उजड़े भी हैं, फिर भी सदियों से वे ही नाम, वे ही सीमाएं, वे ही हित, यहां तक कि वे ही परिवार चलते आ रहे हैं। राज्यों के विघटन तथा विभाजन से गांववासियों को कोई चिन्ता नहीं होती। जब तक गांव वैसे का वैसा बना रहे, उन्हें कोई परवाह नहीं कि वह किस शक्ति के हाथ में चला जाये या किस राजा के सुपुर्द हो, क्योंकि गांव की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में कोई तबदीली नहीं आती थी। पटेल अभी भी मुखिया बना हुआ है। वह अभी भी छोटे-छोटे मुक़द्दमों के फ़ैसले करता है और गांव की मालगुज़ारी वसूल करता है या लगान लेता है।"

सामाजिक व्यवस्था के ये छोटे-छोटे एक जैसे रूप अब बहुत हद तक मिट चुके हैं और उनका लोप हो रहा है। ऐसा ब्रिटिश कराधिकारियों तथा ब्रिटिश सैनिकों के क्रूर हस्तक्षेप के कारण उतना नहीं हो रहा है, जितना

कि ब्रिटिश भाप-मशीनों के कारण और ब्रिटिश स्वतन्त्र व्यापार के कारण। उन कुटुम्ब-समुदायों का आधार था घरेलू उद्योग—हाथ की बुनाई, हाथ की कताई तथा हाथ की जुताई वाली खेती का विचित्र सम्मिलन—जिससे उन्हें अपने पांवों पर खड़े रहने की शक्ति मिलती थी। अंग्रेज़ों की दस्तन्दाज़ी ने सूत कातनेवाले को लंकाशायर में और बुनकर को बंगाल में बैठाकर, या भारतीय बुनकर और भारतीय सूत कातनेवाले दोनों का सफ़ाया करके उन छोटे-छोटे अर्द्ध-बर्बर तथा अर्द्ध-सभ्य समुदायों को, उनका आर्थिक आधार तोड़कर, मिटा दिया और इस प्रकार एशिया में सबसे बड़ी और सच कहें तो एकमात्र सामाजिक क्रान्ति पैदा कर दी।

अब यह बात मानव-भावना के लिए क्लेशकर अवश्य है कि इन असंख्य उद्योगशील, पितृसत्तात्मक तथा निरीह सामाजिक संगठनों को तोड़ा गया और उनकी इकाइयों में उनका विघटन किया गया, उन्हें दुःख के अथाह सागर में डाल दिया गया और उनका हर सदस्य अपनी प्राचीन सभ्यता तथा अपने परम्परागत जीविका के साधनों को खो बैठा। फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ऊपर से सुन्दर और निरीह दिखानेवाले ये ग्राम-समुदाय पूर्वीय देशों में सदैव तानाशाही के दृढ़ आधार रहे हैं। उन्होंने मानव मस्तिष्क को तंग से तंग दायरे में सीमित रखा, जिससे कि अपनी सारी महानता तथा ऐतिहासिक ओज से वंचित, वह केवल अन्धविश्वासों का मूक वाहन और परम्परा के नियमों का दास मात्र रह गया। हमें इस समुदाय की बर्बर स्वार्थपरता को भी हरगिज़ नहीं भूलना चाहिए—वह भूमि के एक तुच्छ टुकड़े के साथ चिपटा हुआ, चुपचाप साम्राज्यों की तबाही देखता रहा, अकथनीय ज़ुल्म होते देखता रहा, बड़े-बड़े नगरों की सारी आबादी का क़त्ले-आम भी देखता रहा, इस तरह जैसे प्राकृतिक घटनाएं देख रहा हो, और जो स्वयं इतना लाचार था कि जिस किसी आक्रमणकारी की नज़र में वह पड़ गया उसका निःसहाय भाव से शिकार हो गया। हमें यह भी हरगिज़ नहीं भूलना चाहिए कि दूसरी ओर, इसके विपरीत, इसी गौरवहीन, गतिहीन, एकरस जीवन ने, इसी निष्क्रिय अस्तित्व ने, विनाश की विवेकहीन, लक्ष्यहीन और उच्छृंखल शक्तियों को जगाया, यहां तक कि मनुष्य की हत्या को भी हिन्दुस्तान में धार्मिक कृत्य बना दिया। हमें यह हरगिज़ न भूलना चाहिए कि इन छोटे-छोटे समुदायों को जात-पांत के भेदभाव तथा दासता ने दूषित कर दिया था। उन्होंने मनुष्य को परिस्थितियों का स्वामी बनाने के बजाय

बाहरी परिस्थितियों का दास बना दिया था, स्वत: विकासमान सामाजिक अवस्था को कभी न बदलनेवाली प्राकृतिक नियति में परिणत कर दिया था और इस तरह पशुवृत्ति पोषक प्रकृति-पूजा शुरू करवा दी थी, जिसका पतित स्वरूप इतने से ही स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति का स्वामी मनुष्य घुटने टेककर बन्दर (हनुमान) और गाय (शबला) की पूजा करने लगा।

यह सत्य है कि हिन्दुस्तान में सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न करने में इंगलैंड निकृष्टतम स्वार्थों से प्रेरित हुआ था और जिस ढंग से उसने उन स्वार्थों की सिद्धि की थी वह मूर्खतापूर्ण था। पर सवाल यह नहीं है। सवाल यह है कि क्या मानव-जाति एशिया की सामाजिक व्यवस्था में मौलिक क्रान्ति हुए बिना अपने प्रारब्ध की पूर्त्ति कर सकती है? यदि नहीं, तो इंगलैंड ने जो भी अपराध किये हों, इस क्रान्ति को लाने में वह अनजाने में ही इतिहास का हथियार बन गया। तब, एक प्राचीन संसार के लड़खड़ाकर गिरने का दृश्य हमारी निजी भावनाओं के लिए चाहे जितना भी कटु क्यों न हो, इतिहास की दृष्टि से गेटे के शब्दों में हमें यह कहने का अधिकार है:

«Sollte diese Qual uns quälen
Da sie unsre Lust vermehrt,
Hat nicht Myriaden Seelen
Timur's Herrschaft aufgezehrt?» *

१० जून १८५३ को लिखित।
«*New-York Daily Tribune*» में
२५ जून १८५३ को
प्रकाशित।
हस्ताक्षर: कार्ल मार्क्स

समाचारपत्र के
मूलपाठ के
अनुसार मुद्रित।
अंग्रेज़ी से अनूदित।

---

* "तो क्या हम इस ज़ुल्म से दु:खी हों जब कि यह हमारे लिए नयी ख़ुशियां ला रहा है? क्या तैमूर के शासन में अनगिनत प्राणी मौत के घाट नहीं उतारे गये थे?" ('पश्चिम-पूर्व के दीवान' कविता-माला की 'ज़ुलैख़ा को' कविता से उद्धृत।) —सं०

कार्ल मार्क्स

भारत में ब्रिटिश राज के भावी परिणाम

लन्दन, शुक्रवार, २२ जुलाई, १८५३

...भारत में ब्रिटिश आधिपत्य क्योंकर क़ायम हुआ? मुग़ल महान् की सर्वोच्च सत्ता को मुग़ल सूबेदारों ने तोड़ा, सूबेदारों की ताक़त को मराठों ने तोड़ा, मराठों की ताक़त को अफ़ग़ानों ने; और जिस समय सब एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे, उस समय अंग्रेज़ घुस आये और उन सब पर अधिकार क़ायम करने में सफल हो गये। देश न केवल हिन्दुओं और मुसलमानों में, वल्कि क़बीलों और जातों में भी बंटा हुआ था। इस समाज का ढांचा एक ऐसे सन्तुलन पर टिका हुआ था जो इसके सभी सदस्यों के परस्पर विकर्षण तथा स्वभावगत पृथक्ता से पैदा हुआ था। ऐसे देश और ऐसे समाज का किसी दूसरे विजेता का शिकार हो जाना क्या अवश्यम्भावी नहीं था? यदि हमें हिन्दुस्तान का पिछला इतिहास कुछ भी न मालूम हो, तो भी क्या यह निर्विवाद सत्य हमारे लिए काफ़ी नहीं है कि आज भी, इस वक़्त भी, अंग्रेज़ भारत को भारतीय फ़ौज द्वारा ग़ुलाम बनाये हुए हैं, जिसका ख़र्चा भारत देता है? इस तरह, भारत विजित होने की भवितव्यता से नहीं बच सकता था, और उसका पिछला सारा इतिहास यदि कुछ बताता है तो यही कि उसपर किस तरह एक के बाद दूसरे विजेता ने अपना आधिपत्य जमाया। भारतीय समाज का कोई इतिहास नहीं, कम से कम कोई जाना हुआ इतिहास नहीं। जिसे हम उसका इतिहास कहते हैं, वह वास्तव में उन विजेताओं का इतिहास है, जिन्होंने एक के बाद एक उस अपरिवर्तनशील और प्रतिकारशून्य समाज की निष्क्रियता के आधार पर अपने साम्राज्य खड़े किये। इसलिए सवाल यह नहीं है कि अंग्रेज़ों को भारत पर प्रभुत्व क़ायम करने का अधिकार था

या नहीं; सवाल यह है कि हम भारत पर किसके प्रभुत्व को तरजीह देंगे—तुर्क के, फ़ारसी के, रूसी के या अंग्रेज़ के।

इंगलैंड को भारत में दोहरे ध्येय की पूर्त्ति करनी है: एक विनाशकारी, दूसरा सृजनात्मक—पुराने एशियाई समाज को तोड़ना और पश्चिमी समाज के भौतिक आधार को एशिया में स्थापित करना।

अरब, तुर्क, तातार और मुग़ल, जो एक के वाद एक भारत पर अपना आधिपत्य जमाते रहे, शीघ्र ही **भारतीय बन गये**। इतिहास के शाश्वत नियम के अनुसार, बर्बर विजेताओं पर उनकी प्रजा की उच्चतर सभ्यता विजय प्राप्त करती रही। अंग्रेज़ पहले विजेता थे, जिनकी सभ्यता अधिक ऊंची थी, इसलिए वे भारतीय सभ्यता की पकड़ से वाहर थे। उन्होंने देशी समुदायों को छिन्न-भिन्न करके, देशी उद्योग को जड़ से उखाड़कर और वहां के समाज में जो कुछ भी उन्नत तथा श्रेष्ठ था उसे नष्ट करके भारतीय सभ्यता का नाश किया। भारत में अंग्रेज़ों के राज का इतिहास केवल नाश की ही कहानी है; खण्डहरों के ढेर में से उनका रचनात्मक काम शायद ही दिखाई पड़ता है। फिर भी इस काम का आरम्भ हो चुका है।

भारत की राजनीतिक एकता, जो महान् मुग़लों के ज़माने में कभी भी इतनी दृढ़ या विस्तृत न थी, भारत के पुनरुद्धार की पहली शर्त थी। इस एकता को, जिसे अंग्रेज़ों ने अपनी तलवार के ज़ोर से क़ायम किया, अव विजली का तार और भी अधिक दृढ़ करेगा तथा स्थायित्व प्रदान करेगा। अंग्रेज़ ड्रिल-सार्जेंट द्वारा संगठित तथा प्रशिक्षित भारतीय सेना भारत के अपने प्रयत्नों से मुक्ति प्राप्त करने और फिर कभी किसी हमलावर का शिकार न वनने की sine qua non* थी। भारतीय समाज के पुनर्निर्माण का एक नया और सशक्त साधन आज़ाद अख़वार हैं, जिनसे एशियाई समाज पहली बार परिचित हो पाया है और जिनका संचालन मुख्यतया भारतीयों और यूरोपियनों के समान वंशज कर रहे हैं। ज़मींदारी और रैयतवारी की पद्धतियां, अपने में घृणित होते हुए भी, निजी भू-स्वामित्व के दो भिन्न-भिन्न रूप हैं, और एशियाई समाज में इसी निजी भू-स्वामित्व की कमी है। उन भारतीयों में से, जिन्हें कलकत्ते में अंग्रेज़ों के निरीक्षण में अनिच्छापूर्वक और कम से कम संख्या में शिक्षा दी जा रही है, एक नया वर्ग सामने आ रहा है, जो शासन-

---

*conditio sine qua non—अनिवार्य शर्त।—सं०

योग्यता रखता है और यूरोप के विज्ञान से प्रभावित है। भाप द्वारा भारत तथा यूरोप के बीच नियमित और द्रुत यातायात होने लगा है, भारत के मुख्य बन्दरगाहों का दक्षिण और पूर्व के सागरों के तमाम बन्दरगाहों के साथ सम्बन्ध स्थापित हो गया है और इस तरह भारत की पृथक्ता, जो उसकी गतिहीनता का मुख्य कारण थी, ख़त्म हो गई है। वह दिन दूर नहीं, जब रेलों और भाप से चलनेवाले जहाज़ों के सम्मिलित साधन से इंगलैंड और भारत के बीच की दूरी समय के लिहाज़ से कम होकर आठ दिन की रह जायेगी और जब यह देश, जो कभी पुराण-कथाओं का विचित्र देश-सा लगता था, सचमुच पश्चिमी संसार से जा मिलेगा।

भारत की उन्नति में ग्रेट ब्रिटेन के शासक वर्गों की दिलचस्पी अभी तक केवल सांयोगिक, क्षणजीवी तथा अपवाद-स्वरूप रही है। अभिजात वर्ग भारत को जीतना चाहता था, थैलीशाह उसे लूटना चाहते थे, और उद्योगपति अपने सस्ते माल से उसके बाज़ारों को पाट देना चाहते थे। पर अब स्थिति एकदम उलट गयी है। उद्योगपतियों को अब पता चल गया है कि भारत को उत्पादक देश में परिवर्तित करना उनके लिए अत्यावश्यक है और इसके लिए सबसे ज़रूरी यह है कि देश में सिंचाई तथा यातायात के साधनों की व्यवस्था की जाये। अब उनका इरादा भारत भर में रेलों का जाल बिछा देने का है। वे ऐसा करेंगे भी, जिसके परिणाम अवश्य ही बहुमूल्य होंगे।

यह ज्ञात है कि भारत की उत्पादक शक्तियां इसलिए नितान्त अवरुद्ध हैं कि उसकी विभिन्न उपजों को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने और उसकी अदला-बदली करने के लिए यातायात-साधनों का पूर्ण रूप से अभाव है। विनिमय के साधनों के अभाव के कारण प्रकृति की अपार देन होते हुए भी जितना सामाजिक दारिद्र्य भारत में है, उतना और कहीं भी नहीं है। १८४८ में ब्रिटिश हाउस ऑफ़ कामन्स की समिति में यह प्रमाणित किया गया कि

> "जब खानदेश में अनाज ६ से ८ शिलिंग तक फ़ी क्वार्टर बिक रहा था, तब उसका भाव पूना में ६४ से ७० शिलिंग तक फ़ी क्वार्टर था। वहां लोग दुर्भिक्ष के कारण सड़कों पर मर रहे थे, और खानदेश से अनाज को लाना असम्भव था क्योंकि कच्ची सड़कें अगम्य थीं।"

रेलों से कृषि को भी आसानी से सहायता पहुंचायी जा सकती है: जहां रेल-बांध बनाने के लिए मिट्टी खोदने की ज़रूरत हो वहां तालाब बनाये जा

सकते हैं, और पानी रेल के किनारे-किनारे अलग-अलग स्थानों तक ले जाया जा सकता है। इस तरह सिंचाई को, जो पूर्वी देशों में खेती की sine qua non है, अधिक विस्तृत किया जा सकता है और स्थानीय दुर्भिक्ष, जो पानी न मिलने से बार-बार होते हैं, रोके जा सकते हैं। इस विषय में रेलों का व्यापक महत्त्व और भी स्पष्ट हो जायेगा, जब हम देखेंगे कि घाटों के निकटवर्त्ती ज़िलों में भी सिंचाई वाली ज़मीनों से उन ज़मीनों की तुलना में, जहां सिंचाई नहीं है, तीन गुना अधिक कर प्राप्त होता है, दस या बारह गुना अधिक रोज़गार निकलता है और बारह या पन्द्रह गुना अधिक मुनाफ़ा होता है।

रेलों से फ़ौजी छावनियों की संख्या को और उनके ख़र्चे को कम करने का साधन प्राप्त हो जायेगा। फ़ोर्ट सेंट-विलियम के टाउन-मेजर कर्नल वारेन ने हाउस ऑफ़ कामन्स की विशेष समिति के सामने बयान दिया कि

> "देश के दूरवर्त्ती इलाक़ों से सूचनाएं पहुंचने में आजकल जितने दिन या हफ़्ते लग जाते हैं, भविष्य में उतने ही घण्टों में समाचार मिल सकने तथा निर्देश, सैनिक तथा सामान भी उतनी ही जल्दी भेज सकने की सम्भावना बहुमूल्य है। फ़ौजों को दूर-दूर और अधिक स्वस्थ स्थानों पर रखा जा सकेगा, और इस तरह बहुत-से आदमियों को, जो अब बीमारी के कारण मर जाते हैं, बचाया जा सकेगा। अलग-अलग गोदामों में इतनी अधिक रसद रखने की भी जरूरत न रहेगी और इस तरह जो नुक़सान चीज़ों के सड़-गल जाने या आबोहवा के कारण होता है, वह बन्द हो जायेगा। फ़ौजें जिस अनुपात में अधिक कारगर हो जायेंगी उसी अनुपात में उनकी संख्या को भी कम किया जा सकेगा।"

हम जानते हैं कि ग्राम-समुदायों के स्वशासन-संगठन और आर्थिक आधार तोड़ दिये गये हैं। पर उनका सबसे निकृष्ट पहलू—समाज का अनेक असम्बद्ध, छोटी-छोटी, एक-सी इकाइयों में बिखरे रहना—आज भी, जब उनकी प्राणशक्ति नष्ट हो गयी है, क़ायम है। भारत में चूंकि गांवों का आपस में सम्बन्ध न था, इसलिए सड़कें न थीं, और चूंकि सड़कें न थीं, इसलिए यह अलगाव स्थायी हो गया। इन परिस्थितियों में एक ग्राम-समुदाय सुविधाओं के एक निश्चित निम्न-स्तर पर जीता था, दूसरे गांवों के साथ उसका सम्पर्क नहीं के बराबर होता था और उसमें उन इच्छाओं तथा प्रयासों

का निपट अभाव था, जो सामाजिक उन्नति के लिए अनिवार्य होते हैं। अब, जब अंग्रेज़ों ने ग्राम-समुदायों की इस आत्मनिर्भर गतिहीनता को नष्ट कर दिया है, रेलें संचार तथा संसर्ग के अभाव की पूर्त्ति करेंगी। इसके अलावा

> "रेल-व्यवस्था का एक परिणाम यह भी होगा कि जो गांव रेलों के प्रभाव-क्षेत्र में आयेगा, वहां के लोगों को अन्य देशों के ऐसे आविष्कारों तथा मशीनों की भी जानकारी होगी और उन्हें प्राप्त करने के ऐसे साधन भी समझ में आयेंगे जिनसे सबसे पहले भारत के पुश्तैनी और वृत्ति-भोगी ग्रामीण दस्तकारों की योग्यता परखी जायेगी और उसके बाद उनकी त्रुटियों को दूर करने का रास्ता मालूम होगा।" (**चैपमैन**, 'भारतीय कपास तथा व्यापार'।)

मैं जानता हूं कि अंग्रेज़ उद्योगपति केवल इसलिए भारत में रेलें बिछाना चाहते हैं कि वे रूई और अन्य कच्चा माल अपने कारख़ानों के लिए कम ख़र्च पर प्राप्त कर सकें। मगर जिस देश में लोहा और कोयला पाये जाते हों, उसके यातायात के साधनों में जब आप एक बार मशीनों को ले आयेंगे तो उसे ख़ुद मशीनें बनाने से आप नहीं रोक सकेंगे। यह नहीं हो सकता कि आप एक विशाल देश में रेलों का जाल बिछाये रहें और उन औद्योगिक प्रक्रियाओं को वहां शुरू न होने दें, जिनके बिना रेलों की तात्कालिक ज़रूरतों को पूरा नहीं किया जा सकता और जिनके परिणामस्वरूप मशीनों का प्रयोग उन उद्योगों में भी शुरू हो जाएगा जिनका रेलों के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसलिए रेल-व्यवस्था भारत में आधुनिक उद्योग की जननी बनेगी। यह इसलिए और भी निश्चित है कि अंग्रेज़ अधिकारी स्वयं मानते हैं कि भारतीयों में अपने को बिलकुल नए ढंग के काम के अनुकूल ढाल लेने और मशीनों को चलाने के लिए आवश्यक जानकारी हासिल कर लेने की विशेष योग्यता होती है। इसका अच्छा-ख़ासा सबूत इसी बात से मिल जाता है कि कलकत्ते की टकसाल में काम करनेवाले भारतीय मैकेनिक, जो वहां बरसों से भाप की मशीनों पर काम कर रहे हैं, अपने काम में दक्ष और चतुर हैं। इसी तरह वे भारतीय भी हैं, जो हरिद्वार के कोयले के इलाक़ों में भाप के इंजनों पर काम कर रहे हैं। ऐसे ही अन्य कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पूर्वाग्रहों से अत्यन्त प्रभावित होते हुए भी मिस्टर कैम्पबेल स्वयं यह मानने को मजबूर हैं कि

"भारत की अधिकांश जनता में महान औद्योगिक शक्ति है, पूंजी इकट्ठा करने की क्षमता है, गणित के लिए उसका मस्तिष्क विलक्षण रूप से साफ़ है और सांख्यिकी तथा तथ्य-विज्ञानों के लिए उसमें मेधा है।" कैम्पवेल आगे कहते हैं, "उनकी बुद्धि वहुत अच्छी है।"

रेल-व्यवस्था से उत्पन्न होकर आधुनिक उद्योग पुश्तैनी श्रम-विभाजन को ख़त्म कर देगा, जिसपर भारत की जात-पांत व्यवस्था खड़ी है और जो भारत की उन्नति तथा शक्ति के रास्ते में सवसे बड़ी रुकावट है।

अंग्रेज़ पूंजीपति वर्ग वहां चाहे जो कुछ भी करने पर मजबूर हो, उससे वहां की आम जनता को न तो आज़ादी मिल पायेगी, न उसकी सामाजिक स्थिति में वास्तविक सुधार होगा क्योंकि यह सब न केवल उत्पादक शक्तियों के विकास पर, वल्कि उनके जनता के हाथ में आ जाने पर भी निर्भर करता है। परंतु यह वर्ग इन दोनों वातों को पूरा करने के लिए भौतिक आधार प्रस्तुत किये विना नहीं रह सकता। क्या कभी भी पूंजीपति वर्ग ने इससे अधिक कुछ किया है? क्या कभी उसने व्यक्तियों और जातियों को ख़ून और गन्दगी, मुसीवत और ज़िल्लत के बीच से घसीटे विना प्रगति सम्पन्न की है?

भारत के लोग समाज के उन नये तत्त्वों से, जिन्हें व्रिटिश पूंजीपति वर्ग ने उनके बीच विखेरा है, तव तक कोई लाभ नहीं उठा सकेंगे, जव तक कि ख़ुद व्रिटेन में औद्योगिक सर्वहारा आज के शासक वर्ग की जगह न ले ले, या जव तक कि भारतीय लोग स्वयं इतने मज़वूत न हो जायें कि अंग्रेज़ों के जुए को विलकुल उतार फेंकें। कुछ भी हो, हम आश्वस्त भाव से यह आशा कर सकते हैं कि भविष्य में, कुछ कम या ज़्यादा लंवे अरसे के बाद, उस महान् और दिलचस्प देश का पुनरुत्थान होगा, जिस देश के सुशील लोग, प्रिन्स साल्तिकोव के शब्दों में, सवसे निचले वर्गों में भी «sont plus fins et plus adroits que les italiens»* होते हैं, जिनकी पराधीनता में भी एक विशेष शान्त औदार्य होती है और जो अपनी स्वाभाविक सुस्ती के बावजूद अंग्रेज़ अफ़सरों को अपनी बहादुरी से चकित कर चुके हैं, जिनका देश हमारी भाषाओं और हमारे धर्मों का स्रोत रहा है और जिसके जाट प्राचीन जर्मनों के प्रतिरूप जान पड़ते हैं, और व्राह्मण प्राचीन यूनानियों के।

---

* "वे इटालियों से भी ज़्यादा पैनी बुद्धि वाले और कुशल हैं।" – सं०

भारत के विषय पर लिखना समाप्त करने से पहले मैं अन्त में कुछ और बातें कहे बिना नहीं रह सकता।

हमारी आंखों के सामने पूंजीवादी सभ्यता का वह घोर पाखण्ड और स्वभावगत बर्बरता निरावरण होकर आ गयी है, जो अपने देश में भद्रता की चादर ओढ़े रहती है और उपनिवेशों में नंगी घूमती है। अंग्रेज़ पूंजीपति निजी सम्पत्ति के रक्षक हैं, पर क्या किसी क्रान्तिकारी पार्टी द्वारा कभी ऐसी भूमि सम्बन्धी क्रान्तियों का उद्‌भव हुआ है जैसी कि हम बंगाल, मद्रास और बम्बई में देखते हैं? क्या यह सच नहीं है कि जब साधारण भ्रष्टाचार से उनकी स्वार्थ-लिप्सा संतुष्ट न हुई, तब उन्होंने भारत में, स्वयं उस कुख्यात लुटेरे लार्ड क्लाइव के शब्दों में, बड़ी क्रूरता के साथ लूट-खसोट शुरू कर दी? जहां यूरोप में वे राष्ट्रीय ऋण की पवित्रता का ढोल पीटते थे, वहां क्या वे भारत में उन राजाओं के लाभांशों को ज़ब्त नहीं करते रहे जिन्होंने अपनी निजी बचत का रुपया स्वयं कम्पनी के शेयरों में लगाया था? जहां उन्होंने फ़्रांस की क्रान्ति का विरोध "अपने पवित्र धर्म" की रक्षा के बहाने किया, वहां क्या उन्होंने उसी समय भारत मे ईसाइयत के प्रचार की मनाही नहीं कर दी? और क्या उन्होंने उन यात्रियों से, जो उड़ीसा और बंगाल के मन्दिरों में जाते थे, पैसा ऐंठने की ख़ातिर उसी हत्या और वेश्यावृत्ति के व्यापार को नहीं अपनाया जो जगन्नाथ के मन्दिर में चल रहा था? ये लोग हैं जो अपने आपको "सम्पत्ति, व्यवस्था, परिवार तथा धर्म" के रक्षक बतलाते हैं!

भारत में, जो यूरोप जैसा विशाल है और जिसमें १५ करोड़ एकड़ भूमि है, ब्रिटिश उद्योग के जो विनाशकारी परिणाम हुए हैं, वे स्पष्ट और भयानक हैं। पर हमें यह न भूलना चाहिये कि वे वर्तमान उत्पादन पद्धति के मात्र स्वाभाविक परिणाम्म हैं। यह उत्पादन पद्धति पूंजी की सर्वोच्च सत्ता पर आधारित है। पूंजी के स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए पूंजी का केन्द्रीकरण लाज़िमी है। इस केन्द्रीकरण का जो विनाशकारी प्रभाव दुनिया के बाज़ारों पर पड़ा है, उससे राजनीतिक अर्थशास्त्र के उन अन्तर्भूत, भीतरी नियमों का भीमाकार रूप नज़र आता है, जो आजकल हर सभ्य शहर में काम कर रहे हैं। इतिहास के पूंजीवादी युग को नयी दुनिया का भौतिक आधार तैयार करना है। इसके लिए उसे एक ओर तो मानव-जाति की पारस्परिक निर्भरता के आधार पर संसारव्यापी संसर्ग और उसके साधन स्थापित करने हैं, और

दूसरी ओर इनसान की उत्पादक शक्तियों को बढ़ाना और भौतिक उत्पादन को प्राकृतिक शक्तियों पर विज्ञान के अधिकार में रूपान्तरित करना है। पूंजीवादी उद्योग तथा व्यापार नयी दुनिया की इन भौतिक परिस्थितियों को उसी तरह तैयार करते हैं जिस तरह भूतत्वीय क्रान्तियों ने पृथ्वी की सतह को तैयार किया है। जब एक महान् सामाजिक क्रान्ति पूंजीवादी युग के परिणामों पर, विश्व-बाज़ार और उत्पादन की आधुनिक शक्तियों पर अपना अधिकार जमा लेगी और उन्हें सबसे अधिक उन्नत राष्ट्रों के सम्मिलित नियंत्रण के अधीन कर लेगी, केवल उसी समय मानव-प्रगति का रूप प्राचीन मूर्त्तिपूजकों की उस भयानक देव-मूर्त्ति के रूप जैसा नहीं होगा जो बलि चढ़े मनुष्यों की खोपड़ियों से ही अमृत पीता था।

२२ जुलाई १८५३ को लिखित।
«New-York Daily Tribune»,
अंक ३८४०, में ८ अगस्त
१८५३ को प्रकाशित।
हस्ताक्षर: कार्ल मार्क्स

समाचारपत्र के मूलपाठ के
अनुसार मुद्रित।
अंग्रेज़ी से अनूदित।

टिप्पणियां

1 'फ़ायरबाख़ पर निबन्ध'—कार्ल मार्क्स ने यह निवन्ध ब्रसेल्स में १८४५ के वसंत में लिखा था, जब उन्होंने अपने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत की तथा मानव-समाज के विश्लेषण में भौतिकवाद के संप्रयोग की मुख्य रूप-रेखा निश्चित कर ली थी। एंगेल्स के शब्दों में यह निवन्ध "प्रथम दस्तावेज़ है जिसमें नये विश्व-दृष्टिकोण के भव्य बीजाणु एकत्रित हैं"। (प्रस्तुत संकलन, भाग ४, 'लुडविग फ़ायरबाख़', भूमिका।)

इस निवन्ध में मार्क्स ने फ़ायरबाख़ के भौतिकवाद तथा पूर्वतर भौतिकवाद की मुख्य त्रुटि की ओर, अर्थात् उसके परिकल्पी चरित्र तथा यह समझने में उसकी असमर्थता की ओर निर्देश किया कि मानव-क्रिया क्रांतिकारी तथा "व्यवहार्यतः आलोचनात्मक" होती है। मार्क्स ने संसार का संज्ञान अर्जित करने में तथा उसे बदलने में क्रांतिकारी अमल की निर्णायक भूमिका पर वल दिया।—पृ० ३३

2 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र'—यह घोषणापत्र वैज्ञानिक कम्युनिज़्म की पहली नीति संबंधी दस्तावेज़ है, जिसमें मार्क्स तथा एंगेल्स की महान् शिक्षा के मूलभूत सिद्धांतों की सांगोपांग तथा सुव्यवस्थित विवेचना की गयी है। "इस रचना में प्रतिभाशाली स्पष्टता और भव्यता के साथ एक नया विश्व-दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है: सुसंगत भौतिकवाद जिसके दायरे में सामाजिक जीवन का क्षेत्र भी आ जाता है; विकास के सर्वांगीण और गहनतम सिद्धान्त के रूप में द्वंद्ववाद; वर्ग-संघर्ष का और एक नये, कम्युनिस्ट समाज के सृजनकर्त्ता, सर्वहारा वर्ग की विश्व-ऐतिहासिक क्रांतिकारी भूमिका का सिद्धान्त।" (ब्ला० इ० लेनिन। प्रस्तुत खंड, पृ० ११–१२)।

'कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र' ने सर्वहारा को पूंजीवाद के विनाश तथा सर्वहारा क्रांति की विजय की अनिवार्यता का प्रमाण प्रस्तुत कर एक अमोघ अस्त्र प्रदान किया तथा क्रांतिकारी सर्वहारा आंदोलन के कार्यभारों तथा लक्ष्यों को भी निश्चित किया। – पृ० ३७

[3] **कम्युनिस्ट लीग** – मार्क्स तथा एंगेल्स द्वारा संस्थापित सर्वहारा वर्ग का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन, जो १८४७ से १८५२ तक चलता रहा। इस संबंध में देखिए फ़्रेडरिक एंगेल्स का लेख 'कम्युनिस्ट लीग के इतिहास के विषय में' (प्रस्तुत संकलन, भाग ३)। – पृ० ३७

[4] यहां इशारा फ़्रांस में १८४८ की फ़रवरी क्रांति की ओर है। – पृ० ३७

[5] «*The Red Republican*» – चार्टिस्ट दल का एक साप्ताहिक, जो लन्दन में जून से नवंबर १८५० तक जार्ज जूलियन हार्नें द्वारा प्रकाशित किया जाता रहा। इसके २१ से २४ तक के अंकों में 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' संक्षिप्त रूप में नवंबर में प्रकाशित किया गया। – पृ० ३७

[6] यहां इशारा पेरिस के मज़दूरों के २३ – २६ जून, १८४८ के वीरत्वपूर्ण विद्रोह की ओर है जिसका फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग ने घोर पाशविकता के साथ दमन किया। यह विद्रोह सर्वहारा तथा पूंजीपति वर्ग के बीच पहला महान् गृह-युद्ध था। – पृ० ३७

[7] «*Le Socialiste*» ('समाजवादी') – अक्तूबर १८७१ से मई १८७३ तक न्यूयार्क से फ़्रांसीसी भाषा में प्रकाशित होनेवाला एक साप्ताहिक समाचार, जो इंटरनेशनल की उत्तर-अमरीकी शाखा की फ़्रांसीसी उपशाखाओं का मुखपत्र था; हेग कांग्रेस के वाद इस पत्र ने इंटरनेशनल से संबंध-विच्छेद कर लिया।

'कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र' के जिस फ़्रांसीसी अनुवाद की ओर मूलपाठ में संकेत है, वह इस साप्ताहिक में जनवरी १८७२ से मार्च १८७२ के बीच प्रकाशित हुआ था। – पृ० ३७

[8] **१८७१ का पेरिस कम्यून** – मज़दूर वर्ग की क्रांतिकारी सरकार, जो २८ मार्च १८७१ से २८ मई १८७१ तक सत्तारूढ़ रही। १८ मार्च, १८७१ की सर्वहारा क्रांति तथा इसके वाद के सर्वहारा अधिनायकत्व के काल की व्यंजना के लिए भी पेरिस कम्यून का व्यापक अर्थ में उपयोग किया जाता

है। 'फ़्रांस में गृह-युद्ध' में पेरिस कम्यून का इतिहास तथा उसकी सारभूत विशेषताओं का विश्लेषण किया गया है (प्रस्तुत संकलन, भाग २)। —पृ० ३८

[9] **कोलोन में कम्युनिस्टों पर मुक़द्दमा** (४ अक्तूबर १८५२ से १२ नवंबर १८५२) — प्रशा की सरकार द्वारा कम्युनिस्ट लीग के ११ सदस्यों पर चलाया गया झूठा मुक़द्दमा। जाली दस्तावेज़ों तथा झूठे सबूतों के आधार पर इनपर महा राज्यद्रोह का अभियोग लगाया गया, और हिरासत में लिए गये ग्यारह में से सात अभियुक्तों को तीन वर्ष से लेकर छः वर्ष तक के कठोर दुर्ग-कारावास का दंड दिया गया। मार्क्स और एंगेल्स ने अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन के ख़िलाफ़ प्रशियाई पुलिस राज्य के इस घृणित उकसावे की क़लई खोलकर रख दी। —पृ० ३९

[10] यहां इशारा पेरिस में १८४८ के जून विद्रोह की ओर है। —पृ० ४१

[11] यह प्रस्तावना एंगेल्स द्वारा १ मई १८९० को लिखी गयी थी, जिस दिन, दूसरे इंटरनेशनल की पेरिस कांग्रेस (जो जुलाई १८८९ में हुई थी) के फ़ैसले के मुताबिक़, यूरोप और अमरीका के कई देशों में जन-प्रदर्शन, हड़तालें और सभायें हुई थीं, जिनमें मज़दूरों ने आठ घंटे के काम के दिन की मांग और कांग्रेस द्वारा पेश की गयी दूसरी मांगों को उठाया था। उसी समय से पहली मई का दिन सभी देशों के मज़दूरों द्वारा सर्वहारा वर्ग की अंतर्राष्ट्रीय संहति के दिवस के रूप में प्रति वर्ष मनाया जाने लगा। —पृ० ४१

[12] यहां इशारा ११वीं—१३वीं शताब्दियों के उन सैनिक-उपनिवेशी अभियानों की ओर है जो पश्चिमी यूरोप के बड़े-बड़े सामंती प्रभुओं, नाइटों तथा इतालवी व्यापारियों ने पूर्व में इस धार्मिक उद्देश्य को लेकर चलाया था कि येरूशलम तथा दूसरे "तीर्थस्थानों" के पवित्र स्मारक मुसलमानों के हाथों से छीन लिए जायें। पूरी दुनिया पर हावी होने के लिए सचेष्ट कैथोलिक चर्च तथा पोप ने इन धर्मयुद्धों को प्रेरित किया और उचित ठहराया, जब कि उनके लिए मुख्य सैनिक बल नाइटों ने प्रस्तुत किया। सामंती जुए से छुटकारा पाने के लिए सचेष्ट किसानों ने भी इन धर्मयुद्धों में भाग लिया। धर्मयोद्धा जिन भी देशों से गुज़रे, उनकी मुसलमान तथा ईसाई, दोनों आबादियों को उन्होंने लूटा-मारा।

उनकी लूट की लिप्सा के शिकार सीरिया, फ़िलस्तीन, मिस्र तथा ट्यूनिसिया के मुस्लिम राज्य ही नहीं थे, बल्कि ईसाई मत को माननेवाला बज़नतीनी साम्राज्य भी था। लेकिन पूर्वी भूमध्य-सागर के क्षेत्र में उनकी जीतें टिकाऊ न हो सकीं, और मुसलमानों के हाथों से जो प्रदेश निकल गये थे वे शीघ्र ही फिर उनके हाथ में आ गये। —पृ० ४८

13 अपनी बाद की कृतियों में मार्क्स और एंगेल्स ने "श्रम का मूल्य" तथा "श्रम का दाम" की जगह मार्क्स द्वारा प्रस्तुत अधिक शुद्ध पदों—"श्रम-शक्ति का मूल्य" तथा "श्रम-शक्ति का दाम"—का प्रयोग किया (इस संबंध में देखिये मार्क्स की कृति 'मज़दूरी और पूंजी' की एंगेल्स द्वारा लिखी भूमिका; प्रस्तुत खंड, पृ० ८४–९४)। —पृ० ५३

14 यहां इशारा अठारहवीं सदी में हुई फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रांति की ओर है। —पृ० ६०

15 इशारा इंगलैंड में चुनाव-क़ानून में सुधार के लिए होनेवाले आंदोलन की ओर है। १८३१ में जनता के दबाव के कारण हाउस ऑफ़ कामन्स ने इस सुधार को स्वीकार कर लिया और अंततः जून १८३२ में हाउस ऑफ़ लार्ड्स ने उसका अनुमोदन किया। यह सुधार सामंती तथा वित्तीय महाप्रभुओं के एकच्छत्र शासन पर प्रहार करता था और उसने संसद का द्वार औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों के लिए उन्मुक्त कर दिया। परंतु सर्वहारा तथा निम्न-पूंजीपति वर्ग, जो सुधार आंदोलन की मुख्य शक्ति थे, उदार पूंजीपति वर्ग द्वारा ठगे गये, और निर्वाचन अधिकारों से वंचित ही रहे। —पृ० ६९

16 १६६०–१६८९ का पुनःस्थापन काल—इंगलैंड में १७ वीं शताब्दी की पूंजीवादी क्रांति द्वारा सत्ताच्युत स्टुअर्ट राजवंश के दोबारा शासन का काल (देखिये टिप्पणी १०६)।

१८१४–१८३० का पुनःस्थापन काल—फ़्रांस में बूर्बों राजवंश के दोबारा शासन का काल। १८३० में जुलाई क्रान्ति ने सामंतों तथा पादरियों के हितों का समर्थन करनेवाले बूर्बों राजवंश के प्रतिक्रियावादी शासन का तख़्ता उलट दिया। —पृ० ७०

17 लेजिटिमिस्ट (वैधतावादी)—१८३० में सत्ताच्युत "वैध" बूर्बों राजवंश के अनुयायी। यह राजवंश बड़े-बड़े ज़मींदारों के हितों का प्रतिनिधित्व

करता था; फिर भी कुछ लेजिटिमिस्ट वित्तीय महाप्रभुओं तथा वड़े पूंजीपतियों द्वारा समर्थित, सत्तारूढ़ आर्लियां राजवंश (१८३०–१८४८) के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष में लफ़्फ़ाज़ी और नारेबाज़ी करते थे और यह दिखाने की कोशिश करते थे कि वे श्रमिक जनता को पूंजीपति वर्ग के शोषण से बचाना चाहते हैं।–पृ० ७०

18 "तरुण इंगलैंड"–ब्रिटिश राजनीतिज्ञों तथा साहित्यकारों का एक दल, जिसकी स्थापना १९वीं शताब्दी के पांचवें दशक के आरंभ में की गयी थी। पूंजीपति वर्ग की बढ़ती हुई आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति के प्रति सामंती अभिजातीय वर्ग का असंतोष प्रगट करते हुए "तरुण इंगलैंड" दल के नेता मज़दूर वर्ग को अपने प्रभाव के अधीन करने तथा पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष में उसका एक साधन के रूप में इस्तेमाल करने के लिए वाक्छल तथा शब्दाडंबर का सहारा लेते थे।–पृ० ७०

19 **युंकर**–संकीर्ण अर्थ में पूर्वी प्रशा के वड़े ज़मींदार; व्यापक अर्थ में जर्मनी के ज़मींदारों का वर्ग।–पृ० ७१

20 यहां इशारा जर्मनी में १८४८–१८४९ की पूंजीवादी-जनवादी क्रांति की ओर है।–पृ० ७६

21 **येरूशलम**–फ़िलस्तीन का प्रसिद्ध नगर तथा तीर्थस्थान, जिसे ईसाई और यहूदी, दोनों पवित्र मानते हैं।

मसीही परंपरा के अनुसार **नये येरूशलम** से स्वर्ग लोक की व्यंजना होती है।–पृ० ७७

22 **चार्टिज़्म**–ब्रिटिश मज़दूरों का राजनीतिक आंदोलन, जो उनकी आर्थिक दुरवस्था तथा राजनीतिक अधिकारों के अभाव के कारण उत्पन्न हुआ और उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशक से लेकर छठे दशक के मध्य तक चला। जनता के चार्टर की मांगों की पूर्त्ति के लिए संघर्ष करो–यही इस आंदोलन का मूलमंत्र था। चार्टर में सर्वमताधिकार की मांग शामिल थी और उसमें कई उपबंध भी रखे गये थे जिनसे मज़दूरों के लिए इस अधिकार की ज़मानत होती थी। व्ला० इ० लेनिन के शब्दों में चार्टिज़्म "पहला व्यापक, राजनीतिक रूप से संगठित सच्चा सर्वहारा क्रांतिकारी जन-आंदोलन था"।–पृ० ८१

23 यहां इशारा उन निम्न-पूंजीवादी जनतंत्रवादी जनवादियों तथा निम्न-पूंजीवादी समाजवादियों की ओर है, जो फ़्रांसीसी समाचारपत्र, «*La Réforme*» ('सुधार') की नीति पर चलते थे। ये लोग जनतंत्र की स्थापना का तथा जनवादी और सामाजिक सुधारों का समर्थन करते थे।—पृ० ८१

24 «*La Réforme*» ('सुधार')—फ़्रांसीसी दैनिक, जो पेरिस में १८४३ से १८५० तक प्रकाशित होता रहा।—पृ० ८२

25 फ़रवरी १८४६ में सारे पोलिश प्रदेशों में राष्ट्रीय मुक्ति के हेतु विद्रोह के लिए तैयारियां की गयीं। पोलैंड के क्रांतिकारी जनवादी (देम्बोव्स्की आदि) इस विद्रोह के मुख्य प्रेरक और प्रोत्साहक थे। परंतु पोलिश अभिजात वर्ग के एक भाग द्वारा विश्वासघात तथा प्रशियाई पुलिस द्वारा विद्रोह के कर्णधारों की गिरफ़्तारी के कारण संगठित विद्रोह की जगह छिटफुट बलवे ही हो सके। केवल क्रैको में, जो १८१५ से आस्ट्रिया, रूस और प्रशा के सम्मिलित नियंत्रण में था, २२ फ़रवरी को विद्रोहियों की विजय हुई। उन्होंने वहां एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की, जिसने एक घोषणापत्र जारी कर सामंती प्रभुओं के लिए की जानेवाली अनिवार्य सेवायें रद्द कर दीं। मार्च १८४६ में क्रैको विद्रोह कुचल दिया गया। नवंबर १८४८ में आस्ट्रिया, प्रशा तथा रूस के बीच एक संधि हुई, जिसके अनुसार क्रैको आस्ट्रियाई साम्राज्य में शामिल कर दिया गया।—पृ० ८२

26 इस कृति को प्रकाशन के लिए तैयार करने में मार्क्स ने अपने सामने पूंजीवादी समाज में वर्ग-संघर्ष के लिए भौतिक आधार प्रस्तुत करने वाले आर्थिक संबंधों की एक सहज बोधगम्य रूप-रेखा देने का लक्ष्य रखा था। उनका उद्देश्य सर्वहारा को एक सैद्धांतिक अस्त्र प्रदान करना था, इस बात की गहरी समझ देना था कि पूंजीवादी समाज में पूंजीपति वर्ग के वर्ग शासन का आधार मज़दूरों का उजरती श्रम है। अतिरिक्त मूल्य के अपने सिद्धांत के आधार-तत्त्वों को विकसित करते हुए, मार्क्स ने पूंजीवाद के अंतर्गत मज़दूर वर्ग के निरपेक्ष तथा सापेक्ष दरिद्रीकरण की एक सामान्य प्रस्थापना को सूत्रबद्ध किया।

इस पुस्तक का प्रस्तुत संस्करण एंगेल्स द्वारा संपादित १८९१ के संस्करण के मूलपाठ के अनुसार तैयार किया गया है।—पृ० ८४

27 «*Neue Rheinische Zeitung. Organ der Demokratie*» ('नया राइनी समाचारपत्र। जनवाद का मुखपत्र')—एक दैनिक समाचारपत्र जो कोलोन से १ जून १८४८ से १९ मई १८४९ तक निकलता रहा। मार्क्स इसके प्रधान संपादक थे और एंगेल्स संपादक-मंडल के सदस्य।—पृ० ८४

28 जर्मन मज़दूर समाज—मार्क्स और एंगेल्स ने अगस्त १८४७ के अंत में ब्रसेल्स में इस समाज की स्थापना की ताकि बेल्जियम में रहने वाले जर्मन मज़दूरों की राजनीतिक चेतना का विकास किया जा सके और उनके बीच वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के विचारों को फैलाया जा सके। मार्क्स तथा एंगेल्स और उनके सहयोगियों द्वारा निर्देशित यह समाज बेल्जियम में क्रांतिकारी जर्मन मज़दूरों को एकजुट करने वाला एक क़ानूनी केंद्र बन गया। समाज के प्रमुख सदस्य कम्युनिस्ट लीग की ब्रसेल्स शाखा के भी सदस्य थे। फ़्रांस में फ़रवरी १८४८ की पूंजीवादी क्रांति के थोड़े दिनों के बाद ही, बेल्जियम की पुलिस द्वारा जर्मन मज़दूर समाज के सदस्यों की गिरफ़्तारियों तथा देश निकाले के कारण समाज का काम ठप हो गया।—पृ० ८४

29 यहां संकेत हंगरी में १८४९ में ज़ारशाही सेना के हस्तक्षेप की ओर है, जिसका उद्देश्य हंगरी की पूंजीवादी क्रांति को कुचल देना तथा आस्ट्रिया के हैब्सबर्ग राजवंश के शासन को पुनःस्थापित करना था।—पृ० ८४

30 यहां इशारा जर्मनी के उन जन-विद्रोहों की ओर है जो मई-जुलाई १८४९ में शाही संविधान (२८ मार्च १८४९ को फ़्रैंकफ़ुर्ट की राष्ट्रीय सभा द्वारा स्वीकृत, पर अन्य कई जर्मन राज्यों द्वारा अस्वीकृत) के समर्थन में हुए थे। ये विद्रोह स्वतःस्फूर्त थे और विद्रोहियों में एकता न थी, इसलिए मध्य जुलाई १८४९ तक उन्हें कुचल दिया गया।—पृ० ८४

31 कालांतर में मार्क्स के काग़ज़ात में एक हस्तलेख मिला जिसमें 'मज़दूरी' शीर्षक से उजरती श्रम और पूंजी के विषय पर एक उपसंहारात्मक व्याख्यान-माला की स्थूल रूप-रेखा दी हुई है और आवरण-पृष्ठ पर एक टीप है: "ब्रसेल्स, दिसंबर १८४७"। विषय की दृष्टि से यह पाण्डुलिपि कुछ हद तक मार्क्स की अधूरी रचना, 'मज़दूरी और पूंजी' का ही आगे का क्रम मालूम होती है। परंतु इस रचना के प्रकाशनार्थ प्रस्तुत अंतिम अध्याय मार्क्स के काग़ज़ात में कभी नहीं पाये गये।—पृ० ८४

[32] मार्क्स ने 'पूंजी' में लिखा: "शास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्र से मेरा मतलब उस अर्थशास्त्र से है जो डब्ल्यू० पेटी के समय से पूंजीवादी समाज में उत्पादन के वास्तविक सम्बन्धों की खोजबीन करता रहा है।" ब्रिटेन में ऐडम स्मिथ तथा डेविड रिकार्डो शास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्र के सर्वप्रमुख प्रतिनिधियों में थे।—पृ० ८६

[33] 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' में एंगेल्स लिखते हैं: "यद्यपि राजनीतिक अर्थशास्त्र ने सबसे पहले १७वीं शताब्दी के अंत में थोड़े से प्रतिभाशाली व्यक्तियों के मस्तिष्क में आकार ग्रहण किया, तथापि अपने संकीर्ण अर्थ में, फ़ीज़ियोक्रैटों तथा ऐडम स्मिथ द्वारा निश्चयात्मक निरूपण में वह सारतः १८वीं शताब्दी की उपज है..."—पृ० ८६

[34] एंगेल्स का इशारा १८९१ के मई दिवस समारोह की ओर है। कुछ देशों (ब्रिटेन और जर्मनी) में मई दिवस १ मई के बाद पहले रविवार को मनाया गया, जो १८९१ में ३ मई को पड़ता था।—पृ० ९४

[35] यहां इशारा प्रशा में १८४८ की मार्च क्रांति की ओर है।—पृ० ९५

[36] एक सप्ताह के घोर संघर्ष के बाद १ नवंबर १८४८ को आस्ट्रिया की शाही फ़ौज ने वियेना के जन-विद्रोह को कुचल दिया और शहर पर क़ब्ज़ा कर लिया।

नवंबर और दिसंबर १८४८ में प्रशा में प्रतिक्रियावादियों ने राज्य-पर्युत्क्षेपण किया। १ नवंबर को खुल्लमखुल्ला प्रतिक्रांतिकारी सरकार सत्तारूढ़ हुई। ९ नवंबर को प्रशा की राष्ट्रीय सभा को बर्लिन से स्थानांतरित कर दिया गया और उसका अधिवेशन ब्राण्डनबुर्ग में होने लगा। विधान सभा का बहुमत बर्लिन में ही अपना अधिवेशन करता रहा, जिसे १५ नवंबर को सैनिकों ने बलपूर्वक भंग कर दिया। राज्य-पर्युत्क्षेपण की परिणति ५ दिसंबर को विधान सभा के विसर्जन तथा एक प्रतिक्रियावादी संविधान की घोषणा में हुई।—पृ० ९५

[37] यहां मार्क्स का इशारा राष्ट्रीय आज़ादी के उन विद्रोहों की ओर है जो १८४८ तथा १८४९ में हंगरी, इटली तथा पोलैंड में भड़क उठीं।—पृ० ९५

[38] यहां उस पुराण-कथा का संकेत है जिसके अनुसार फ़्राईगिया के बादशाह गोर्डियस ने रथ के बम के साथ जुआ बांधकर उसमें पेचीदा गुत्थी डाल

दी। फिर यह आकाशवाणी हुई कि जो इस गुत्थी को सुलझायेगा वह एशिया का शासक बनेगा। सिकंदर महान् ने गुत्थी को खोलने की कोशिश न कर उसे अपनी तलवार से काट डाला।—पृ० १०३

39 फ़्रांस में १८४८ से १८५१ तक के काल में हुई क्रांतिकारी घटनाओं के मूर्त विश्लेषण के आधार पर लिखित यह कृति मार्क्स की सबसे महत्त्वपूर्ण कृतियों में है। इसमें मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सभी बुनियादी उसूलों—वर्ग-संघर्ष तथा सर्वहारा क्रांति, राज्य तथा सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धांतों—का और आगे विशदीकरण किया। इस कृति में पूंजीवादी राज्य के प्रति सर्वहारा के दृष्टिकोण के प्रश्न के बारे में मार्क्स ने जिस निष्कर्ष को स्थापित किया उसका बहुत अधिक महत्त्व है। राज्य रूपी मशीन के प्रसंग में उन्होंने लिखा, "सभी क्रांतियों ने इस यंत्र को चकनाचूर करने के बदले इसे सर्वांगपूर्ण बनाया..." (प्रस्तुत खंड, पृ० २४२)। लेनिन ने कहा कि राज्य के बारे में मार्क्सवादी शिक्षा की यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना है।

'लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर' में मार्क्स ने आसन्न क्रांति में मज़दूर वर्ग के संभाव्य संघाती के रूप में किसानों के प्रश्न का और आगे विश्लेषण किया, सामाजिक जीवन में राजनीतिक पार्टियों की भूमिका की रूप-रेखा प्रस्तुत की तथा बोनापार्तशाही को सारभूत विशेषताओं की असलियत उघाड़कर सामने रख दी।—पृ० १३०

40 फ़्रांस में २ **दिसंबर** १८५१ को लूई बोनापार्त तथा उसके अनुयायिओं ने प्रतिक्रांतिकारी राज्य-पर्युत्क्षेपण कर सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया।—पृ० १३०

41 **रेनासांस** (पुनर्जागृति) —पश्चिमी तथा मध्य यूरोप के कतिपय देशों में पूंजीवादी संबंधों के आविर्भाव की प्रेरणा से होनेवाले सांस्कृतिक तथा सैद्धांतिक विकास का युग, जो १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर १६ वीं शताब्दी तक चला। साधारणतः इस युग में साहित्य, कला और विज्ञान का सामान्यतः द्रुत विकास हुआ और यूनान तथा रोम की क्लासिकीय संस्कृति का पुनः अनुशीलन होने लगा (इसलिए इसे पुनर्जागृति काल की संज्ञा दी गयी)। एंगेल्स द्वारा पुनर्जागृति काल की विवेचना के लिए देखिये 'प्रकृति की द्वंद्वात्मक गति' की उनकी भूमिका (प्रस्तुत संकलन, भाग २)।—पृ० १३१

[42] फ़्रांस में द्वितीय जनतंत्र १८४८ से १८५२ तक क़ायम रहा। मार्क्स द्वारा इस काल की विवेचना के लिए देखिये, 'फ़्रांस में वर्ग-संघर्ष, १८४८–१८५०' तथा 'लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर'।—पृ० १३२

[43] **पर्वत-दल** (मान्तेन)—फ़्रांस में अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुई पूंजीवादी क्रांति के दौरान राष्ट्रीय सभा (कन्वेन्शन) का एक क्रांतिकारी-जनवादी दल।—पृ० १३३

[44] **ब्रूमेर**—फ़्रांस के जनतंत्रीय पंचांग का एक महीना।

अठारहवीं ब्रूमेर (९ नवंबर) १७९९ से वह राज्य-पर्युत्क्षेपण अभिप्रेत है जो इसी दिन घटित हुआ और जिसके फलस्वरूप नेपोलियन बोनापार्त की फ़ौजी तानाशाही क़ायम हुई। "अठारहवीं ब्रूमेर के दूसरे संस्करण" से मार्क्स का अभिप्राय २ दिसंबर १८५१ का राज्य-पर्युत्क्षेपण है।—पृ० १३३

[45] यहां इशारा इंगलैंड में सत्रहवीं शताब्दी की पूंजीवादी क्रांति की ओर है।—पृ० १३५

[46] इंजील का वह वृहत्तर भाग जिसमें मूसाई शरीअत का ज़िक्र है।—पृ० १३५

[47] **बेडलम**—लन्दन का एक पागलख़ाना।—पृ० १३६

[48] १० दिसंबर १८४८ को लूई बोनापार्त को जनमत-संग्रह द्वारा फ़्रांसीसी जनतंत्र का राष्ट्रपति चुना गया।—पृ० १३६

[49] यह फ़िक़रा इंजील की उस पुराण-कथा से लिया गया है, जिसके अनुसार मिस्र से इस्राइली निष्क्रमण के समय यात्रा की कठिनाइयों और भूख से आजिज़ आकर दुर्बल हृदय इस्राइल जेल के दिनों की आरज़ू करने लगे, जब उन्हें कम से कम पेट भर खाना तो मिलता था।—पृ० १३६

[50] **Hic Rhodus, hic salta!** (यहां रोड्स, कूदो यहां!)—ये शब्द ईसप की एक कथा से उद्धृत किये गये हैं। इस कथा में एक गपोड़िये का ज़िक्र है जिसने दावा किया कि उसने एक बार रोड्स में ज़बर्दस्त छलांग लगायी है, और इसके सबूत में वह गवाहों को पेश कर सकता है। उसे उत्तर मिला: "अगर यह सच है तो गवाहों को पेश करने की क्या ज़रूरत है—यहां रोड्स, कूदो यहां!" अर्थात् "यहीं दिखाओ, तुम क्या कर सकते हो!"

"यहां गुलाब, नाचो यहां!" उपरोक्त उद्धरण की यह व्याख्या (यूनानी भाषा में द्वीप विशेष का नाम रोड्स गुलाब के लिए भी प्रयुक्त

होता है) हेगेल द्वारा उनकी रचना «*Grundlinien der Philosophie des Rechts*» (‘न्याय-दर्शन के सिद्धांत’) की भूमिका में व्यवहृत की गयी है। – पृ० १३८

51 १८४८ के फ़्रांसीसी संविधान के अनुसार राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव हर चौथे साल मई महीने के दूसरे रविवार को होना था। मई १८५२ में लूई बोनापार्त का राष्ट्रपतित्व-काल समाप्त होता था। – पृ० १३८

52 **किलिग्रास्ट** (सहस्रवादी; यूनानी भाषा में “किलिग्रास” का अर्थ है सहस्र) – एक रहस्यवादी धार्मिक पंथ के प्रचारक। इस पंथ के अनुसार ईसा दूसरी बार अवतरित होंगे और पृथ्वी पर “सहस्र वर्षों का स्वर्ण-युग” स्थापित होगा, जब न्याय, सार्विक समानता तथा समृद्धि का बोलबाला होगा। – पृ० १३८

53 *In partibus infidelium* (शाब्दिक अर्थ – काफ़िरों के देश में) – ग़ैर-ईसाई देशों के डायोसिज़ अथवा बिशप के हलक़े में (जो केवल नाम मात्र के लिए डायोसिज़ होता था) नियुक्त किये जाने वाले कैथोलिक बिशप की उपाधि के साथ ये शब्द भी जुड़े होते थे। मार्क्स और एंगेल्स ने अपनी रचनाओं में, विदेशों में देश विशेष की वस्तुस्थिति का लिहाज़ किये बिना स्थापित की गयी प्रवासी सरकारों के लिए, अक्सर इस फ़िक़रे का इस्तेमाल किया है। – पृ० १३९

54 **कैपिटोल** – रोम की एक पहाड़ी पर बना जुपिटर देवता का मंदिर जो दुर्ग भी था। कहते हैं कि ३९० ई० पू० में गालों के आक्रमण के समय रोम अगर बच सका तो इसी लिए कि मंदिर की बत्तख़ों की कुड़-कुड़ ने कैपिटोल के पहरेदारों को जगा दिया था। – पृ० १३९

55 इशारा फ़्रांस के तथाकथित “**अफ़्रीकी**” या “**अलजीरियाई**” जनरलों और अफ़सरों की ओर है जिन्हें अपनी आज़ादी के लिए लड़ने वाले अलजीरियाई क़बीलों के ख़िलाफ़ फ़्रांस के औपनिवेशिक युद्धों में सैनिक “यश” प्राप्त हुआ था। राष्ट्रीय विधान सभा में “अफ़्रीकी” जनरल कैवेन्याक, लामारिसियेर और बीदो ज़नतंत्रवादियों के नेता थे। – पृ० १३९

56 **राजवंशीय विरोधपक्ष** – जुलाई राजतंत्र काल में फ़्रांस के प्रतिनिधि-सदन का एक दल, जिसका नेता ओदिलां बारो था। इस दल के प्रतिनिधि उदार औद्योगिक तथा वाणिज्यिक पूंजीपति वर्ग की भावनाओं को व्यक्त करते

थे और चुनाव-क़ानून में मामूली सुधारों की नरम नीति का समर्थन करते थे, ताकि क्रांति को रोका तथा आर्लियां राजवंश के शासन को क़ायम रखा जा सके।–पृ० १४०

57 जुलाई का राजतंत्र–लूई फ़िलिप का शासन काल (१८३०–१८४८), जिसे जुलाई क्रांति के कारण जुलाई का राजतंत्र कहा गया।–पृ० १४१

58 १५ मई १८४८ को पेरिस में जन-प्रदर्शन के दौरान प्रदर्शनकारी मज़दूर तथा दस्तकार उस भवन में घुस गये, जहां संविधान सभा का अधिवेशन चल रहा था; उन्होंने सभा को विसर्जित कर दिया और एक क्रांतिकारी सरकार की स्थापना की। लेकिन जल्द ही संविधान सभा के सहायतार्थ आये राष्ट्रीय गार्ड तथा सैनिकों ने प्रदर्शनकारियों को तितर-बितर कर दिया। मज़दूरों के नेता (ब्लांकी, बार्बे, अल्बेर, रास्पैल आदि) गिरफ़्तार कर लिये गये।–पृ० १४२

59 गश्ती गार्ड–क्रांतिकारी जनता का विरोध करने के लिए अस्थायी सरकार द्वारा २५ फ़रवरी १८४८ को क़ायम किया गया। इसमें मुख्यतया लंपट-सर्वहारा शामिल थे; इस गार्ड का जून विद्रोह को दबाने के लिए इस्तेमाल किया गया।–पृ० १४२

60 रोमन इतिहासकार यूसेबियस के अनुसार, सन् ३१२ ई० में सम्राट कान्सटैन्टिन ने अपने प्रतिद्वंदी माक्सेंटियस पर विजय के पूर्व आकाश में सलीब का निशान देखा, जिस पर ये शब्द अंकित थे–"यह सलीब तुमको जितायेगा!"–पृ० १४४

61 पिथिया–यूनानी शकुनदेवी, डेल्फ़ी में अपोलो के मंदिर की पुजारिन, जिसके बारे में कहा जाता है कि वह एक विशेष तिपाई से भविष्यवाणी करती थी।–पृ० १४४

62 *«Le National»* ('राष्ट्रीय पत्न')–पेरिस से १८३० से १८५१ तक निकलने वाला एक फ़्रांसीसी दैनिक जो नरम पूंजीवादी जनतंत्रवादियों का मुखपत्र था। अस्थायी सरकार में इनके मुख्य प्रतिनिधि मारास्त, बास्तीद, गार्नियें-पाजे थे।–पृ० १४५

63 *«Journal des Débats politiques et littéraires»* ('राजनीतिक तथा साहित्यिक बहस-मुबाहिसे का समाचारपत्न')–एक फ़्रांसीसी पूंजीवादी

दैनिक, जो १७८९ में पेरिस से निकाला गया। जुलाई राजतंत्र के समय यह दैनिक सरकारी अख़बार तथा पूंजीपति वर्ग के उस भाग का मुखपत्र बन गया जो आर्लियां राजवंश का समर्थक था। १८४८ की क्रांति के दौरान यह समाचारपत्र ने प्रतिक्रांतिकारी पूंजिपति वर्ग के, तथाकथित अमन की पार्टी के विचारों को व्यक्त करता था।–पृ० १४५

64 यहां इशारा उन संधियों की ओर है जिन्हें नेपोलियनाई युद्धों में भाग लेने वाले देशों ने वियेना में मई और जून १८१५ में संपन्न किया। १८१४–१८१५ की वियेना कांग्रेस ने फ़्रांस को १७९२ की सीमाओं को पुनःस्थापित किया और उस पर अन्य राज्यों का कठोर नियंत्रण लागू किया। फ़्रांस द्वारा यूरोप में किसी प्रकार के प्रादेशिक संयोजन करने पर रोक लगा दी गई।–पृ० १४६

65 फ़्रांस में १८३० की पूंजीवादी क्रांति के बाद जो **संविधानी चार्टर** स्वीकृत किया गया, वही जुलाई राजतंत्र का बुनियादी क़ानून था। चार्टर ने राष्ट्र की प्रभुसत्ता की औपचारिक रूप से घोषणा की और राजसत्ता पर कुछ प्रतिबंध लगा दिये।–पृ० १४७

66 Champs Elysées–पेरिस का राजमार्ग जिस पर एलीज़े प्रासाद स्थित है। १८४८ के संविधान के अनुसार यह प्रासाद ही जनतंत्र के राष्ट्रपति का सरकारी आवास था। यहां पर मार्क्स ने इस राजमार्ग के नाम तथा क्लासिकीय पुराण-कथाओं के स्वर्गलोक के नाम की समानता पर व्यंग्य किया है।–पृ० १५०

67 **क्लीशी**–१८२६ से १८६७ तक पेरिस में क़र्ज़दारों का क़ैदख़ाना।–पृ० १५१

68 फ़्रांसीसी जनतंत्र की स्थापना के तुरन्त बाद यह सवाल उठा कि फ़्रांस का राष्ट्रीय झंडा क्या होगा। पेरिस के क्रांतिकारी मज़दूरों ने मांग की कि पेरिस के उप-नगर के मज़दूरों ने १८३२ के जून विद्रोह में जो लाल झंडा बुलंद किया था वही राष्ट्रीय पताका बनाया जाये, परंतु पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों ने तिरंगे (नीला, सफ़ेद और लाल) झंडे के लिए आग्रह किया। १८वीं शताब्दी के अंतिम चरण की पूंजीवादी क्रांति के दौरान तथा नेपोलियन प्रथम के राज्यकाल में तिरंगा झंडा ही फ़्रांस का राष्ट्रीय झंडा रहा था। १८४८ की क्रांति के पहले भी *«Le National»* का

समर्थन करने वाले पूंजीवादी जनतंत्रवादी तिरंगे को ही अपना झंडा मानते थे। मज़दूरों के प्रतिनिधियों को यह मानना पड़ा कि तिरंगा ही जनतंत्र का राष्ट्रीय झंडा हो, परंतु उनके आग्रह से ध्वजदंड पर एक लाल गुलाब के आकार का फुंदना लगा दिया गया।—पृ० १५२

69 **प्रीटोरियन** —प्राचीन रोम में सेनापति अथवा सम्राट के अंगरक्षक जिन्हें अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। ये लोग आंतरिक उपद्रवों में बराबर हिस्सा लेते थे और अक्सर अपने सरपरस्तों को गद्दी पर बैठाते थे। यहां इशारा १० दिसम्बर-समाज की ओर है।—पृ० १५४

70 मई १८४९ से लेकर जुलाई १८४९ तक आस्ट्रिया के साथ मिलकर नियापोलिटन बादशाही ने रोम के जनतंत्र के ख़िलाफ़ हस्तक्षेप में भाग लिया।—पृ० १५४

71 यहां मार्क्स का इशारा लूई बोनापार्त के जीवन की निम्नलिखित घटनाओं की ओर है: १८३२ में लूई बोनापार्त ठुरगाऊ ज़िले के निवासी के रूप में स्विस नागरिक बन गया; १८४८ में ब्रिटेन में अपने प्रवास काल में, वह स्वेच्छा से विशेष पुलिस दल में (ब्रिटेन में पुलिस की रिज़र्व टुकड़ियां असैनिक नागरिकों को लेकर बनाई जाती थीं) शामिल हो गया।—पृ० १५४

72 **आर्लियानिस्ट**—आर्लियां राजवंश के समर्थक। यह राजवंश बूर्बों राजवंश की एक शाखा था, जो १८३० की जुलाई क्रांति में सत्तारूढ़ हुआ और १८४८ की क्रांति द्वारा सत्ताच्युत। आर्लियानिस्ट वित्तीय महाप्रभुओं तथा बड़े पूंजीपतियों के हितों की हिमायत करते थे।—पृ० १५५

73 **अमन की पार्टी**—१८४८ में स्थापित बड़े-बड़े, दक़ियानूसी, पूंजीपतियों की पार्टी, जो फ़्रांस के दोनों राजतंत्रीय गुटों—लेजिटिमिस्टों तथा आर्लियानिस्टों—की संयुक्त पार्टी थी। १८४९ से २ दिसम्बर १८५१ के राज्य-पर्युत्क्षेपण तक द्वितीय जनतंत्र की विधान सभा में उसकी मूर्द्धन्य स्थिति बनी रही।—पृ० १५५

74 **कालीगुला**—रोमन सम्राट (सन् ३७—४१ ई०) जिसे प्रीटोरियन रक्षकों ने गद्दी पर बैठाया था।—पृ० १५८

75 फ़्रांसीसी सरकार ने इटली में अभियान-दल भेजने का ख़र्च उठाने के लिए संविधान सभा को मनवा लिया। यह अभियान दल आस्ट्रिया के विरुद्ध

प्येमां का समर्थन तथा रोमन जनतंत्र की रक्षा के बहाने में अप्रैल १८४६ में इटली भेजा गया। परन्तु वास्तव में इसका अर्थ था रोमन जनतन्त्र का गला घोंटना और पोप की लौकिक सत्ता पुनःस्थापित करना था। – पृ० १५६

76 *«Le Moniteur universel»* ('सामान्य पर्चा') – फ़्रांसीसी दैनिक, सरकार का आधिकारिक मुखपत्र, जो पेरिस से १७८६ से १६०१ तक निकलता रहा। इसमें सभी सरकारी क़ानून, संसद की कार्यवाहियों का विवरण तथा दूसरी सरकारी दस्तावेज़ें प्रकाशित होती थीं। – पृ० १५६

77 विधान सभा के **केस्टर्स** – यह नाम (प्राचीन रोम के केस्टरों के दृष्टांत का अनुसरण करते हुए) हर ऐसे प्रतिनिधि को दिया जाता था जो विधान सभा द्वारा आर्थिक तथा वित्तीय मामलों की देखरेख करने तथा सभा की सुरक्षा की हिफ़ाज़त करने के अक्षुण्ण रखने के लिए अधिकृत होता था। यहां इशारा उस विधेयक की ओर है जिसे ६ नवंबर १८५१ को लेफ़्लो, वाज़ और पना नामक राजतंत्रवादी केस्टरों ने पेश किया था और जिसके द्वारा राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष को सीधे-सीधे सेना को बुलाने का अधिकार प्राप्त होता था। सभा ने गर्मागर्म बहस के बाद १७ नवम्बर को इस विधेयक को अस्वीकार कर दिया। – पृ० १५६

78 **संविधानवादी** – वैधानिक राजतंत्र के समर्थक। ये लोग राजा के साथ घनिष्ठ रूप से संबद्ध बड़े पूंजीपति वर्ग तथा उदार अभिजात वर्ग के प्रतिनिधि थे।

जीरांद – १८वीं सदी के उत्तरार्द्ध की फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रांति के समय का एक पूंजीवादी राजनीतिक दल। ये लोग नरम पूंजीपति वर्ग के हितों को अभिव्यक्त करते थे, क्रांतिकारी तथा प्रतिक्रांतिकारी शक्तियों के बीच डांवांडोल रहते थे और राजतंत्रवादियों के साथ समझौते की नीति पर चलते थे। इन्हें जीरांद ज़िले के नाम पर कहते थे; विधान सभा तथा राष्ट्रीय कन्वेन्शन में इस ज़िले के प्रतिनिधि इस नरम दल के नेता थे।

जैकोबिन – १८वीं शताब्दी के अंत में हुई फ़्रांस की पूंजीवादी क्रांति के समय का एक वामपंथी पूंजीवादी राजनीतिक दल; वे सामंतवाद तथा निरंकुश शासन के उन्मूलन की आवश्यकता का दृढ़ तथा सुसंगत रूप से समर्थन करते थे। – पृ० १६०

79 १६ अप्रैल १८४८ के दिन पेरिस के मज़दूरों के एक शांतिपूर्ण प्रदर्शन को, जिसे "श्रम के संगठन" तथा "मानव द्वारा मानव के शोषण के उन्मूलन" के बारे में अस्थायी सरकार को एक अर्ज़ी देने के उद्देश्य से संगठित किया गया था, पूंजीवादी राष्ट्रीय गार्ड की टुकड़ियों ने, जिन्हें इसी प्रयोजन से बुलाया गया था, तितर-बितर कर दिया।—पृ० १६०

80 **फ़्रान्द**—फ़्रांस के अभिजात वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग के बीच निरंकुश सत्ता के विरुद्ध एक आंदोलन, जो १६४८ से १६५३ के बीच सक्रिय रहा। इस आंदोलन के अभिजातवर्गीय नेता अपने अनुचरों तथा विदेशी सैनिकों के समर्थन पर निर्भर रहते थे और अपने उद्देश्यों को अग्रसर करने के लिए किसान-विद्रोहों तथा शहरों के जनवादी आंदोलन का इस्तेमाल करते थे।—पृ० १६१

81 **फ़्रीजियन टोपी**—प्राचीन फ़्रीजियनों द्वारा पहनी जाने वाली एक लाल रंग की टोपी; बाद में १८वीं शताब्दी के अंत में हुई फ़्रांस की पूंजीवादी क्रांति के दौरान, इसी टोपी के नमूने पर जैकोबिन टोपी बनी। तब से यह टोपी स्वतंत्रता का एक प्रतीक बन गई।—पृ० १६२

82 **लिली**—बूर्बों राजवंश का एक राजवंशीय चिह्न।—पृ० १६४

83 **टोरी**—इंगलैंड की एक राजनीतिक पार्टी जिसकी स्थापना १७वीं शताब्दी के अंत में की गई थी। यह पार्टी अभिजातवर्गीय सामंतों तथा चर्च के उच्चाधिकारियों के हितों के लिए लड़ती थी, पुरानी सामन्ती परम्पराओं का समर्थन करती थी और उदारतावादी तथा प्रगतिशील मांगों का विरोध करती थी। १९वीं शताब्दी के मध्य काल में इसी पार्टी से कंज़रवेटिव पार्टी का विकास हुआ।—पृ० १६६

84 **एम्स**—पश्चिमी जर्मनी का एक नगर जहां शाम्बोर के काउंट का एक स्थायी आवास था। बूर्बों राजवंश की एक शाखा का वंशज यह काउंट फ़्रांस के तख़्त का दावेदार था और अपने को आंरी पंचम कहा करता था।

क्लेरमां—लन्दन के निकट एक दुर्ग जहां १८४८ की फ़रवरी क्रांति के बाद फ़्रांस से पलायन करने पर लूई फ़िलिप रहा करता था।—पृ० १६६

85 **जेरिको**—इंजील की पुराण-कथा के अनुसार, फ़िलस्तीन आने पर इस्राइलों द्वारा अधिकृत पहला शहर, जिसकी दीवारें घेरा डालने वालों की तुरहियों के तुमुल स्वर से ढह पड़ी थीं।—पृ० १७१

86 यहां इशारा लूई बोनापार्त की योजनाओं की ओर है। उसे आशा थी कि पोप पियस नवें उसे फ़्रांस के राजसिंहासन पर बैठायेंगे, फ़्रांस का सम्राट बनायेंगे। इंजील के अनुसार इस्राइल के राजा डेविड का राज्याभिषेक सैमुएल नबी के हाथों संपन्न हुआ था।–पृ० १७५

87 २ दिसम्बर १८०५ को (मुराविया में) आस्टरलित्ज़ की लड़ाई में रूसी-आस्ट्रियाई सेनाओं पर नेपोलियन प्रथम की विजय हुई थी।–पृ० १७५

88 यहां इशारा १८३० की जुलाई क्रांति की तरफ़ है।–पृ० १७६

89 इशारा लूई बोनापार्त की पुस्तक «*Des idées napoléoniennes*» ('नेपोलियन के विचार') की ओर है, जो १८३९ में पेरिस में प्रकाशित हुई थी।–पृ० १८१

90 बुर्गग्राफ़ नाम १७ प्रमुख आर्लियानिस्टों तथा लेजिटिमिस्टों को दिया गया था, जो एक नये चुनाव क़ानून का मसविदा तैयार करने के लिए नियुक्त विधान सभा के आयोग के सदस्य थे। उन्हें यह नाम, जो विक्तोर ह्यूगो के एक ऐतिहासिक नाटक के शीर्षक से लिया गया था, सत्ता के उनके अनाधिकारपूर्ण दावों तथा उनकी प्रतिक्रियावादी आकांक्षाओं के कारण दिया गया था। नाटक की घटनायें मध्ययुगीन जर्मनी में होती हैं, जहां बुर्गग्राफ़ सम्राट द्वारा नियुक्त एक "बुर्ग" (क़िलाबंद शहर या दुर्ग) के शासक की उपाधि होती थी।–पृ० १८७

91 जुलाई १८५० में विधान सभा द्वारा स्वीकृत प्रेस क़ानून ने समाचारपत्र प्रकाशकों द्वारा देय प्रतिभूति की रक़म बढ़ा दी थी और पैम्फ़लेटों के प्रकाशन पर भी फ़ीस रसूम लागू कर दिया था।–पृ० १८९

92 «*La Presse*» ('प्रेस')–पेरिस से १८३६ से निकलने वाला एक दैनिक जो जुलाई राजतंत्र के काल में विरोध-पक्ष के हाथ में था; १८४८ और १८४९ में वह पूंजीवादी जनतंत्रवादियों का मुखपत्र था; बाद में वह बोनापार्तपंथी अख़बार बन गया।–पृ० १८९

93 Lazzaroni – इटली में वर्गभ्रष्ट लंपट-सर्वहारा को दिया गया एक लक़ब जिसे प्रतिक्रियावादी राजतंत्रवादी गुट उदारतावादी तथा जनवादी आन्दोलनों के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष में बार-बार खींच लाते थे।–पृ० १९३

94 यहां इशारा लूई बोनापार्त के जीवन की निम्नलिखित दो घटनाओं की ओर है: ३० अक्तूबर १८३६ को दो बख़्तरबंद रेजीमेंटों की सहायता से

उसने स्ट्रासबुर्ग में बग़ावत भड़काने की कोशिश की, मगर बाग़ियों को निहत्था कर दिया गया और लूई बोनापार्त को गिरफ़्तार करके अमरीका निर्वासित कर दिया गया। ६ अगस्त १८४० को उसने फिर बूलोन की स्थानीय गैरिसन के सिपाहियों में बग़ावत भड़काने की कोशिश की। यह कोशिश भी नाकामयाब रही। उसे आजीवन कारावास का दंड दिया गया, परंतु १८४६ में वह भाग कर इंगलैंड चला गया।—पृ० १६४

95 **एलीज़े समाचारपत्र**—बोनापार्ती प्रवृत्ति रखने वाले समाचारपत्र जिन्हें राष्ट्रपतित्व काल में लूई बोनापार्त के निवास स्थान, एलीज़े प्रासाद, के नाम पर एलीज़े समाचारपत्र कहा जाता था।—पृ० १६७

96 अपनी श्लेषोक्ति के लिए मार्क्स ने यहां शिलर की कविता 'आनन्द-गीत' की एक पंक्ति उद्धृत की है; कवि ने इस कविता में ख़ुशी का स्तुतिगान करते हुए उसे "एलीज़ियम की पुत्री" कहा है। क्लासिकीय पुराण-कथाओं में एलीज़ियम स्वर्ग का ही नाम है। पेरिस के जिस राजमार्ग पर लूई बोनापार्त का निवास स्थान था, उसे भी चैम्प्स एलीज़े कहते थे।—पृ० २०३

97 फ़्रांस में १७८९ की पूंजीवादी क्रांति के पहले पार्लमेंटें ही सर्वोच्च न्यायांग थीं; वे शाही आज्ञप्तियों की रजिस्ट्री करती थीं और उन्हें प्रतिवाद का, अर्थात् देश के दस्तूरों और क़ानूनों का उल्लंघन करने वाली आज्ञप्तियों के प्रति प्रतिवाद करने का अधिकार प्राप्त था।—पृ० २०८

98 **बेल-ईल**—बिसके की खाड़ी में एक द्वीप, जहां राजनीतिक बंदियों को नज़रबंद रखा जाता था।—पृ० २११

99 यहां मार्क्स ने यूनानी लेखक एथेनियस (२—३ शताब्दी ई०) की पुस्तक *«Deipnosophistae»* ('खाने की मेज़ पर दर्शन छांटने वाले दार्शनिक') की एक कहानी का रूपांतर प्रस्तुतं किया है। इस कहानी के अनुसार जब स्पार्टा का राजा अगेसिलौस अपनी सेना को लेकर मिस्र के बादशाह ताकोस की मदद के लिए आया तब उसने स्पार्टा नरेश के नाटे क़द की ओर इशारा करते हुए कहा: "पर्वतमाला प्रसव वेदना से छटपटा रही थी, ज़ीयस देवता घबरा उठे परंतु निकला क्या—एक चूहा!" इस पर अगेसिलौस ने कहा: "इस समय मैं आपको चूहा नज़र आ रहा हूं, मगर वक़्त आयेगा जब मैं शेर जान पड़ जाऊंगा।"—पृ० २१३

100 «*L'Assemblée nationale*» ('राष्ट्रीय सभा') — एक फ़्रांसीसी दैनिक समाचारपत्न जो राजतंत्रवादी-वैधतावादी प्रवृत्ति रखता था और पेरिस से १८४८ से १८५७ तक निकलता रहा। १८४८ और १८५१ के बीच उसने दोनों राजवंशीय पार्टियों — लेजिटिमिस्टों तथा ओर्लियानिस्टों के विलयन का समर्थन किया। — पृ० २१७

101 १६ वीं शताव्दी के छठे दशक में फ़्रांसीसी राजसिंहासन का लेजिटिमिस्ट दावेदार शाम्वोर का काउंट वेनिस में रहा करता था। — पृ० २१७

102 यहां इशारा १८१४ से १८३० तक के पुनःस्थापना काल में लेजिटिमिस्ट के शिविर में कार्यनीति सम्बन्धी मतभेद की ओर है। लूई अठारहवें के समर्थक विलेल का मत था कि प्रतिक्रियावादी क़दम को अधिक सावधानी से उठाने चाहिए जब कि काउंट द'आर्तुवा — १८२४ से सम्राट शार्ल दशम — के अनुयायी पोलिन्याक का मत था कि क्रांतिपूर्व की शासन-व्यवस्था बेशर्त पुनःस्थापित की जाये।

पेरिस में तूलरी प्रासाद लूई अठारहवें का निवास स्थान था; पुनःस्थापना काल में काउंट द'आर्तुवा इस प्रासाद के एक खंड, पैविलियन मार्सां में रहा करता था। — पृ० २१६

103 «*The Economist*» — ब्रिटेन का एक आर्थिक तथा राजनीतिक साप्ताहिक, औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का मुखपत्न, जो १८४३ से लन्दन में बराबर प्रकाशित होता रहा है। — पृ० २२२

104 पहली अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक-औद्योगिक प्रदर्शनी लन्दन में मई १८५१ से अक्तूबर १८५१ तक हुई थी। — पृ० २२७

105 «*Le Messager de l'Assemblée*» ('सभा का पर्चा') — फ़्रांसीसी बोनापार्त विरोधी दैनिक, जो पेरिस में १६ फ़रवरी १८५१ से २ दिसंबर १८५१ तक प्रकाशित होता रहा। — पृ० २३०

106 दीर्घ पार्लमेंट (१६४० — १६५३) — पूंजीवादी क्रांति के भड़कने पर राजा चार्ल्स प्रथम द्वारा बुलायी गयी इंगलैंड की पार्लमेंट, जो उसका संविधान-निकाय बन गयी। १६४६ में पार्लमेंट ने चार्ल्स प्रथम को मृत्यु-दंड दिया और जनतंत्र की घोषणा की। १६५३ में क्रॉमवेल ने उसे भंग कर दिया। — पृ० २३४

107 **सेवेन** – फ़्रांस में लांगेदोक प्रांत का एक पहाड़ी इलाक़ा जहां १७०२ से १७०५ तक किसानों का विद्रोह चलता रहा। यह विद्रोह प्रोटेस्टेंट मतानुयायिश्रों के उत्पीड़न के प्रति प्रतिवाद के रूप में शुरू हुग्रा, पर शीघ्र ही उसने प्रगट सामंतविरोधी चरित्र ग्रहण कर लिया।

इशारा **वांदेय** (फ़्रांस का एक पश्चिमी प्रांत) में हुए प्रतिक्रांतिकारी विद्रोह की ग्रोर है, जिसे फ़्रांसीसी राजतंत्रवादियों ने १७९३ में भड़काया था। इन लोगों ने फ़्रांसीसी क्रांति के ख़िलाफ़ ग्रपने संघर्ष में किसानों को एक साधन के रूप में इस्तेमाल किया। – पृ० २४५

108 **राष्ट्रीय कन्वेन्शन** – १८वीं शताब्दी के ग्रंत में हुई पूंजीवादी क्रांति के दौरान फ़्रांस का सर्वोच्च प्रतिनिधि-निकाय, जो सितंबर १७९२ से ग्रक्तूबर १७९५ तक क़ायम रहा। जब क्रांति उभार पर थी, कन्वेन्शन ने प्रगतिशील नीति ग्रपनायी तथा क्रांति की उपलब्धियों को सुदृढ़ ग्राकार देने तथा समाज के सामंती ढांचे का उन्मूलन करने के लिए सचेष्ट फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग के हितों को व्यक्त किया। – पृ० २४६

109 **सिनाई पर्वत** – ग्ररब देश के सिनाई प्रायद्वीप की एक पर्वतमाला। इंजील के ग्रनुसार हज़रत मूसा को इसी पर्वत पर ईश्वर से वे पट्टियां मिलीं जिन पर दस ईश्वरीय ग्रादेश ग्रंकित थे। – पृ० २५१

110 **कोन्स्टैन्स की चर्च परिषद्** (१४१४ – १४१८) इसलिए बुलायी गयी थी कि धर्मसुधार-ग्रांदोलन के दौरान कैथोलिक चर्च की कमज़ोर पड़ी स्थिति मज़बूत की जा सके। परिषद् ने जान वाइक्लिफ़ ग्रौर जान हुस के सिद्धांतों की निंदा की ग्रौर सत्ता के लिए ग्रापस में झगड़ा करने वाले तीन पोपों की जगह एक धर्माध्यक्ष चुनकर कैथोलिक चर्च के साम्प्रदायिक विच्छेद दूर कर दिया। – पृ० २५१

111 यहां इशारा जर्मन समाजवाद ग्रथवा "सच्चे समाजवाद" की ग्रोर है। यह समाजवाद एक प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति था जो उन्नीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक में जर्मनी के मुख्यतः निम्न-पूंजीवादी बुद्धिजीवियों के बीच ख़ूब प्रचलित हुई। 'कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र' में मार्क्स ग्रौर एंगेल्स ने इस प्रवृत्ति का वर्णन किया है। – पृ० २५२

112 यहां इशारा फ़्रांस में फ़िलिप द'ग्रार्लियां की रीजेंसी की ग्रोर है, जो लुई पंद्रहवें के बाल्य काल में १७१५ से १७२३ तक क़ायम रही। – पृ० २५५

113 **त्रियेर का पवित्र परिधान**—एक "पवित्र" अवशेष (कहा जाता है कि यह वह वस्त्र था जो ईसा मसीह ने सलीब पर टंगने के समय पहन रखा था), जिसे पश्चिमी जर्मनी के प्राचीन नगर, त्रियेर, वड़े गिरजाघर में प्रदर्शित किया गया था। इसे देखने और अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए पीढ़ी दर पीढ़ी तीर्थयात्री आते रहे।—पृ० २५५

114 **वान्दोम स्तम्भ** १८०६ और १८१० के बीच पेरिस में नेपोलियन की जीतों के स्मारक के रूप में खड़ा किया गया था। इसे शत्रु-सेनाओं से छीनी तोपों के कांसे को गला कर ढाला गया था, और उसके शीर्ष पर नेपोलियन की मूर्त्ति स्थापित की गयी थी। १६ मई १८७१ को पेरिस कम्यून की आज्ञा से वान्दोम स्तम्भ गिरा दिया गया, परंतु १८७५ में प्रतिक्रियावादियों ने उसे पुनःस्थापित किया।—पृ० २५६

115 **'भारत में ब्रिटिश राज' और 'भारत में ब्रिटिश राज के भावी परिणाम'** नामक लेखों को जातीय-औपनिवेशिक प्रश्न पर मार्क्स की कृतियों में प्रमुख स्थान प्राप्त है। इन लेखों में मार्क्स ने भारत में, जिसकी प्राकृतिक समृद्धि और प्राचीनतम सभ्यता किसी को भी अचंभे में डाल सकती हैं, उस औपनिवेशिक प्रभुत्व की प्रणाली की लाक्षणिक विशेषताएं स्पष्ट कीं जो पूंजीवादी राज्यों ने एशिया के आर्थिक दृष्टि से पिछड़े राष्ट्रों पर लाद दी। भारत पर अंग्रेज़ों द्वारा अधिकार जमाने का सिलसिला वर्णित कर मार्क्स ने साथ ही यह भी दिखाया कि कैसे भारत की लूट और क़ब्ज़े स्वयं इंगलैंड में भू-स्वामियों तथा वित्तीय थैलीशाहों के लिए धन पाने और अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के स्रोत बनते गये। वह इस क्रांतिकारी निष्कर्ष पर पहुंचे कि भारत की आज़ादी इंगलैंड में सर्वहारा क्रान्ति अथवा उपनिवेशकारियों के विरुद्ध भारतीय जनता के स्वतंत्रता संघर्ष द्वारा ही प्राप्त की जा सकेगी।—पृ० २५७

नाम-निर्देशिका

म

साहित्यिक और पौराणिक पात्रों की सूची

ईसा मसीह (Jesus Christ) – ईसाई धर्म के पुराण-विश्रुत संस्थापक। – १३८।

एकिलीज़ (Achilles) (यूनानी पुराण)– त्रोय की घेराबंदी करनेवाले वीरों में सबसे साहसी वीर; होमर के महाकाव्य 'इलियड' का नायक; एकिलीज़ की दाहिनी एड़ी – उसके शरीर के एकमात्र भेद्य अंग – में तीर लगने से उसे सांघातिक चोट पहुंची। – १४६, १५१।

क्रापुलिन्स्की (Crapulinski) – जर्मन कवि हाइने की कविता, 'दो सूरमा' का नायक, एक दिवालिया ज़मींदार; दूसरी व्युत्पत्ति फ़्रांसीसी शब्द «crapule» से हुई है जिससे पेटूपन और शराबख़ोरी की व्यंजना होती है; दुष्ट, आलसी और निकम्मे आदमी के चरित्र का साकार रूप; मार्क्स ने इस नाम का प्रयोग लूई बोनापार्त के लिए किया है। –१४५।

क्रेवेल (Crevel) – फ़्रांसीसी उपन्यासकार बाल्ज़ाक के उपन्यास *«La Cousine Bette»* का एक पात्र, उच्छृंखल, धनलोलुप व्यक्ति। –२५५।

डेमोक्लेस (Damocles) (यूनानी पुराण)– सिराकुस के अत्याचारी राजा डीयोनिसियस (चौथी शताब्दी, ई० पू०) का एक राजसभासद। कहते हैं कि डीयोनिसियस ने उसे भोज के लिए आमंत्रित किया और उसे अपने सिंहासन पर, जिसके ऊपर एक बाल से लटकी नंगी तलवार झूल रही थी, बैठाया। प्रयोजन यह था कि डेमोक्लेस, जो डीयोनिसियस से ईर्ष्या करता था, मनुष्य के सुख की अनिश्चितता का अनुभव कर सके; लाक्षणिक अर्थ में – सिर के ऊपर बराबर मंडरानेवाला भारी ख़तरा। – १८५।

थीटिस (Thetis) (यूनानी पुराण)– समुद्र की देवी, एकिलीज़ की मां, जिसने एकिलीज़ को आगाह किया था कि त्रोय तट पर वह सबसे पहले न उतरे (क्योंकि मृत्यु त्रोय तट पर पहले पहल पैर रखने वाले आदमी की प्रतीक्षा कर रही थी)। – १५१।

निक बाटम (Nick Bottom) – शेक्सपियर के नाटक *«A Midsummer Night's Dream»* का एक पात्र। –१६४।

पॉल (Paul) (इंजील) – ईसाइयों के एक पैग़म्बर। – १३३।

बाक्कुस (Bacchus) – रोमन पुराण में वारुणी तथा विलास के देवता। – १६६।

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन इस पुस्तक के अनुवाद और डिज़ाइन सम्बन्धी आपके विचारों के लिए आपका अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। हमारा पता है:

प्रगति प्रकाशन,
२१, ज़ूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत संघ।